श्रीकृष्णामृतम् ।

व्रजभूमिनन्दग्रामनिवासि-परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्री १०८ मत्स्वामि-अमृतानन्दगिरिविरचितम् ।

तच्च तच्छिष्येण

हृषीकेशकैलासनिवासिना अच्युतयतिना

हृषीकेशकैलासाश्रमप्रतिष्ठापकपरमहंसपरिव्राजकाचार्य
श्री १०८ मत्स्वामिधनराजगिरिचरणसेवार्थं

मुम्बय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालये रामचंद्र येसू शेडगेद्वारा
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

प्रथमावृत्तिः २०००

संवत् १९७४, सन १९१७.

अमूल्यम्

एतद्ग्रन्थलब्धिस्थानम्-

इदं पुस्तकं हृषीकेशकैलासाश्रमे स्थापितमस्ति तच्च तदाश्रमाधिष्ठातृभिः अमूल्यं तदभिलाषुकेभ्यो देयम् ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge at the Nirnaya-Sagar Press, 23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Swami Achyutyati, Kailasashram, Ṛhishikesha, Dist. Dehradun.

अथ विज्ञापनम्—

महानुभाव परमसज्जन अनन्य हरिभक्तोंकी पवित्र सभामें विदित होवेकी, यद्यपि जीवपदके वाच्यअर्थको वेदमें "सहजौ सखायौ" इत्यादि वचनोंसें सखा तथा लक्ष्यअर्थकों "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यादि वाक्योंसें ब्रह्मरूप प्रतिपादन किया है, तथापि मायाकी आवरणरूप शक्तिसें अन्ध हुआ अपने साचे सखा परमेश्वर श्रीकृष्णमहाराजजीकों तथा अपने ब्रह्मस्वरूपकों भूलके विवेकाभाव तथा इन्द्रियोंकी बहिर्मुखतासें बाह्य मिथ्या दुःखरूप अनात्मपदार्थोंसें नित्यसुख तथा दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप पुरुपार्थकों चाहता हुआ संसारचक्रमें कर्मके अभिमानसें घटीयन्त्रकीन्यांई भ्रमता रहता है। श्रीकृष्णजीसें अनन्य प्रेमके विना जीवकों उक्तपुरुपार्थकी प्राप्तिद्वारा अत्यन्त तृप्तिका होना दुर्घट है। ब्रह्मविद्याके विना उक्तपुरुपार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वम्पदविचार, यह आठ ब्रह्मविद्याके अन्तरङ्गसाधन वेदान्तशास्त्रमें कहे हैं, तथापि "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इत्यादि वेदवाक्योंमें, तथा "तेषां नित्याभियुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्॥ ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादि श्रीभगवद्गीतावचनोंमें श्रीकृष्णमहाराजजीका प्रेमही ब्रह्मविद्याका मुख्य साधन कहा है। यद्यपि उक्त आठ अन्तरङ्गसाधनोंमें विवेकादि चार अधिकारिताके सम्पादनद्वारा तथा श्रवणादि चार ब्रह्मविद्याके विपयके समानविपय होनेसें अन्तरङ्ग साधन हैं, प्रेम बहिरङ्गसाधन है, तथापि फलप्रदानमें मुख्य साधन प्रेमही है। "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस पातञ्जलसूत्रके भाष्यके व्याख्यानमें श्रीवाचस्पतिजीनें धारणाध्यानसमाधिरूप संयमकों संप्रज्ञात असंप्रज्ञात-

रूप द्विविधयोगके विषयके समान विषय होनेसें उक्त योगका अन्तरङ्ग साधन तथा ईश्वरकों भक्तिसें अपने सम्मुख करनेरूप ईश्वरप्रणिधानकों योगका वहिरंग साधन प्रतिपादन करके ईश्वरप्रणिधानकोंही योगका इतर साधनानपेक्षरूप अर्थात् इतर साधनकी सहायताके विना फलदानमें स्वतन्त्ररूप मुख्य साधन कहा है। इसी रीतिसें ब्रह्मविद्याका भी मुख्य साधन प्रेमही है। क्यूंके साक्षात् या परम्परा निर्विघ्न सामग्री-सम्पादनद्वारा सर्व पदार्थके दानमें श्रीकृष्णजीमहाराजकाहीं अधिकार है। निर्गुणका नहीं और "**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ॥ आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥**" इस श्रीमद्भागवतवचनसें विवेकादिसाधनभी श्रीकृष्णमहाराजजीकी कृपाके विना निर्विघ्नतासें सम्पूर्ण नहीं होसकते हैं। यद्यपि श्रीकृष्णमहाराजजीमें सदा स्वभावभूत निरतिशय कृपा सुखसें विराजती है, तथापि प्रेमके विना तिस कृपाका जीवके सम्मुख होना दुर्घट है। यह प्रेम श्रीकृष्णमहाराजजीकों अभिमुख करके सर्व पुरुषार्थके देनेवाला तथा आप परमपुरुषार्थरूप है। क्यूंके सुख तथा सुखके देनेवाले साधनकों पुरुषार्थ कहे हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इनमें कोई सुखरूप है और कोई सुखके देनेवाला है इस निमित्तसें इन चारोंकों पुरुषार्थ कहते हैं। यह प्रेम स्वयं सुखरूप है तथा स्वात्मब्रह्मस्वरूप नित्यसुख तथा अत्यन्तदुःखनिवृत्तिके देनेवाला है। इस हेतुसें इसकों परमपुरुषार्थ कहते हैं। अत्यन्त दुर्लभ सो प्रेम इस ग्रन्थमें पदपदमें भर रहा है इसी हेतुसें यह ग्रन्थ सज्जनोंका सर्वस्व है।

इस ग्रन्थके चार कलश (प्रकरण) हैं।

प्रथम कलशमें श्रीकृष्णमहाराजजीका सखापन जीवमें स्थापन करके प्रेमविरहका वर्णन है। इस कलशमें एकसौवीस छन्द हैं ॥

द्वितीयकलशमें श्रीकृष्णमहाराजजीके नामादिसंवन्धियोंका वर्णन है। इसमें एकसो इकत्तीस छन्द हैं ॥

तीसरे कलशमें प्रेमका फल ब्रह्मविद्याका वर्णन हैं । इसमें एकसौ अठारैं छन्द हैं ॥

चौथे कलशमें नामजप अष्टाङ्गयोगादि प्रेमके साधनोंका वर्णन है ॥ इसमें एकसौ अट्ठाईस छन्द हैं ॥

अथ आशङ्का—प्रेम स्वयं सुखरूप है इसमें कौन प्रमाण है? इस आशंकाका उत्तर यह है की—जिन निर्मल सज्जनोंमें यह प्रेम प्रकट होते हैं । इसकी सुखरूपताको सोही सज्जन जानते हैं । परन्तु जैसे गूंगा पुरुप मिठाईके रसकों जानता हुआभी उसका निर्वचन नहीं कर सकता है, तैसे उत्तम सज्जनपुरुषभी प्रेमकी सुखरूपताकों जानते हैं उसका निर्वचन नहीं कर सकते हैं । तिनका अनुभव प्रमाण है । तथा
"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः" ।
इत्यादि श्रीभागवतादिवचनभी अर्थापत्तिप्रमाणकों सूचन करते हुए प्रेमकी सुखरूपतामें प्रमाण हैं । यदि प्रेम सुखरूप नहीं होता तो प्रेमी सज्जन मुक्ति आदिपदार्थोंकी इच्छाकों क्यूं नहीं करते? इससें जानागया प्रेम मृदु सुखरूपही है ॥

अमृत प्रेम जब आते है, बहु जन्म जरणि जरात है ॥
इक कृष्णहीं दरसात है, जग भूलसागरमें बहे ॥

इत्यलमधिकेन सर्वज्ञेष्विति शिवम् ॥

श्रीकृष्णामृतम् ।

श्रीमत्परमहंसामृतानन्दगिरिविरचितम् ।

अथोगजमोदामृतकलशः प्रथमः १

विघ्नविनाशकश्रीगणाधिपतये वाग्रूपायै श्रीसरस्वत्यैच नमः।

अथ मङ्गलं श्लोकाः ।

यत्सत्तां प्राप्य मायापि स्वधर्मं लभतेऽद्भुतम् ।
तं श्रीगिरिधरं वन्दे स्वरविद्याविभूषणम् ॥ १ ॥
वचोऽगम्यो वचोगम्यः स्वतो हि परतश्च यः ।
मनोऽरम्यो मनोरम्यो हरिर्विजयतेतराम् ॥ २ ॥

सानन्दं वरवेणुवादनपरः शब्दातिगोऽद्रेर्धरः
दाम्नो बन्धधरो विराडजजनिर्जन्मातिगो जन्मवान् ।
आसेहोऽपि च मृद्विभक्षणपरः सेव्योऽपि सत्सेवकः
सावच्छेदयुतोऽपि तद्विरहितः कृष्णोऽस्तु नः श्रेयसे ॥३॥

जगति स्फुरिते मृपामतीनां विमलानां सततं वनौकसां च।
अघहृत्तपसां पदानि वंदे सुकृताद्यैर्विततानि सद्यशांसि॥४॥

नेत्रं रूपे मनस्तत्त्वे श्रवणं वाच्चि पादयोः ।
शिरोऽस्तु नाम्नि जिह्वापि भवतां सेवने करः ॥ ५ ॥

दोहा ।

विश्वाधार परेश पर, प्रेमविषय पर एक ।
दामोदर रथचरणकर, गिरिधर ही इक टेक ॥ ६ ॥

सदा अकारण कृपाही, रहे मृदुलता सार ।
भज भज श्रीगोविंदको, तज तज सकल विकार ॥ ७ ॥

छंदः ।

क्या स्वाद है श्रीकृष्ण-मनहर-पादपद्म-प्रणामका ।
जगत चहे हैं स्वप्नकों, अच्छा लगे मग वामका ॥
सिर कटे भी अव आजुडे, आकर्षकों अव देखना ।
पर यह स्वभाव न अवरका है, उसी सुख-आरामका ॥
सव वेद भी आकृष्ट हैं, ब्रह्मादि भी खींचे हुए ।
राक्षस असुर भी खिंचे दीखें, वना काम कुकामका ॥
विद्या वही विद्वान् विन जो, तनिक भी नहि छांडती ।
पर सुनतहीं गत असु उठें, जादू अलौकिक नामका ॥
अमृत वहिर्मुखकी कथा क्या, कहां विद्या क्या समझ ।
क्या वात हमरी वात है, समजे हमारे धामका ॥ ८ ॥
है वही हमरे धामका, मृदु मधुर हिंसाको करे ।
शर्मा वना अव जगत् प्यारा, प्राण सव जगके हरे ॥
नहिं द्वैत नहिं अद्वैत देखे, देखनेसें दूर हो ।
जीता मरे मरके जिये, नहिं फेर कवहूं भी मरे ॥
परकों दिखे कर्त्ता अकर्त्ता, कर्त्ता नकर्त्ता भी वने ।
गुण कर्म जाति न राखता, मनवचनइन्द्रियकों तरे ॥
नहिं वाच्य है नहिं लक्ष्य हैं, नहिं युग अभावहुं राखता ।
कल्पना जैसी जहां है, तिमहि कल्पन अनुसरे ॥
अमृत हमारे धामका, मग गूढ है भी कठिन है ।
विन प्रेमके गुरुके कवन, अतिनिपुण भी इक पग धरे ॥९॥
है यदपि मिथ्या प्रेम भी, है वुद्धिका अवतारहीं ।
पर स्वप्न है वह जो जगावे, स्वप्नका सरदारहीं ॥
साची कहें यह आपहीं, पञ्चम-पुमर्थ विराजता ।
सुखरूप है सव-ताप-कारण-तृषाकों दे मारहीं ॥

मस्ती रहे इक-कृष्णपरही, विक रहे हैं सर्वदा ।
देखें तनिक यदि कृपासें, दे अधमकों भी तारहीं ॥
इक प्रेमकाहि स्वभाव है, निष्कामकों भी खींचले ।
विज्ञानआदिक-दानमें है, कृष्णका अधिकारहीं ॥
विन प्रेम अमृत कव मिलेहै, सन्त-पद अति कठिन है ।
वहु यत्न भी करता रहे, फल यत्न तप आगारहीं ॥ १० ॥

छंदः ।

विनप्रेमके किम मनुजपर श्रुति प्यार होगा ।
इस विना कव पद सखाका सच यार होगा ॥
जे हैं विवेकी समझते इम मृदुल-मनके ।
तिनसें भला विन प्रेमके को कार होगा ॥
जे करत हैं विन प्रेमके हैं तजे श्रुतिके ।
समझा पडा है, कथन क्या भूभार होगा ॥
करिये उपाय अनन्तहीं, सव जन्मलौं भी ।
विन प्रेम किम श्रुतिअर्थका अधिकार होगा ॥
नरजन्म-फल भी प्रेम विन नहि होत कवहूं ।
वह यदपि अजके लोकका सरदार होगा ॥
दीखें विमुख सव करत ही हैं कर्म नाना ।
है कवन जो विन प्रेमके दुख-पार होगा ॥
अमृत टटोला सकल जग श्रुति हार बैठे ।
कर कवन को विनप्रेमके श्रुतिसार होगा ॥ ११ ॥

दोहा ।

अनुभव निगमका साच ही, है युक्ति भी इम ही कहे ।
है सखा साचा जीव हरिका, कृष्णकों तज दुख सहे ॥
होवे सखा जव हरि हि मन हो, अवरकी नहि कथा भी ।
मैत्री-स्वभाव यही सदाही, एकसेंही लग रहे ॥

मनइन्द्रियोंका वहिर्मुखताका स्वभाव हि रचा है ।
इम सखापन नहि आतहै, जड आप अपनेकों दहे ॥
वहुजन्ममें श्रद्धासहित अतिशुद्ध धर्माचरणसें ।
विरला पुरुष कोई अलौकिक-प्रेमदुर्लभकों गहे ॥
अमृत प्रेम जव आतहै, वहु जन्म-जरणि जरातहै ।
इक कृष्णहीं दरसातहै, जग भूलसागरमें वहे ॥ १२ ॥
आभासिसम आभास फुरना, जीव सखिता पागिया ।
है विम्व आपहिं कृष्णको, पर में अहंपन छागिया ॥
है सिद्ध समताकथन क्या, अवच्छिन्नमें है भेद क्या ।
करती उपाधी भेद कल्पित, चित्त जीव वनागिया ॥
मन इन्द्रियोंके वश भया अव, समझ नहिं है को सखा ।
नहि आपनी भी समझ अव, दृढ त्रिविध ताप सुहागिया ॥
मनकी मलिनतासें मलिन हीं, आप भी दिखने लगे ।
जलका मलिनपन भानुके, प्रतिविम्वमें जिम आगिया ॥
जिम भानु-अभिमुख होतहीं, जल अमल हो आभास भी ।
मन जीव भी हों शुद्ध तिम, जव कृष्ण हीं इक भागिया ॥
अमृत न जवलग प्रेम, श्रीगोविन्दमें ही होत है ।
हरिप्रेम कारण यत्न विन, सव यत्न ताप जगा गिया ॥१३॥

छंद ।

कहता कवन है प्रेमका कर्त्ता वनेगा ।
यांकी कृपासें ही जगत्‌भर्ता वनेगा ॥
जव यह नहीं है है भला क्या पाप दुख है ।
विद्वान्‌के आभासकी चर्चा वनेगा ॥
आभास है जहिं ब्रह्मयुगका सुख सजा है ।
सुख आप जहिं युगका हि आहर्त्ता वनेगा ॥
सच प्रेमकी क्या वात पूछे कवन है कों,
नित कानकों फूंके न उद्धर्त्ता वनेगा ॥

मिलना हि है अतिकठिन अमृत अलभ-सुखहै ।
विन प्रेमके को तार है तर्ता बनेगा ॥ १४ ॥
क्या पडा है संसारदुख-आगारमें ।
आ जा ननिक हरिप्रेमके दरबारमें ॥
अविवेकसें जासों फिरे मस्ती भरा ।
है दुखद दुख फसरहा कालागारमें ॥
श्मशान लखके भी नहीं आती समझ ।
अजआदि भी नहि रहें थिर संसारमें ॥
हम भी कभी नर थे सकल धनसें भरो ।
क्या अस्थि कहती है अङ्गारमें ॥
नर वस्तु क्या दिति-सुत सकल बलसें भरा ।
आगिचाइका दिन कालके हथयारमें ॥
पढ सुन लिये है भी रहे क्या अन्धही ।
फूले फिरें क्या अन्ध जग आचारमें ॥
अमृत मुकुट है धर्मके सर्वज्ञ हैं ।
क्या वेद कूचे अलभ इक हरि प्यारमें ॥ १५ ॥

छंदः ।

हरिप्रेमविन नहि लोक नहि परलोक सुख दरसात है ।
जब प्रेम सुख मृदु मधुर आवे, सकल सुख विसरात है ॥
इम प्रेम विन नहि सुख मृषाहीं, राख थोथी छानले ।
निज ब्रह्म परमानन्द भी, विन प्रेमके को पात है ॥
हरिप्रेम विन श्रवणादि भी, वन्ध्या रहें नहि फल करें ।
है मुख्य साधन प्रेमहीं, सर्वज्ञ श्रुति इम गात है ॥
है प्रेम व्यापक सकलमें, अनुभूत अमृत सकलकों ।
जब अवरकों तज कृष्णहीं में, हो अमर बनजात है ॥१६॥
विज्ञान कर्म उपासना, बहुविध कहे बहु विस्तरे ।
सब जगत हित सर्वज्ञ श्रुतिने, लोकयुग सुखसें भरे ॥

हरिप्रेम प्रगटन योग्य नहि, अतिगोप्य-धन सुख-सार है ।
बहुविध छपाया श्रुतिहुं यद्यपि, को समर्थ छपा धरे ॥
ध्रुव राखनाथा गोप्यही पर, वश नाहीं मन मृदुल है ।
मन मृदुलमें ही प्रेम हो, यह प्रेम भी मन मृदु करे ॥
उन्मत्तसें कब होसके, प्रगटे न मनकी गोप्यको ।
अमृत न याको दोष दें, सुन करे मृदु-जन ध्रुव तरे ॥१७॥

दोहा ।

सुननेसें भी प्रेम हो, जांके मस्तकभाग ।
दुर्लभ मिलता है कहां, बिन हरिके अनुराग ॥ १८ ॥

छंदः ।

है चित्त श्रुति इतिहास, शास्त्र पुराण बुध सब कहत हैं ।
है सखा ईश्वर जीवका, यह झूठकों नहि सहतहैं ॥
हम कवन पाप-निमित्तसें, ऐसें-सखाकों त्यागके ।
भोगें सदा दुख ताप अचल-प्रताप जग अनुरागके ॥
जन्मादि-सकलविकार-ग्रह, दुखरूप जगकों मीतकर ।
पायो शोक पुनि शोकदुखकों, सुखस्वरूप प्रतीतकर ॥
इस पान्थसें कब नेह निबहे, पापसें कब सुख मिले ।
हम सदा सहज कुसंग-बलसें, शोकमें ही तलमले ॥
सब जग स्वार्थका ही मित्र, मित्र न कोई परका एक भी ।
अनुभववचन श्रुतिके न समझें, कहत बुध हुँ अनेक भी ॥
अविवेकजन्य-प्रमाद यह, ताका जनक मल संगभल ।
ताकी जनक मल वासना है, सो निषिद्ध-कुकर्म-फल ॥
आनन्द जो सत्चित्परेश्वर, काल जासों डरत है ।
ब्रह्मादि-जग जहिं जहिं लगाया, ताहिं अवश हिं करत है ॥
जिहि नाम-दामोदर, यशोदानन्द गिरिधर पापहर ।
गोपाल कृष्ण कुपूतनाहर, हरि सुरेश रथाङ्गकर ॥

जो सदा मृदुल-स्वभाव कारणरहित पर करुणा भरे ।
जिहिं नाममिससें अजामिलसें पाप भी भवकों तरे ॥
जो भृत्यकों दे ब्रह्मविद्या निजस्वरूप हि करतहैं ।
ताको तजा हे चित्त फल दुखपाप ही अनुसरत हैं ॥
इन इन्द्रियनके बहिर्मुखताके स्वभाव-प्रभावसें ।
ऐसे सखाकों तज भये हम पाप पापस्वभावसें ॥
अब कवनविधसें मिलेंगे वह खोजना ही ठीक है ।
नहिं मन लगे अब जगतमें जग शोकताप अलीक है ॥
वाकी कृपाबिन कवन बल है तांहिंके विज्ञानका ।
कर्त्तव्य है इक प्रार्थना हीं त्याग जग दुखखानका ॥
अमृत तिहारे वृत्तसें ऐसा हि समुझा जातहै ।
अब चहे कृष्ण-मिलापकों ही इम हिं इम दरसातहै ॥१८॥
हे नाथ गिरिधर पतितपावन कामतरु करुणाभरे ।
निजभृत्य हितलग जगतमाहीं जगत-जीवन अवतरे ॥
इम सुना वेदतिहारसें ही रूप निजजन-हित भरा ।
चित्सदानन्द परेश जिहिं संबन्धसें अघ भी तरा ॥
करतूतमल पुनि विमुखता-मलहेतुसें लज्जा बढी ॥
नहिं आंख अभिमुख होत प्रभुके हा कठिनता हीं पडी ॥
यद्यपि न हम हैं योग्य तौ भी प्रभुस्वभाव मृदुल सुना ।
आये शरण नहिं दोष देखें इम हि श्रुति बुधजन भना ॥
इम भी सुना हैं अतिभावी जिनके न आश्रय एक भी ।
आये शरण तकरही तिनकी मनोवाञ्छित-टेक भी ॥
अब मैं हुं आके पडाहूं दरबारद्वालीमें सुमुख ।
सब है भरोस स्वभावका नहिं गयो कोई भी विमुख ॥
अमृत चहे है जाहिं सो सर्वज्ञ-प्रभु भी जान हैं ।
विन आपके है सुख कहां इम वेदके भी गान हैं ॥ २० ॥

चौपाई ।

मलिन-कर्मसों मलिन-वासना ।
तासों हो मल संग शासना ॥
तासों पुनि मल कर्म पाप हो ।
जन्ममरण भी नरक ताप हो ॥
इम मैं घटीयन्त्रता धारी ।
पायो शोक ताप दुख भारी ॥
प्रभुकी कृपा इम हिं दरसावे ।
आप विना अव अवर न भावे ॥
अव जैसें तैसें हु निहारो ।
अपनी कृपा आप हीं पारो ॥
अवश पाप जीवत्व जहां है ।
अभिमुख आये दोष कहां है ॥
इम हीं श्रुति पुराण वुध गावे ।
हम भी सत्य समझ हर्षावें ॥
जव देखेंगे अपने नैना ।
अमृतके हो तवही चैना ॥ २१ ॥

छंदः ।

हे चित्त जो कछु सुना श्रुतिसें नयनसें कव देख हैं ।
कव जगेंगे वडभाग्य हम हूं कभी सुखकों पेख हैं ॥
अव तो दशोदिश विरहताप जलात वहु संताप दे ।
नहिं मन लगे है कतहुं भी दुख जीवनेको पाप दे ॥
कव हुं हमारे कष्टको वह भी लखेंगे सुखभरे ।
कव हू द्रवेंगे दीनता लख नाम जिहिं अघतम हरे ॥
अमृत दिवस अव जगे कैसे जिधर देखे त्रास हो ।
जीते लखेंगे हम हुं अब तो प्रतिदिवस ही हास हो ॥२२॥
मनहि गिया जव गिया जगत् सव इम कहिता पातञ्जलयोग

मत लग जाय किसीसों जियराहा इ दई यह कैसा रोग ॥
घर वेचैनी शून्य दिखे है योगलिये भी दूनों ताप ।
वन जावें तो रोरोकाटें तडफतहैं जहिं वसते लोग ॥
नहिं मरना नहिं जीना भावे, सकल उपाय व्यर्थ हीं होत ।
वैद्य सहाय न यामें कोई, विष लागे सव जगके भोग ॥
रैन दिवस इक समहीं वीतें, कहते कांको क्षुत् तृट् नींद ।
आत्मविद्या विना वुलाये, आवत चले न कछु उद्योग ॥
मिलें प्राणपति दूनो होवे, तासों है वियोग अधिकान ।
अमृत या अटपटीनिवारक, भयो न कोई है नहि होग ॥२३॥

दोहा ।

ज्ञान प्रेम उन्माद कहँ ऊंच नीच कहं चाल ॥
अमृत वुरा न मानियें मनकी भाषे वाल ॥ २४ ॥
श्रुति–जग–नियम न रहसकें रहे न मतिका रोग ॥
प्रेम जहां सुख पगधरे जानत प्रेमी लोग ॥ २५ ॥

छंद ।

हाइ कहें अव भला कवनसों कैसे सोच करो ।
लखो निहारो तनिक कहो जी दूरी कठिन जरो ॥
क्या जानें को हेतु हठीलो कठिन कुकठिन परा है ।
अव जौंजौं मम नयन आर्द्रसों भीजत नाहिं गरो ॥
क्या लखनो यह रहो रहो दृढ अमर हुं अमर भयो है ।
लखिये निजस्वभाव जिहिं अवलौं दाग न कवहुं परो ॥
जौ लखहो यह पापिन पापी जरे न मरे न जावे ।
तौ फिर वेदकथित कव जैहै मृदुस्वभावझगरो ॥
सुनियें दै अव कान प्राण मम प्रेमभरे हिरदेके ।
अमृत पक्ष न लघु वुध साक्षी निगम हुं पक्ष भरो ॥ २६ ॥
कवतक डरें मृदुल–प्रभुतासों कवतक दरद सहें ।
लखो न लखते भी जव हम किम नहिं दुखसिन्धु वहें ॥

रोते रोते क्षीण भयो तन मन हूं अब भयो है ।
मरण बन्ध इक कृपा कहो अब कौलौं नाहिं कहैं ॥
ऊंच नीच प्रीती नहि देखे यामें सब जग साक्षी ।
प्रीति भये पुनि किम यह चाहें हम प्रिय दूर रहें ॥
रहो रहो जो अनित जगतमें ऊंच नीच गति जैसी ।
सदा सखा हम निगम मानसों कैसे भीति गहें ॥
अन्तहुं करे बनेगो सुखनिधि जन्म जन्म हठ एही ।
सोयेथे अब जागपडे किम अमृत कोन चहें ॥ २७ ॥
साच साच तुमरे कहलाके फिर हम दुखमें लिपट मरें ।
हे मम जीवनप्राण मनोहर, किम नहिं सगरे सुनत गरें ॥
को अस देख अटपटी ऐसी, हाकर नहिं मुछैं है ।
हम ही हैं इक पापी जीते, दुख दोनों अति अजर जरें ॥
कहँ प्रभुता सब ऊपर राजत, कहँ यह वृत्त भयो है ।
कहँ स्वतन्त्रता मृदुता षड्गुण, कहँ निशदिन दुखविन्दु झरें ॥
सिद्ध कहत होवेंगे क्या अब, किम न निगम मुरझे हैं ।
किम न कालकों निशदिन चाहें, तांके पईयां किम न परें ॥
नाम रहेगो धर्म रहेगो, तेज रहेगो सब कछु चैये ।
तोड बन्ध अब करिये सोई, जासों अमृत नयन भरें ॥२८॥
हो अल्पज्ञ कदाचित्ताको, छेदी मन दिखलावे ।
सुननहार को तुमविन लायक कांको दरद सुनावें ॥
जो सुनिहै केवल सिर धुन है, को फल परहिं सुनाये ।
सुनो सुनोजी सुनो सकल श्रुति, करो कृपा फल पावें ॥
जौ न सुनो हठ गह मृदु मनके, फिर पाछे पछतै हो ।
प्राण जांहिं न स्वभाव कदाचित्, यह गीता श्रुति गावें ॥
तजिये हठ यह कबलौं रहहै, अन्तहुं त्याग करोगे ।
अबहूं किम न तजो दरदीले, समझहिं क्या समझावें ।
अथवा जानत हो सब मनकी, निरावरणता साची ।

अमृत क्या जाने किम प्यारे सुन सुनके रहजावें ॥ २९ ॥
क्या जाने प्यारोहीं है यह निशदिन पकडत आगो ।
कहिये समदर्शी कोमल किम, भेद न प्यारो लागो ॥
जो अतिमृदुल अहेतुकृपामय, तह भेद न अनहोनी ।
क्या जाने ते गुण लख सो भी, तज सव जग मन पागो ॥
रहो प्रेम यांको भी तौ भी, जो अनन्य निजसेवक ।
तामें सफल न होनो चहिये, जिहिं अति दृढ अनुरागे ॥
जो केवल भेद न परही निज, प्रेम रहा तज जनकों ।
तौ अमृत फिर कथा कवन है, निगम वडो प्रणभागो ॥३०
मन्दभाग्य को कवन है तुसें, कैसे किहिं वल दहिये ।
परम कुकठिन कुकठिन विरह–दुख, कैसे कासों सहिये ॥
वल वलहेतु रक्त जहिंलौं तन, रहा सहा वहुतेरो ।
धो धो हाड न जरि हैं कौलों, कौलों धैर्य गहिये ॥
करकरके अव हारगये हैं, करें प्रार्थना कौलों ।
सुनसुनके जनु वांहि सुनी हैं, हैं सवके सुनवइये ॥
जस मुहि भजे ताहि हम तैसे भजें न यामें संशय ।
अस गीताका वचन सुनतहीं, मौन पकर चुप रहिये ॥
क्या जाने यह गीता कैसी, कैसे कर्त्ता यांके ।
अमृत अस अटपटीमांहिं अव, कवन शरण जिहिं लहिये ३१
तांकी गति किम नहिंहो ऊंची, परमधर्म वरसावे ।
को दरदी ऐसो जगमाहीं, जो प्रिय आन मिलावे ॥
सुनो धर्म जो चहें आपसों, इतना हीं फल प्यारा ।
करो उपाय सजग हो निशदिन, जिहिं विध प्यारा आवे ॥
अनकजन्ममें सिद्ध किये जे, करो कृपा प्रण देखो ।
जासों तज मम दोषदृष्टि प्रिय, दिशा आपनी धावे ॥
क्या जाने अव क्या होवेगा, कैसे होगा जीवन ।
श्रुतिको तेज रहेगो कैसें, जो शरण्यता गावे ॥

तोसों दरद जगा है मनहर, तुमही बनिये दरदी ।
अमृतको बिन कृपा आपके, को सुख-दिन दरसावे ॥३२॥
हमकों तो अब कहत चतुर सब, यह भी हैं इक हैसे ।
प्राणनाथ कछु कहिये काहिये, अस हीं बेठे जैसे ॥
यद्यपि सदा सदाके हम दृढ अपराधी प्रभु थारे ।
तदपि कृपालु न कबहूं बैठे, अबतक होके ऐसे ॥
भई भई सो गई गई वह, अब क्या चिन्तन करना ।
मम अपराध लखोगे कबतक, क्षमिये पूरब जैसे ॥
अब बिगरी बिगरीहीं बिगरी, फिर सुधरी कब होगी ।
अब शुभघरी याहिमें निजप्रण, पारो जैसे तैसे ॥
अब बिनती मम सुनियें लखियें, क्या लखनी अस वातें ।
अपनाये बहुजीव अधी अब, अमृतभी है वैसे ॥ ३३ ॥
है यह बात कहें क्या प्रभुकों, सहज परम-सुखकारी ।
यद्यपि हो सर्वज्ञ वेदनिधि, सुनो सलाह हमारी ॥
अस मत समझें कहता होगा, आप आपने हितकी ।
प्रभु मेंभी तो दीखतही है; कृपाजन्य दुख भारी ॥
यद्यपि हमरे आप विना नहि अवर कुबन्धविनाशक ।
तदपि अवर यदि दीखे प्रभुकों, करिये सो संभारी ॥
अवर न दीखे आप न नाशों, पठिये काल कराला ।
प्रभुआज्ञाकों मेटनहारो, को अस जगतमझारी ॥
अथवा निजदुख जैसे तैसे, भोगेंगे हम लायक ।
तजिये क्या यह सहीजातहै, अमृत सोचनि थारी ॥३४॥
मुदिता गहिये नाहिं सदा सम, कोई जग दरसावेंगे ।
हे अधर्म क्या ऐसे हीं हम, रोरोके मर जावेंगे ॥
करो कृपा अब पीछा छाडो, जैसे तैसे हठ गहको ।
क्या नहिं सूझत सोचनि वांकी, कालहुं मर मुरझावेंगे ॥
जाकी अति मृदुता लख तो बिन, को पत्थर अस जगमाहीं ।

द्रवे न भजे सदा कर जोरी, तोहि कथं समझावेंगे ॥
अब भी समझ चहें यदि निजसुख, कृत्य करो लख मुख तांको
तज स्वभाव भज चरण रसीले, हमभी इम सुख पावेंगे ॥
जांको मुख ब्रह्मादिक राखें, नाम करे अघटनघटना ।
अमृत अब भी मान नाहिं फिर, पितुपाछे पछतावेंगे ॥३५॥
सोचनि सुनियें बात हमारी, जग सुखकर सुख पावो ।
मृदुताविन नहिं प्रेम होतहै, कछु मृदुता दरसावो ॥
क्या नहिं सूझत परम शोभने, महाराज हैं ऐसे ।
समझ बूझ जो करिये करिये, सुखउपदेश चलावो ॥
यद्यपि प्रभुकों चहत सकलहीं, दोष न काहूं कोई ।
तौभी दूर रहो दृढ सेवो, इम निज मन बहलावो ॥
जौ निजप्राण मिलन दुख पावें, समीचीन कब मिलना ।
सुख वांकाहीं सुख आपन निज, सहज स्वधर्म समावो ॥
अमृत तुम भी लख आपनि दिश, कर विचार कछु बोलो।
मिलेबिना कब रहाजातहै, कितना मन समझावो ॥ ३६ ॥
जासों भयो वेद अतिजाकर, अलभ मृदुलरस भीनो ।
तामें सोच निवास कियोहै, कवन पुण्य तुम कीनो ॥
समझ न परे कवनकी गति अस, जांको फल फल राजा ।
सबगुण-भरी तनिक समझादे, जिहिं ऐसो फल दीनो ॥
तुम जैसेहीं परउपकारी, सन्त वेद नित गावें ।
दूर दधीची कियो ताप पर, सब जग शुभ यश लीनो ॥
हमरे जैसे दुखकी कबहूं, होगी भई मिलावट ।
जान असह्य कहो करुणाकर, जो कारण तुम चीनो ॥
अमृत क्या कछु बुद्धि गई है, कैसी हैं यह बातें ।
अपर उपाय न धर्म हमारा, श्रुति गावत न नवीनो ॥३७॥
कब हम भी इस दुखी ग्रामसें, न्यारे होइ छुटेंगे ।
यदि ऐसेहीं रहहैं मनहर, कैसे दिवस कटेंगे ॥

को अस जगत–शून्यता माहीं, जो जीताहीं दीखे ।
क्या जानें को हमें जियावत, कब यह दिन पलटेंगे ॥
ऐसो कवन पाप नाहिं दीखे, जो प्रभुनाम मिलापी ।
सिद्ध वेद जग देखें अब कब, वांके सुफल पटेंगे ॥
ऐसे दिवस न होहिं किसपर, कैसी दशा भई है ।
नहिं देखें कछु दीखतहीं किम, बिन मति नाम रटेंगे ॥
अमृत किसे सुनावें अब हम, कवन सुनेहै हमरी ।
धन्यवाद दे उस दिन शुभकों, जामें खोज मिटेंगे ॥ ३८ ॥
है उन्माद समझ क्या मुखसों, जो चाहो निकरो ।
हमहुं कहेंगे दयारहित क्या, तनिक न दया करो ॥
अति कठोर जग–पाहन सोभी, गति देखे यदि ऐसी ।
द्रवे कहें क्या तुम सब लायक, लख अस अजर जरो ॥
हम तो पापी हैंहि सदाके, असहि स्वभाव हमारा ।
रचा आपनें किम जन–रक्षक, निज–स्वभाव वीसरो ॥
कांको फल यह क्या समझें हम, अति–अनहोनी जागी ।
लखो तनिक मन धरो अजी क्युं, दिन दिन होत खरो ॥
क्या जानें मृदु हिंसाका फल, यह आया अनमिटना ।
अमृत है कछु बात देख भी, ऐसी गति न डरो ॥ ३९ ॥
हे दरदीले प्रेमरसीले, कैसे दरद न आवे ।
है हीं हमरा मन्दभाग्य जो, ऐसी दशा बनावे ॥
अवर जगत सब देख लिया है, है मुरदार भयंकर ।
लाग गई जब तो बिन मनहर, को मम मन बहलावे ॥
भेद न प्यारो या हम भी कछु, दयामाहिं है ममता ।
कहिये तनिक विचार समझके, जौ तो बिन कछु भावे ॥
पईयां पडें बलईयां लेवे, सदा चरणरज चूमें ।
जो निजचरणधूरिका प्यारा, तांको को बिसरावे ॥
अमृत तो बिन कवन जगतमें, जले बले कर्मनका ।

कलकी क्या है बात जाहिं लख, कल्पवृक्ष मुरझावे ॥४०॥
होवेगा वहभी दिन जगमें, हम भागी कहलावेंगे ।
कहो कहो अब प्राणनाथ कछु, कासों मन बहलावेंगे ॥
होके ऐसे मृदुल मनोहर, तनिक न नयन उघारो हो ।
आप रहेंगे ऐसे तो हम, कैसे नहिं मरजावेंगे ॥
यद्यपि हम अपराधी पूरे, ऐसे ही दुखके लायक ।
तदपि क्षमा करनीहि पडेगी, निगम सुवचन सुनावेंगे ॥
प्राणनाथ मम जीवन सुन्दर, कोमल सब-सद्गुण-पूजित ।
अमृत जौ भागेंगे दुखसों, दिशा आपकी धावेंगे ॥ ४१ ॥
वेद कहतहै सब जानत हैं, जगकारण कहलातेहो ।
कहो प्राण हम दीन दुखीको, क्युं इतउत भटकातेहो ॥
प्रभुदरबार कल्पतरु पावन, हमसें ऐसी होतीहै ।
बार बार हम पग पकरें फिर, बार बार छल जातेहो ॥
कैसे आइ जगायो हमकों, सोइ रहेथे सुखियेसे ।
आपेहीं यह खेल रचा अब, आपे किम शरमातेहो ॥
कहां लाजका अवसर कैसे, हमने कवन कुकर्म कियो ।
प्रेम धर्मफल राजा यांको, दे कैसे घबरातेहो ॥
छोड देंहि यदि छूटतहो यह, बहुतबार हमभी चाहें ।
अमृत सब जानत हो फिर क्युं, जान बूझ तरसाते हो ४२
हमहीं ऐसे भये जांहिलग, निज यशभी नहिं प्यारो ।
करो कृपा आपनि दिश देखो, कबहूं तनिक निहारो ॥
गयो मनावत काल बहुतहीं, क्षण क्षण कल्प भयो है ।
क्या जानें कब मानोगे कब, हौहै दुख निस्तारो ॥
ऐसी रूठनि सुनी न देखी, कतहुं न होनी दीखे ।
यदि कारण अपराध हमारे, बल निज नाम विचारो ॥
साचा सखा कदाचित् भूले, कर्मविवश निज प्राणहिं ।
आए शरण न तजियें ऐसो, लौकिकभी व्यवहारो ॥

अमृत साच कहो मम जीवन, प्राणनाथ मृदु मनहर ।
तो विन हमरा कवन जगत्में, सुखदायक उजयारो ॥४३॥
ऐसा दुख लख कोईभी हो, सहजेहीं अनुरागत ।
देखो तो अब खोज आपके, हमभी हैं कछु लागत ॥
साक्षात् या परंपरा कछु, है संसर्गतिहारा ।
या हैं जगसें वहिर न हमसें, ना तन वचन न स्वागत ॥
चहें मनावन जिमजिम हम तुम, तिमतिम पांउं संकोरो ।
कवन कुभाग्य जगो न लखो दुख, दिन दिन दूनो जागत ॥
अपने ध्रुव अपनेहीं अपने, देखो तनिक निहारो ।
अति सोचनकी बात न सोचो, लखो भई है क्या गत ॥
छाती खोल किसे दिखलावें, छेद हुं छेद भए हैं ।
अमृत जिमजिम निकट वुलावें, तिमतिम दूनों भागत ४४
ताप कहें उन्माद कहें या, चाहे कहें सनेह ।
जो दुर्लभ ब्रह्मादिकहुं को, कासों लागो नेह ॥
क्या जाने कछु समझ न पडती, मनका भया स्वरूप ।
चहें छांडना छूटत नाहीं, ऐसा मारग एह ॥
वेद कहें जो भजहै यांको, सो हो परसुखरूप ।
हमकों तो दुखरूप समझके, काल हुं लेत न देह ॥
होवेगा यह साच वेद बुध,–सिद्ध कहें बडभाग ।
मरें न जीवें तडफें जिम जल, तस मीन विन मेह ॥
कठिन कुकर्म जगें जब जिसके, दशादिश दुख दरसात ।
अमृत दोष न अल्प प्राणमें, वह अतिकरुणा–गेह ॥ ४५ ॥
यदि वश चलता फिर क्या जगमें, मुख दिखलान वियोग ।
मार जलाते राख उडाते, कौतुक लखते लोग ॥
खान पान सुख कहें कवनकों, नाम सुनत हो ताप ।
नयन–नींदका नाम कहां है, जहां वियोग कुरोग ॥
जीनेकों जब चहें तनिक हम, तबहीं करता घात ।

हम भी करते ऐसीहीं यदि, तनिक चहत वह योग ॥
हमरे मनकी सब वह जाने, हमकों समझ न आत ।
कबहूं वांका मधुर मृदुल मन, हमरे अभिमुख होग ॥
अवर सृष्टिकी रचनामें है, मतिकी प्रभा दुरूह ।
विधिकी शठता—सूचक अमृत, यह वियोग उद्योग ॥४६॥

छंदः ।

अवर सकल जे दरपे आए, पायो अभिमत मान ।
जले कर्म हैं ठीक योग्य है, जहिंलौं मन हुलसान,
करो इमहीं दुखदान ॥

मन हरके दुख मनहर आके, होहिं सकल—सुखखान ।
तुमहीं नहिं इक प्यारे प्रभुके, दुखभी हमरे प्रान,
सदा इनपर कुर्बान ॥

याहूसोंभी अवर खोलिये, नरक जाहिं मन मान,
मनकी मनमें रहन न पावे, पकरो अब किरपान,
चहें हमभी नहिं आन ॥

काल कर्म कछु कभी न राखी, जहिंलौं बल—परिमाण ।
तुम कमती अब काहे राखो, पा अस सुभग निशान,
करो मनभावत बान ।

जले कर्मके कल्पवृक्षसों, चहें सुधा यदि पान, ।
तज स्वभाव सो भीह सह सके, देत गरल हठ ठान,
कहें क्या तुम भगवान ॥

अमृतकी अब यही प्रार्थना, सुनो तनिक दे कान ।
जौ अबभी रुचि होइ अवर हूं, करिये तज सकुचान,
तुझे निज भक्त न आन ॥ ४७ ॥

छंदः ।

बेचैनीसें फिरते फिरते, पत्थर भी सब रेते हैं ।
समझ बूझ हे प्राण मनोहर, क्युं इतने दुख देते हैं ॥

कहें कहांलौं एक न सुन हो, यद्यपि सुनहो सगरी ।
रहा उपाय कवन अव वाकी, थके सकल हो जेते हैं ॥
रही सवल इक कृपा आपकी, देखें सुख दिखलावेगी ।
देख रहेहैं वाहीकों हम, सिर चाहे सो देते हैं ॥
नाम जपत तव ध्यान करत वहु,—कल्पकल्पसम क्षण वीते।
अव हुं कुवन्धक नशे न जाने, क्या यह पापी केते हैं ॥
जगजीवन मम जीवन सुन्दर, प्राण प्राण जग उजयारो ।
अमृत गिरिधर ऐसे प्यारे, सिर देकेभी लेतेहैं ॥ ४८ ॥
एक नाम सव विघ्न दहेहै, अवलौं क्या यह नाहिं दहेहैं ।
कहिये समझ सोचके अव तो, प्राणनाथ क्युं रूठ रहे हैं ॥
हो सर्वज्ञ सर्ववित् सवकों, जानतहों श्रुति वुध साक्षी ।
कहिये काहिन कारण यांको, अव तो प्राण हुं चलन चहेहैं ॥
युगल शरीर सकल जीवनके, जे दुख प्रभुने समझ रचेहैं ।
कहो कवन है तिनमें वाकी, जे पचपच हम नाहिं सहेहैं ॥
अब यह धर्म वढेगा कैसे पालक होगा जगका ।
क्या अजान जनु खवर नहींहै, रच ऐसी अव मौन गहेहैं।
सब वुधजनभी साख भरेहैं, निज नयननसेंभी हम देखा ॥
सदा आपके लिखा आपने, अव वह कागद कहां वहेहैं ॥
हमभी सव जग ढूंड फिरेहैं, खोज लियाहै देख लियाहै ।
विना आपके सुख अमृतके, विधिनें रचे न कवहुं कहेहैं ४९

छंदः ।

हम अल्पज्ञ सकल जग जाने, तुम सर्वज्ञ वेद वतलात ।
कहिये मनकी भला तनिक अव, क्या कछु करनेकों हुलसात।
कहो कवन सुख जो हम भोगें, दशादिश जहिंतहिं दुख दरसात ।
ताहू पर तुमनें हठ ठानों, जिहिं कोमलता श्रुति नित गात ॥
तुम सर्वज्ञ सकलकी जानो, शपथ तिहारी सुनियें तात ।

कहिये नयन उघार तनिक अब, जौ मुहि प्राणहुं तनिक सुहात
या नहिं होत जन्म जौ जन्महुं, भयो न होता तोसों नात।
अब भीषम–प्रण–पाल मनोहर, हमरा सब कछु तुमरे हात॥
भई गई अब तो हठ छांडो, विरुद संभारो हम चल जात।
नहि फिर सकल सिद्ध क्या कहहैं, अमृत प्राण गए क्या बात॥ ५० ॥

छंदः।

ज्ञाता सकलका भला अनजान बनेगा
जाना पडा फिर उलटा जहां न बनेगा॥
यदि इमहिं ठनीहै पठादो हलाहलको।
कौलौं भला यह मोद तडफान बनेगा॥
कहता निगम है साच पर कहे कवनको।
हमभी करेंगे वही जब प्रान बनेगा॥
कहता जगत सब निगमभी उसकों।
दानी हमभी कहेंगे कछुक जब दान बनेगा॥
अमृत करा जहिंलौं हि बल बुद्धि रही है।
कहता जगत् था झूठहु ठठा न बनेगा॥ ५१ ॥

छंदः।

जाकों सुख नहिं कतहूं कबहूं, ताके तुम सुखकारी।
पइयां परें काल हम थारी, सुखद बानपर बलिहारी॥
ब्रह्मादिक खाओ न अघाओ, ऐसी बान तिहारी।
प्रबल प्रभाव सकल जग छायो, मायालौं गति थारी॥
हममें कवन क्रूरता जासों, तुमकोंभी डर भारी।
कबहुँ न संमुख होहु कृपाकर, लेहु न देहु हमारी॥
साच कहा कवियननें जाकों, तजे प्राण दातारी।
कालहुँ ताके निकट न आवे, लख अति क्रूर दुखारी॥
कालादिक जिहिं वशमें ताको, लगी रूठनी प्यारी।

अमृत अब क्युं सुने कालहूं, सहो सर्व मन मारी ॥५२॥
खोज रहेहैं सकल जगतमें, खानपान बिसराई ।
मिले कहूं अब रचनेवारो, किस यह रची जुदाई ॥
पूछेंगे अब हमभी वांको, पईयां पर कर जोरी ।
कहिये अतिकोमल अतिकोमल, कैसी हो कठिनाई ॥
हम नहिं जानत रूप याहिंको, वह अति पण्डित यांके ।
हमहुँ पढेंगे वाहीसों कछु, मिल है जगत भलाई ॥
यद्यपि हम अधिकारी नाहीं, वह अधिकार जगेहैं ।
तनमनसों दृढ सेवा करहैं, करहैं सदा बडाई ॥
अमृत क्या उन्माद भयोहै, समझ सोच कछु बोलो ।
क्या जाने किस यह भी होगी, जहिं ऐसी मृदुताई ॥५३॥
सबहि कहेहैं व्यापक हैं वह, कतहुँ न देत दिखाई ।
धन्यवाद है तोको तेरो, कैसो रूप जुदाई ॥
अबलौं सुना न देखा कबहूं, ऐसा रूप अनोखा ।
धन्य जनक तव धन्य जनक तव, जिहिं अस रच दिखलाई ॥
अब वाकों क्या धर्म सुयशकी, रहहै जगमें हानी ।
जिसने बहुतहिं समझ सोचके, तूं कुलतारक जाई ॥
तव प्रताप अब सब काहूकों, दशदिश अतिसुख छायो ।
भा उपकार बहुत कर्ताका, हमहूं रहे अघाई ॥
अमृत तनिक देखना चाहत, जो है जनक तिहारी ।
अरी तनिक दिखलादे जाको, ऐसी है चतुराई ॥ ५४ ॥
पापरूपहीं ऐसी मूरति, कबहुं न दृष्टि परी ।
अरी जुदाई जगत काल क्युं, जन्मतही न मरी ॥
जली बली जलबलके तुमने, जहां ज्वाल पद राखा ।
तहां रहा क्या दीखतही है, सबसुखबेलि जरी ॥
जासों हो न किसीकोंभी सुख, दुःख असह्य ध्रुव देखे ।
धिक्धिक् ऐसो जन्म न जन्मत, जन्मत क्युं न गरी ॥

हमभी करे कुपाप कवन जग, जासों भेट तिहारी ।
अरी पापनी पाप करनसों, कभी न तनिक डरी ॥
अमृत तुमभी डरो तनिक लख, समझ सोच कछु बोलो ।
क्या जाने वाकीहीं प्यारी, हो यह गुणनभरी ॥ ५५ ॥

प्यारा जो है प्रभुका तासों, हम कब वैर बढावेंगे ।
प्रभुहिं जुदाई प्यारी जो अब, हमभी सीस नमावेंगे ॥
हाथ जोड शुभ करें प्रशंसा, धर्म दानभी प्रभुसें है ।
जो प्रभु मनको प्यारा लागे, ताको शुभ यश गावेंगे ॥
वाकी चरणरेणुका सिर धर, आज्ञाभंग न करहैं ।
सीस चहें तो देह तुरतहीं, सुखसों दे सुख पावेंगे ॥
जौ कर कृपा सुदर्शन देवें, करहैं कोमल सेवा ।
तन मन वचसों निर्छलतासों, देखतहीं हर्षावेंगे ॥
ताकी महिमा कहे कवन जग, जो प्रभुको है प्यारा ।
सुनत नाम शुभ अमृत वांका, परमानन्द समावेंगे ॥५६॥

अवर बातकी बात भला क्या, कहो कभी तो आओगे ।
हम तुमरे तुम हमरे कब यह, जीवन वचन सुनाओगे ॥
सदा शरीर आपका है यह, तुम लगहीं हम मनुज बने ।
ऐसे निर्छल वचन सुना कब, दुर्लभ सुख दरसाओगे ॥
प्राण प्राण तुम जीवन सुख नहिं, कभी वियोग तिहारा हो ।
हम हम नहिं प्रियतम तुमहीं हम, अस कहि कब अपना ओगे
तुम सर्वस्व एकहीं साचे, साच कहें सच जानोंगे ।
कहि कहि ऐसे वचन सुखाकर, कब अतिसुख बरसाओगे ॥
तजो तजो अब अवसर को है, सदा सदा हम थारेहीं ।
अमृत ऐसे भाप कृपानिधि, कब सब तस बुझाओगे ॥५७॥

आना चहितहैं निशदिवस पर, भला कब वह आत हैं ।
क्या छोड उनके न्यूनता क्या, सिद्धि सुख बरसात हैं ॥

हमभी बनें यदि कठिन ऐसे, बन सकेहैं मनुज हैं ।
पर क्या करें कछु वश न चलता, चित्तकी सब बात हैं ॥
सब रोकते हैं तब तलकहीं, जब तलकहै हाथमें ।
करसें गया जब सकल हीं, इस चित्तके बनजातहैं ॥
हमभी भला क्या न्यून थे, जब बसेंथे इस जगतमें ।
जैसा चहे कोई कहे अब, जगतसें क्या नातहैं ॥
अमृत विना उनकी कृपाके, बात बनतीहै कहां ।
हम कर चुके हैं यतन सब, जे जगतमें विख्यात हैं ॥५८॥
क्या जाने आगे क्या होगा, जब इमहीं बहतीतेंगे ।
आए सगरेहीं दुख हम पैं, हाइ कथं दिन बीतेंगे ॥
प्रतिक्षण लख लख कभी कृपाकर, कोमलताकों पकडेंगे ।
हम अब अपनी कठिन दशाकों, जहिं तहिं व्रजमें चीतेंगे ॥
हाइ दई अब कैसे बच हैं, जैसे जपहैं सुख अभिधा ।
किम इच्छित फल कभी लखेंगे, जब दिन दिन इम रीतेंगे ॥
दीखतहीं है अभी सीस जौ, आपहिं नहीं लगे अच्छा ।
हमभी अब कसफैंट याहिकों; कठिन शताग्नि पलीतेंगे ॥
फरकतहै अब आंख दाहिनी, ग्रह सब ऊंचे घरके हैं ।
क्या जानें अमृत अब प्यारे, कठिन कुबन्धहिं जीतेंगे ५९
कर्ममन्द है सांच सांच पर, यांका सिर भी फोड़ोगे ।
कब ऐहै वह घड़ी भरी सुख, जब इस छलकों छोड़ोगे ॥
मनमें प्रेम न होता तौ फिर, हम दिनदिन किम खिचते हैं ।
कहो कहो अब तनिक कहो जी, बाहरसें कब जोड़ोगे ॥
बाहर भीतर होहि एक रस, तौही परसुख होता है ।
कृपानाथ मृदु जीवन मनहर, कब तुम भी अस लोड़ोगे ॥
यद्यपि हममें गुण नहिं कोई, प्रेम एक सब गुणका फल ।
दे नहिं कथं वियोग रोगकों, सदा सदाकों तोड़ोगे ॥
यद्यपि हम हैं अघी विमुखही, सदा जगतमें भ्रमतेथे ।

पावन है इक आप कृपाकर, कभी भला मुख मोड़ोगे ॥
सदा उडी कत जांको कबहूं, आवेगी वह बड़ी घड़ी ।
अमृत जामें नाम सिन्धुमें, पाप नावकों बोडोगे ॥ ६० ॥
यद्यपि हमरे मन्द कर्म हीं, मन्द बीजकों बोतेहैं ।
रहें कहांलौं देखेंगे हठ, करो जहांलौं होतेहैं ॥
हमरेभी अब जन्मजन्मको, ऐसोहीं हठ आयो है ।
देखेंगे अब कैसी होगी, हम भी माला पोते हैं ॥
क्या जाने कैसा है बन्धन, जो अबलौं नहिं गराबहा ।
यद्यपि आंसूकों सुर सुरपति, चहें पापकों धोतेहैं ॥
क्या जाने तव मन अति-कोमल, सुनागियाहै वेदोंमें ।
देखेंगे फल कभी मनोहर, हमभी निशदिन रोते हैं ॥
अमृत कब हूं तरस आइगो, देख हमारी कठिन दशा ।
हमभी अब तज खानपानकों, मृदु तनु निशदिन खोतेहैं ॥
जबतक बल था समझ न आई, अब क्या हो पाछे चेते ।
होइगई जो होनीथी हम, समझबूझ दुख क्युं लेते ॥
कर्म कहें या काल कहें या, कहें स्वभाव अमिटना ।
नहि जगसुखकों हम चहतेहैं, नहिं निजसुखकों वह देते ॥
कहो चित्त अब क्युं रोते हो, वर्ज रहेथे नहिं मानी ।
प्यारे देखनकोंही प्यारे, देतेहैं दुख हैं जेते ॥
भोग लिये हैं बहुत बहुत अब, अति असह्यहीं भोगे हैं ।
आगेकी कछु गणना नाहीं, क्या जानें दुख हैं केते ॥
रहिता होगा कहूं जगतमें, भाग भरा सुखभी अमृत ।
तुमकों तो अब समझ पड़े है, थोडेंही हैं दुख एते ॥६२॥
जिसमें रहा न कतहूं दीखे, सुख अभिधाका लेश ।
कबहुँ बसाओगे जग-जीवन, उजरा हमरा देश ॥
अवर किसूसें पूछें तो सब, बस्ताहीं बतलाते हैं ।
आंख खोल जब देखें बैठा, शून्य भयंकर वेश ॥

आंखेंभी अब फूट टूटके, अंधीसी हो बैठी है।
यद्यपि हमभी करत रहे थे, बहुविधका उपदेश॥
गेरूरंगे फटे कुकपडे, धूसर कृश तनु पञ्जरसा।
फिरे नहिं जनु अपना कोई, गलमें खुल्ले केश॥
हो कोमल सुख सुखद प्रेमनिधि, कृपानाथ मनहर अमृत।
सुनियें सुनो मनाओगेभी, कबहुं सुखद गणेश॥ ६३॥
क्या भीतर अङ्गार भरेहैं, बहतेहीं तनु दहते हैं।
कबहुं रुकेंगे हाइ दई यह, आंसू क्षण क्षण बहते हैं॥
कब वह घरी भरी सुख हमकों, जगमें मुख दिखलावेगी।
कभी चहेंगे वह मनहरभी, जिनकों हम नित चहते हैं॥
आवेगाहीं तरस किसुकों, जा समझावेगा वांको।
हाथ जोडके हमभी अब सब, जगकों कहते रहते हैं॥
अवर कहे तो कहो सोच क्या, जगका मार्गहि ऐसा।
आग लगेहै ऐसी जब वह, हमें हठीला कहते हैं॥
अमृत तुमरी दशा देखके, जड हो चेतन चेतन जड़।
क्या जानें अब कहें कवनसों, वहही कैसे सहते हैं॥६४॥
अहो बात क्या मस्तीकी है, अबहुं निहोरे हैं थोरे।
कहो बनोगे हमरेभी तुम, कभी सदा हम हैं तोरे॥
हमरा सुख इक आप सुखाकर, तुमरा सुख जो होगा हो।
साच कहो कछु थोडासा भी, रखो प्रेम या हो कोरे॥
लिखके हमकों सखा वेदमें, समाचार अब क्या कहिये।
बाहरसें तो दीखतहीं हो, भीतरसेंभी हो गोरे॥
क्या जाने वह गीतामें किस, लिख बैठे हैं मीठेसे।
प्यारोंपरही बिके एक हम, प्यारेहीं जीवन मोरे॥
क्या जाने अब क्या होवेगा, किसे सुनावें दुख अपना।
रोने दो इस मनकों अमृत, जिसने हम दुखमें बोरे॥६५॥
वर्त्तमानकों भोग रहे हैं, आगेसें लांगे भीती।

हमहीं नहिं ध्रुव वहभी जाने, जैसी हमपर आवीती ॥
हमभी कभी जगतमेंहींथे, जीतेथे कछु सुखभी था ।
एकवारहीं दूर किया जिहिं, जीवो जिसकी यह रीती ॥
वातवातमें आकेहीं मन, दुर्लभ पदमें जा वैठे ।
मनहि करें सव कहें वेदवुध, हमसेंभी मनने कीती ॥
हे उपदेशक कहे कवनसें, सुने कवन है कहां कभी ।
हमभी क्या जगमें नहिंथे क्या, जानत नहिंथे यह नीती ॥
कहो समझके तो कछु अमृत, देखो क्या उन्मादी हो ।
लखो कृपावल संपदासुरी, योग विना सहजे जीती ॥६६॥
देखोगेभी कवहूं निजयश, मानोगेभी श्रुतिका ज्ञान ।
छांड़ोगेभी हठको मनहर, राखोगेभी हमरा मान ॥
हम तो रहैं तनिक निहारो, मम जीवन तो तुमही हो ।
लाओगेभी कवहूं मनसें, प्रतिक्षण हमरा शुभ यह गान ॥
क्या गाने देखेंगे कवहूं, हमभी शोभनमुख वांको ।
सुनीगई है गीतामें जो, तुमरी सखासुहितकी वान ॥
कहो कहो कछु कहो कहोजी, कोमलता किसकों कहते ।
क्या समझे को हम समझावें, कहिये वांको होइ अजान ॥
अमृत अव तो तनिक न देखें, वहुत देर हमको लागी ।
भीषमजीके वारेयाने, कैसे छोड़ीथी निजआन ॥ ६७ ॥
जिनपर कृपा न गिरिधरजीकी, तिनकोहीं निशदिन वहकात ।
सुन उपदेशक जगके हमसों, जो हैं साची साची वात ॥
देह गेह जग खानपानसुख, देखाहै किसने कतहूं ।
वुरा भयो तो कोहीं दीखे, जाकों सूझे दिनमें रात ॥
वुरा भयो अन्धोंके मतमें, भयो हमारा तोकों क्या ।
करें कृपा जौ तोपर हम तो, जानो जगका जो है नात ॥
है यह तुच्छ तुच्छकों दीखे, सत्य सत्य जो दिखे नहीं ।
तुमरे जैसे चतुर जगतके, पडते हैं लख भूतलखात ॥

है अमृत संकल्प एकहीं, हमकों तो सोभी मीठा । *[६८
तुमकों तो लख उभय लोक दुख, दुख विक्षेपजन्य नहि जात*
देखें मनहर रहे कहांलौं, माहुरव्रण यह निशादिन खावत ।
हम अपराधी दीन तिहारे, करिये जो है मनको भावत ॥
चाहे राखो चाहे मारो, चाहे दुखमेंहीं मुर्छाओ ।
चाहे अपना सुख दरसाओ, तुमहीं तो सब विश्व नचावत॥
बहुत दिवस वीतेहैं दरपै, ऐसेहीं कहते कहतेहीं ।
कभी सुनोगे तुमभी देखें, जो हम प्रतिक्षण तुमहि सुनावत॥
कहतेहैं सब सुनतेहैं वह, सबकाहूंके दुखकी सगरी ।
देखरहे हैं हमभी बैठे, कब वह घरी भरी सुख आवत ॥
पड़ेरहो दरपैहीं तुमकों, अवर ठिकानोभी तो नाहीं ।
कबहूं तो पिघलेंगे अमृत, देख दशा जो विश्व रुआवत ६९
अजलौंभी दिखलायचुके हैं, अब क्या यांको दिखलावें ।
अब तो कतहूं चित्त न लागे, कैसे मनकों बहलावें ॥
विरहतापसें मज्जामेदा, द्रवणनिमित्तक जो सरदी ।
तपन ज्वलन उलटेहीं दीखें, कासों यांको विनसावें ॥
हिमकरनाम यांहिका किसनें, राखाहै उलटेसेनें ।
हमकों आग लगे है यांके, देखनसेंहीं जलजावें ॥
शीतसुगंधमन्दवायूकों, सुख कहतेहैं कहने दो ।
चौगुणदुख हो हमकों तो अब, कांको मनकी बतलावें ॥
जगलावण्य मूर्च्छा देहै, भोग लगेहैं महुरेसें ।
अमृत सब जग तप्त आगसा, चहें काल पर कब आवें ७०
हो समर्थ नहिं तजिये दरपै, आयो रङ्क अमीर ।
गयो काल बहु समझोगेभी, बेदरदी बेपीर ॥
कौलौं कहें सुनावें कौलौं, वह क्या जाने तरस ।
लगी कवनसों जानत नहिं जो, होती है क्या पीर ॥
जो देखे सोई घबरावे, वही सुने सर्वज्ञ ।

होंगे अतिकोमल सहतेहैं, तसनयन झरनीर ॥
हे उपदेशक हमभी यांको, रोइलिये वहुवार ।
समझलिया यदि कहै चतुर्मुख, कभी न हो मनधीर ॥
अभिधाका है व्यापक अमृत, वैसे निकले ईश ।
सुनेगयेथे जगकेहीं इक, होत कठिन दिलगीर ॥ ७१ ॥
अपना मानेको वल अव हम, किसको भला परेखेंगे ।
जो जो तुम दिखलाओगे हम, निर्वल सो सव देखेंगे ॥
अवर नरक यासों क्या होगा, जो अव तुम दिखलातेहो ।
क्या जाने अतिमन्दभाग्य हम, क्या क्या तोसों पेखेंगे ॥
यदि तोकों अच्छे नहिं लागें, हम अतिदुखिये मैलेसे ।
हमभी अव अतिमोद मानके, अपनेकोंही भेखेंगे ॥
रोरोके अव हमनेभी कछु, समझलिया है करना क्या ।
जहां आपकी इच्छा होगी, तांको हमभी रेखेंगे ॥
अमृत जे जे दुख हैं वांके, सो सव परसुखहीं दीखें ।
शक्ति कहां है कृपा सखाकी, सिरदेकेभी लेखेंगे ॥ ७२ ॥
अपना हो तो सुने भला मति, किसे सुनाके रोती है ।
तव दूर आके देखें क्या अव, दशा हमारी होती है ॥
सुनेगयेथे कोमल मनके, कल्पवृक्ष पापीपावन ।
कृपाभरे मनके क्या जाने, कहां वात सव सोती है ॥
समझलियाहै हमनेभी जव, लागगई फिर तजना क्या ।
तजतेभी जौ तजी जात यह, नहिं कछु हिमका मोती है ॥
क्युं रहती यह दशा हमारी, जौ न पाप कोई रहता ।
नामध्यानसें यद्यपि निशादिन, वुद्धि सजग हो धोती है ॥
अमृत वह तो चहें वहुतहीं, हमसेंभी दूनादूना ।
वनी वातकों अव तो निश्चय, किसमत हमरी खोतीहै ७३
जांके सिरपर आय वनेहै, पड़ताहै सवकों सहना ।
कवहुं त्याग मन सोचनकों वह, जहिं राखें तिमहीं रह ना ।

सोचत सोचत गयो काल यहु, विना सोच कछु फले नहीं।
विन आईक्युं मरो भयो क्या, दिखे नहीं निष्फल कहना।
कहिये तोकों चाह कवन है, जो है चाह न होनी है ।
गई आयु संभावन करते, तज यहभी अव क्या चहना ॥
देख लियाहै परखलिया है, यदि कछु देते वहभी मन ।
तो हम ऐसे कैसे रहते, नदी समझके क्युं वहना ॥
अमृत को समझावे यांको, चाहे सिरकोंभी फोड़ो ।
यांके एक न लगे कठिन है, मनका लगना अतिगहना ॥७४॥
किसमतकी है वात सकलहीं, होता है जो वोता है ।
जो कछु समझ फसेथे मनहर, सो सव उलटा होता है ॥
समझाथा है अतिकोमलहीं, तोसा कठिन कवन जगमें ।
उलटा अवश एक हम तुमनें, अविवेकीहीं खोता है ॥
अलभ अलौकिक षड्गुणका फल, क्या है भीतर देखोभी ।
तुम हो आप्तकाम कहें क्या, सदा दास यह रोता है ॥
जीवनकोंभी जीवन तिनको, नहि अदेय कछु है मोरे ।
जिनकों हम इक प्यारे यह प्रण, कहां गयो क्या सोता है ॥
या अवतकभी हमकों कवहूं, लगे न होगे तुम प्यारे ।
मेरी शपथ पुछे हैं अमृत, साच सकलसुख सोता है ॥७५॥
सकल उपाय किये पर तौभी, तनिक कठिनता नहिं थाकी ।
लखो न लखो कहो तो थोड़ा, कवन वात है अव वाकी ॥
जगका निजका सुख यदि हमरे, तुमकोंभी दीखत होगा ।
कहें कहांलौं सव जानतहो, सव सुन्दर जो तुम ताकी ॥
तनु नहिं कपड़ा खानपान नहिं, सोना किसकों कहते हैं ।
आंसू झरी गरीसी श्वासा, शोक सदाहीं तनु खाकी ॥
उड़ती दीखे विश्व तोह सव, सुरपतिमाया ब्रह्मालौं ।
तनिक श्वास लें है अस्पर्शी, कवन तोह विन है आकी ॥
भोगलिये हैं भोगरहे हैं, भोगेंगेभी दुख जितने ।

अमृत क्या अब तज भागेंगे, तब दुखमें सुखमति बाकी ७६
हम हैं जीव भला क्या जानें, मनकी तो प्रगटाओगे ।
जो कछु अवर कराना होवे, मुखसें तो बतलाओगे ॥
ऐसी रूठनि कवन कामकी, जो कबहूंभी नहिं जावे ।
जानेदो जी जानेदो अब, कब करुणा बरसाओगे ॥
जो निजसखा आपहीं निज प्रिय, तज प्रिय अवर बनाता है ।
आए शरण सभी गललावें, तुम इमहीं तरसाओगे ॥
दिखे नहीं क्या तबसें जो सुख, जबसें भूलगये तुमकों ।
याद भये जब तुम जैसे क्या, दुखहीं दुख दरसाओगे ॥
सत्य कहेंहैं शपथ खाइके, भुजा उठाके प्रण रोपी ।
अमृत अमृत तब होवे जब, अमृत-मुख दिखलाओगे ७७
हम तो चहतेथे ध्रुव इमहीं, तुमकोंभी कबहुं भावें ।
यदि इमहीं हो सुख प्रभुको तो, कहो छोड़ हम चलजावें ॥
बसते रहो सदा सुखसेंहीं, देश तिहारा बसे सदा ।
तब संबन्धी सुखसों जीवें, सदा सदाही हुलसावें ॥
हमरा क्या नहिं बाहुर घरके, नहिं हैं देश न संबन्धी ।
जिये मरे हम अभी एकसे, सब जानो क्या समझावें ॥
हमरा आश्रय कवन जगतमें, दीखत होगा प्रभुकोंभी ।
ऐसे हमहीं हैं इक ऐसे, फिर जीतेहीं दरसावें ॥
एक बात राखे प्राणोंकों, तुमभी जानतहो सर्वज्ञ ।
सो उपाय तो कहो न जासों, फिर अमृत मुख दिखलावें ७८
हमहीं नहिं कछु कहें वेदबुध, साची इमहिं बताते हैं ।
मिलनेसें क्या मिले तोहि मन, सुन तब धर्म सुनाते है ॥
कोई चाह न धर्म तिहारा, समझ प्रेमकी अवधीकों ।
वांकी चाह चाह है थारी, तृप्त प्रेमनिधि गाते हैं ॥
मग्न रहो इस दुर्लभ सुखमें, सदा सुखी हुलसाओगे ।
तांको भजिये कबहुँ न तजिये, जो सज्जन बतलाते हैं ॥

अपना सुख तज चहो अन्य सुख, सुख वांकाहीं सुख थारा ।
जो निजधर्म न ग्रहें मोहवश, तव सम दुखहीं पाते हैं ॥
अवर न तुमरे एक चाह इक, रही तजो यह दुखहीं है ।
वांका सुख सुख चाह शून्यता, दुर्लभ-पद बतलाते हैं ॥
नाम जपाकर ध्यान कराकर, अपनी ओर निवाहो तुम ।
वांकी ओर सभी है अच्छी, दृढ हो नहिं घबराते हैं ॥
मिलन प्रार्थना यहभी आज्ञा, यह क्या धर्म तिहारा हैं ।
तज इस मतिकों झटितीयासों, धर्मरहित कहिलाते हैं ॥
देख समझले कभी मानले, वारवार हम समझावें ।
आपे तुमने रोग लगाया, औषध तोहि न भाते हैं ॥
अमृत कवन कुभाग्य हमारा, जासों तजे न यह आशा ।
इम समझानेसें हम यांको, द्विगुणे नांहिं सुहाते हैं ॥ ७९ ॥
करे विना नहि सरे जांहिके, हैं संकल्प शीघ्रहि तरिये ।
जो कछु आगे करना होवे, तांको अवहि न क्युं करिये ॥
एक कायमें दुर्घट देखें, कायव्यूह रचिये मनहर ।
अब तो पकर अनुग्रह निर्भर, शीघ्र असह्यकुदुख हरिये ॥
प्रभु समर्थ सिद्धि सब सेवें, ब्रह्माकालहुं डरते हैं ।
जब चाहो तबहीं हो तैसा, कबहुं दासको चित धरिये ॥
कर्मकर्म यह कथा कवन है, हम नहिं चाहें फल यांका ।
विनचाहे हठसें हो दानी, अब पईयां कांके परिये ॥
अमृत अब तो समझलिया है, ऐसीहीं होती दीखे ।
जीमें आती है अब ऐसी, जाइ कहींभी मररहिये ॥ ८०॥
हाइदई अब कैसी जागी, कैसा जागा मननोचन ।
अपना सोच याद है किसकों, कैसा आया है सोचन ॥
सबहिं कहेंगे अब तो वांको, दयारहित वेदरदी भी ।
निन्देंगे वेदोंको सगरे, किम होगा यांका रोचन ॥
चारवाकका विजय होइगा, शिष्ट दुरेंगे कंदरमें ।

वेदविहित सब धर्म नसेंगे, सुखद नामका हो लोपन ॥
सन्तोंको सब वञ्चित कहहैं, वञ्चक ऋणी कहावेंगे ।
सुखका लेश न रहै कतहूं, इन्द्रियगणका हो मोचन ॥
विगरेगो अब सबकी सगरी, हाहदई कैसी होगी ।
अमृत अब तो कृपा सफल यदि, करें कृपा वह जग-लोचन ८१
कोमलताभी आवेगी कछु, कबहुं कठिनपन जावेगा ।
दशा देख तरसोगे कबहुं, कबहुं अनुग्रह आवेगा ॥
ऐसेहीं दुखहीमें आयु, गई रही है कछु थोड़ी ।
अब तो सुखको देलो क्या मन, पाछे नहि पछतावेगा ॥
यदि होते हम तुम तुम हम यह, लखिये गव्हर सोचन है ।
तुम भी हम समहीं रहते क्या, समझे को समझावेगा ॥
कवन मनावे इतना किसको, आप आपको सब चाहैं ।
हमही हैं इक ऐसे लखिये, पाछे कवन मनावेगा ॥
प्राण कण्ठमें आवा चाहैं, तजन चहत हैं हिरदेको ।
अमृत जीते जी हमकोभी, सुखक्षण मुख दिखलावेगा ॥८२॥
ऐसेहीं रहहै या कछुभी, सुखकी बात सुनाओगे ।
जानेदो पिछलीको अब निज, ओरमांहिं कब जाओगे ॥
वेदवड़ाई देखोगे कब, कब निज-विरुद निहारोगे ।
कब निजमृदुता कृपा नित्यको, कृपाधार हुलसाओगे ॥
कब निजप्रणको देखोगे कब, पापीपावनअभिधाको ।
कब स्वतन्त्र जनपति दुखमोचन, कल्पवृक्ष कहलाओगे ॥
कोमलता मनहरताको निज, आश्रय एक जगत जाने ।
कोमलताको दिखला शङ्कित, कब कुविरोध मिटाओगे ॥
मरना जीना एक ओर हो, आवे जिसका जी चाहे ।
अमृत या लिखकेहीं भेजो, आओ या नाहिं आओगे ॥८३॥
यहीं लिखा है दीखितही है, आप अधिक क्या गाओगे ।
भोगेंगे यह कथा कवन कछु, मनकीभी वतलाओगे ॥

जो कछु होवे साची कहदो, इतनेमें क्या हानी है ।
सुन जो होगा होवेगाहीं, तुम तो निजसुख पाओगे ॥
हमरे मनकी सुनो सुनावें, साच साच तुमभी जानो ।
अनुकम्पाकोंहीं चहते हैं, यांका मुख दिखलाओगे ॥
इतनेमेंभी हमकों सुख कछु, मिल है अव्यभिचारी है ।
मनमृदुमें जो धरी वात सो, हमसें नाहीं दुराओगे ॥
है यह पाठक कठिन पढाए, बोलेंगे कब किम अमृत ।
इनके आगे गला काटके, यदि तुम मरभी जाओगे ॥८४॥
धर्म न चाह एकभी यद्यपि, मनको को समझावे है ।
जो प्रभु चाहें हमकोभी सो, सबदोंके विन भावे है ॥
नाशो कर्म काल या भेजो, तौ स्वतन्त्र हमभी कह हैं ।
ऐसे जो चाहो कहलाबो, तुमकों सभी सुहावे है ॥
बलवतका सौ बीसीका सौ, हो है सब जग कहता है ।
हमने तो इक बात कहीहै, तोकों कवन सुनावे है ॥
यह तो हैं सब जगकी बातें, निर्धनकों धनपति बोलें ।
तोहि स्वतन्त्र मृदुल श्रुति डरडर, हाथ जोड़ बतलावे है ॥
मरनेकों चहते हैं क्षणक्षण, बैठे वही उडीके हैं ।
अमृत अब डर क्या बोले हैं, जो कछु जीमें आवे है ॥८५॥
अब तो घाव बढा है ऐसा, दिनदिन दूना चढता है ।
हमारा घर राखे कछु देखो, क्या कछु घरमें घटता है ॥
मृदुल सुहृत् मृदु-प्रेमभरे दृढ, कल्पवृक्ष जन पक्ष भरे ।
कृपाभरे जन दोष अलोकन, सुखद-नामफल पटता है ॥
वेदपुराणवचन जनवाणी, जे सब प्रभुकोहीं पूजें ।
इमहीं तो जगसीस विराजें, जासों नास्तिक लटता है ॥
उलटनसें उलटेसे लागें, जीवधर्म क्या थारा है ।
कहते हैं ले उक्तनाम क्या, जाने मन नहिं रटता है ॥
हम जामें निष्फल क्या हानी, यह असह्य कैसे सह हैं ।

क्या जाने अब कवन हेतुसों, तुमरा मार्ग अटता है ॥
फटा न मिलता है मन अमृत, ऐसे सबहीं कहते हैं ।
हम तो सब-उपाय कर बैठे, क्या जाने किम फटता है८६

छंद ।

वेद नित्य गावत हैं, कामधेनू पावन हूं ।
करे आप बिन कौन, तांको अब पालन हूं ।
तांकी घटतीकी ओर, नीके कैनिहारिये ॥
बिरुदबड़ाईकी घटाईमें क्या हानि नाहिं,
यद्यपि हो ज्ञानवान् तथापि अलसा-
नि नाहिं हांहां कलियुग तौभी, योग्यताको टारिये ॥
साच आप ईश मायापति हम जीव दीन,
आप पापहीन हम पापमें प्रवीण पीन ।
द्वारमेंभी ठहरे हैं, यहभी तो निहारिये ॥
अमृत न देखो मम ओर निज ओर देखो,
मायाके हैं गुणदोष, यांकी ओर नाहिं पेखो,
अब जैसे होसके तैसेंहुं कृपा परिये ॥ ८७ ॥

छंद ।

दिखे उसीकों बहुत कहा है, कहांतलक दुखकी कहिये ।
क्या है देखनकों जगमें अब, जीमें आवे मररहिये ॥
नदी मिले तो डूबें या विष, मिले मोदसों खाजावें ।
शस्त्र मिले तो गलकों काटें, आग मिले दुख तनु दहिये ॥
हे विधि यादे नेत्र नहीं तो, मरणहेतु झटिती दिखला ।
दिखे नहीं क्या वृद्ध भयो हो, किम असह्य यह दुख सहिये ॥
हमभी आए हैं जगमें कछु, जगकी बात बनातेभी ।
हे उपदेशक समझ न तोकों, मनकों कैसे किम गहिये ॥
जहिं देखें तहिं आग लगी है, सबहीं जलतेहीं दीखें ।
क्या जानें इस तनुके अमृत, मरणलिये क्या क्या चहिये ८८

क्या बात सगरी है लफाफेकीहि घरमें सोचलो ।
हम जगतरचना समझकेहीं, कहत हैं आलोचलो ॥
यदि विघ्न हमरे अमरही हैं, अमिट है प्रण आपका ।
तो जानदो अवसर नहीं कर, कृपा आंसू पोचलो ॥
थे एक भीषमहीं अमिटके, मेटनेको जानते ।
हमरे न मति यदि आप चाहो, बात क्या है मोचलो ॥
अमृत रहेथे मोहनिद्रामें सुखीसें गूढसो ।
किसने कहाथा आ अचानक, आप हमकों नोचलो ॥ ८९ ॥
जिनके पीछे लाग कठिन दुख, आगमांहिं तनु दहतेहैं ।
क्या जाने मम पूज्यवेद भी, कैसी साची कहते हैं ॥
हम तो इनके वचनमात्रसें, तनुमें भस्म रमाई है ।
खानपानजगसुखको तज इक, यांको कथितहीं चहते हैं ॥
तांको अवलौं पता न मिल है, व्यापक वेद सुनाते है ।
क्या जाने अव कहां गये हैं, निशदिन आंसू वहते हैं ॥
यदि होते सर्वज्ञ सदा वह, कतहुं मृदुल श्रुति गाती हैं ।
देख दशा अवतक किम रहते, कृपाभरे कव सहते हैं ॥
अमृत अव तो जानलिया यह, ऐसीहीं कछु वातें हैं ।
क्या जाने यह वेद सदाहीं, कैसी कहते रहते हैं ॥ ९० ॥
संशय यामें कवन भला अव, ठीकठीककर जाचा है ।
समझलिया है बहुत वातसें, वेद तिहारा साचा है ॥
इतनेहीमें हमजैसोंकों, समझलिया होगा प्रभुने ।
कमती क्या कृतकृत्य भयो यह, पायो फल वहुनाचाहै ॥
दर्शन विन कछु नाहिं सुहावे, जे प्रेमी मनके साचे ।
ऐसा पत्र प्रेमियोंकाभी, तुमने कवहूं वाचा है ॥
अभिमुख होके जौलौं इकदो, बात नहीं कहते सुनते ।
तौलौं वांका जीव कहां है, तनमनसें जो राचा है ॥
अमृत पहले सुनतेहींथे, अब तो आंखों देखलिया ।

वेद सत्य है सदा सत्य है, जीवहिं मनका काचा है ॥९१॥
घरहीमें क्या धसे रहोगे, कबहुं बहिरभी आओगे ।
सिर कटवानेको बेठेहैं, कब तलवार चलाओगे ॥
सुनते हैं या नहिं अहीरके, सुनलो तनिक हमारीभी ।
कहो कहांलौं ऐसेहीं तुम, विना बात तड़फाओगे ॥
दुख कहते हैं किसको है वह, कवन कहीं रहता होगा ।
है स्पर्श अब कहांकहांलौं, यासौंभी भटकाओगे ॥
देते हैं सिर लेते नहिं हो, यामें क्या घरसों जावे ।
कहो कहो कछु तनिक सुनादो, कब असिकों चमकाओगे ।
अमृत सिर काटनकों चहिये, हाथ हलाना थोड़ासा ।
यांको जीभ हलाना दुर्घट, अस मृदुता कहँ पाओगे ॥९२॥
वेदकथन शुभ सबहिं सत्य है, तज तोकों अब भागेंगे ।
हमकोंभी अब भाइगईहै, कब तोसों अनुरागेंगे ॥
मारे इस प्रेमीनेंहीं हम, नहिं तो हमभी सुखिये थे ।
लगा दाव तो हमभी मनकों, ब्रह्मअस्त्रको दागेंगे ॥
जैसी हमसें इसनें कीनी, विना बात दुखमें बोरे ।
हम सज्जन हैं भीतर बाहर, यांको सुखसें पागेंगे ॥
बहुत कहा अब पीछा छांड़ो, कब समझे यह प्रिय तनुमन ।
कबतक सिरकों फोड़ेंगे हम, कबतक निशदिन जागेंगे ॥
अमृत बहुअभिमान रखोथे, अब देखो कैसी बीती ।
तुम तो कहतेथे प्रणसों अब, मनके कहे न लागेंगे ॥ ९३ ॥
समझेंगे अब वांको जिसनें, सोती कलह जगाई है ।
प्यारेका है दोष कवन अब, मनके साथ लड़ाई है ॥
यह मन हमकों तुच्छ समझके, जो चाहे सो करता है ।
जाने नहिं कछु हानिलाभकों, एक प्रिया ल्याई है ॥
हमभी यांके पाछेहीं दृढ, लागरहे बहुजन्मनसें ।
जो यह करहै सो हम करहैं, यांकीहीं प्रभुताई है ॥

जगमें लगता मिलता तो ध्रुव, यानें कवन टटोले हैं ।
जांको अबलौं खोजतहीं वहु, ब्रह्मा आयु विताई है ॥
अमृत मननें ठीक कहा है, यांको दोष न कोई है ।
क्या जाने को हेतु गुणनकी, पङ्क्ती वहां समाई है ॥ ९४ ॥
भया कवन गुण यांके लायक, वहुतहि यांकों भाए हैं ।
कारागारजगत्में क्या इक, हमहीं तोकों पाए हैं ॥
ऋतु वसन्त कहते हैं किसकों, कोईभी ऋतु क्युं नहिं हो ।
हम हैं वही वही है बन्धन, वही तड़फने छाए हैं ॥
होता होगा इकदोतीनहुं-वर्ण किसीकों क्या ऐसा ।
हमनें ऐसे बन्धनमेंहीं, आयू वर्ष विताए हैं ॥
हम मनकोंही दोष लगावें, मन वांकोहि लगाता है ।
जिसनें डौंडी पीट वेद्में, अपनें गुन प्रकटाए हैं ॥
अमृत है तुमकोंभी प्यारा, दुर्लभ किसकों मिलता है ।
ऐसा है यह तड़फन थारा, जिसनें वह हुलसाए हैं ॥ ९५ ॥
आया है क्या कठिन काल सब, जगहीं इकमग वहता है ।
तजे दया क्या ब्रह्मअण्ड सब, कोइ न कांकों कहता है ॥
ब्रह्मालौं सब देखरहे हैं, जो अब हमपर वीते है ।
क्या जाने सब देखदेखके, जग चुपका हो रहता है ॥
अबलौं तो कछु विषका फल नहिं, सुना अभी क्या बौराए ।
शंकरभी अब तनिक न देखें, प्राण चलनकों चहता है ॥
मृदुलतरङ्गा गङ्गा आर्द्रा, जगदम्बाभी कृपामयी ।
कहें न वासों कछुभी जो विन, बात दीनतनु दहता है ॥
सुनेगए हैं सवहिं कहें हैं, मृदुल न वासम कोई है ।
अमृत श्रीबलदेवकृपामन, कैसे जनदुख सहता है ॥ ९६ ॥
चाकी गाड़ी गाड़ी चलती, जगके उलटे बाने है ।
लोक कहें कछु नहिं की वानें, करी कृपा हम जाने हैं ॥
होती आई सदा जगत्में, बुरा कहें अच्छोंकोंभी ।

हैं विरले जे सज्जन जगमें, बुरा भला पहचाने हैं ॥
यदि प्रेमज-चिन्तन नहिं होता, होता जीवनका तौभी ।
ऐसा को जो चिन्तनरीता, जगकी कब हम माने हैं ॥
ऐसे पुण्य कवनके जगमें, ऐसी दशा कहां दीखे ॥
धन्यधन्य हमकों हम सहजे, जगदुखसें अलसाने हैं ॥
धन्यधन्य गुरुकुल संबन्धी, धन्य भूमि जहिं पद धारे ।
धन्य देश यह धन्य वेश अब, ब्रह्माभी सन्माने हैं ॥
कहनेदो यांकों अमृत अब, कैसे तजें अलभ सुखहै ।
ऐसा को है जगमें जांको, सब अच्छाहीं बखाने हैं ॥१७॥
अपनेमेंही रहिता यासों, हमकोंभी कछु फल पटते ।
सिरका फल अब क्या दीखे क्या, जाने किम नहिं वह कटते ॥
जानूपरहीं धरा रहित है, झुकनेका है बल किसकों ।
अवरकाज तो पहलेहीं ध्रुव, सकल गये हटते हटते ॥
हमहूं दरपर पड़े अचल हो, कबहूं जीमें आवेगी ।
हिलनेकी अब शक्ति कहां यह, दशा भई लटते लटते ॥
क्या जाने किम दरद न आवे, कैसे हैं वह बेदरदी ।
अबभी तनिक न देखें छाती, सबहिं फटी फटते फटते ॥
सब प्यारोंमें कवन मृदुल जब, लगे टटोलन सबकों हम ।
क्या जाने कैसी समझे हम, रहे यही छटते छटते ॥
अवर कहीं तो दीखतहीं नहिं, यही धर्मके पति रक्षक ।
युगप्रभावें धर्म गिया क्या, यासोंभी घटते घटते ॥
क्या जाने वांकी कठिनाई, ब्रजरजमेंभी छाई है ।
यांकेभी कछु दया न आई, आयु गई चटते चटते ॥
अमृत वेदहुं कहते हैं यह, नाम कटे बन्धन सगरो ।
क्या जाने हम कैसे हैं बहु, काल गयो रटते रटते ॥ १८ ॥
क्या अब कहें सहें अब कैसे, क्या असह्य-दुख आइ छयो।
अब तो देखो तनिक कृपानिधि, ऐसेहीं बहुकाल गयो ॥

हम हैं वही वही दिन वह दुख, वही रुदन झर लागी है।
ऐसे कठिन भये तुम कासों, को ऐसो हम चीज वयो ॥
आयेथे सुन वेदनसोंभी, वह सुखदायक सबके हैं।
क्या जाने क्युं जग जन्मे हम, उलटा तुमनें ताप दयो ॥
प्रतिक्षण तोसों सुखकों चाहें, सुखकी बात कहां दीखे।
उलटा प्रतिदिन जागतहीं है, दुखही आके नयो नयो ॥
अब तो दरमें पड़हिं रहे हैं, अतिदुखिये भिक्षुक अमृत।
देखरहे उस क्षणकों जो क्षण, हमकोंभी हो मोद भयो ॥९९॥
कवन दूसरा ऐसा है जो, तुमसें चतुर कहावेगा।
कैसे प्रभु अब मानोगे तुम, कवन तोहि समझावेगा ॥
आपहिं तो गुरुकेभी गुरु हो, पातञ्जल श्रुति गाते हैं।
निरावरण सर्वज्ञ शक्तकों, पर क्या अलख लखावेगा ॥
जांकी वाणी समझ न आवे, विना आपके समझाये।
ब्रह्मादिकभी थके तोहिकों, अवर सुना हुलसावेगा ॥
जांके भयसें काल इन्द्र सुर, ब्रह्मादिकभी डरते हैं।
सबहिं करें आज्ञा कर जोरे, तोकों कवन डरावेगा ॥
सद्गुण सकल निरतिशय कबहूं, देखेंगे पद चूमे हैं।
कृपास्वभाव विना इक अमृत, तोको कवन रिझावेगा ॥१००॥
पत्थरभी यदि वीणा होते, वीणासम ध्रुव बजतेभी।
प्यारेविन नहिं मन लागे यदि, होता तो समतज तेभी ॥
जगके प्यारे सकल टटोले, निजहितकेहीं प्यारे हैं।
हमभी होते प्यारे जांको, तो सम वांको भजतेभी ॥
श्रुतिभी ऐसे कहतीहीं है, हमभी चहें छपानेको।
वशसें बहिर प्रीतिहीं तो है, कजीजात जो कंजतेभी ॥
जगउपदेशक कहिता है अब, यांके निकट कहां लज्जा।
क्या समझावें योग्य नहीं है, हो कुकर्म तो लजतेभी ॥
ब्रह्मलोकलौं भोग सकल जे, इनसें क्या कछु होता है।

निजस्वभावसें वही कृपा जो, करते तो ध्रुव रजतेभी ॥
लोक सजें घरघर सब उनके, मनकी सबहीं होती है ।
हमरेभी यदि होती ऐसी, हमभी मङ्गल सजतेभी ॥
यदि नहिं कृपा भरे निजमनसें, यह अहीर मनमें बसते ।
मनहीं तो थाहीं अमृत तो, हमभी जगसम पजतेभी॥१०१॥
विनती कर कर हारे कोई, कर्म कभी तो चेतेभी ।
लिखा होत मस्तकमें जो तो, हम सुख प्रभुसों लेतेभी ॥
दोष आपका कवन सकल यह, हम कर्मनकी बातें हैं ।
भोगरहे हैं दूरपै प्रभुके, थोडे हैं दुख एतेंभी ॥
भिक्षुक क्या मांगे है हमसें, हमरें पास दिखे क्या है ।
सिर है एक रहा वह लेते, यदि वांकोहीं देतेभी ॥
क्या जाने मन कैसा है यह, किस हठराज बनाया है ।
क्या यह हठकों तज है चाहे, देलो तुम दुख केतेभी ॥
अमृत यह अब सोच कवन है, हमसम हमहीं जग आए ।
कटेजातहैं दुखमेंहीं इम, हमरे हैं दिन जेतेभी ॥ १०२ ॥
हम क्या कम थे हमभी मङ्गल, सजसज घरमें धरतेभी ।
यदि होते हमभी जगमें तो, तनुकीभी कछु करतेभी ॥
यदि जीते या मरतेभी तो, एकतर्फ होहीं रहते ।
बल नहिं रहा करें क्या नहिं तो, कठिनकर्मसें लरतेभी ॥
क्या वियोग जरनेका है यह, जरा जात होगा किससें ।
क्या जाने वह इक है कैसे, होता विष तो जरतेभी ॥
वासों क्या कछु अराजात है, वाहीपर विकबैठे हम ।
यदि होती माया या तांका, कार्य तासों अरतेभी ॥
जगउपदेशक कहता है हम, फरे जात हैं धनसुतसों ।
ऐसा फिर क्या बोलसकत यह, हमभी कबहूं फरतेभी ॥
हमभी क्या जगमें आके इम, दुखियेहीं इक कहलाते ।
कठिनकर्मसों यदि इक क्षणभी, वासों सुखको वरतेभी ॥

सव कहते हैं मिलता है सो, जो कछु जीमें आता है।
पाद न उठें करें क्या नहिं तो, हम हिमगिरिमें गरते भी॥
अवतक जगमें आके हमनें, सिरका फल कछु नहिं देखा।
मिलजाते कवहूं यदि वह तो, वांके पईयां परते भी॥
वेद कहें अमृत जो यांको, तज जीता है पापी है।
वांकोंभी तो दीखतहोगा, यदि जीते विधि मरतेभी १०३
देख दशाकों भला किसीकों, कवहुं तरसभी आवेगा।
को ऐसा जगमें जो हमकों, वामनकी समझावेगा॥
अनुमितिसें तो होता है, संभावन जो कछु होता है।
कृपाभरा कोई साचा कव, आके साच दृढावेगा॥
होगा वह दिन कवहूं जगमें, हम भागी कहलावेंगे।
या कर कृपा काल निजदिश लख, हमारा खोज चुकावेगा॥
हाइ दई ऐसी तो कवहूं, सुनी नहीं किसपर वीती।
हमदीनोंका कहनाभी कछु, वांके मनमें आवेगा॥
अमृत तुमभी कैसे हो कछु, धीर बनो कछु समझोभी।
क्या जानें अबभी हमकों मन, क्या क्या ताप दिखावेगा १०४
सुनिये तनिक अहीर तात कछु, वेदमांहिं भी जाओनी।
जो कछु प्रभुकों प्यारा है सो, एकवार समझाओनी॥
यदि होगा करदेखेंगेभी, कैसा है वह कहिये तो।
कहते हैं सब तोकों कामद, हमसें तो कहलाओभी॥
जो होता है अभिमुख तांकों, कर अपाप मिलजाते हैं।
झटितीहीं बुधवेद कहें हैं, तुम कवहूं तो आओभी॥
सुखस्वरूप सुखदायक तोकों, वेद जगत्सव कथन करें।
हम हैं कैसे समझ न आवे, कबहूं सुख दिखलाओभी॥
अमृत तो मार्गमें बैठे, ध्यान लगा है वाहीका।
दया कहेंहैं किसकों कहिये, तुम तलवार चलाओभी १०५
क्या ज़ाने इनके है कैसी, कैसी वांकी जाती है।

कथन कृपापदअर्थ अभीलौं, यांकी समझ न आती है ॥
दरपै आयो भिक्षुक दीखे, दुखभी तांको हो साचा ।
हो समर्थ दुख कटे न तांको, श्रुति कृपालु नित गाती है ॥
है कृपालु वह एक अहेतुक, ऐसे सब जग कहता है ।
हम सुनके चुप रहें बात यह, कैसे भला सुहाती है ॥
परदुखके काटनकों जे निज-जीनाभी नहिं चहते हैं ।
तिनकों सज्जन कहत कृपामय, यह वाणी मन भाती है ॥
जिम जिम हम कहते हैं मनकों, जगसम तुमभी कहा करो ।
क्या जाने क्या होनी अमृत, तिम तिम लगत चुआतीहै१०६
कबहूं तरस आइगा कोमल, देख भस्मकी सिरकबरी ।
कहो कहेहैं मृदुता किसकों, भेट भई कबहूं तुमरी ॥
कोहै कारण वांका कैसी, होती है को कार्य है ।
यांको तो बतलादो मनहर, इतनी तो सुनलो हमरी ॥
समझे हम परदुख लख द्रवना, कार्य उलटा मृदुताका ।
तुमकोभी तो मृदुल कहें हैं, वेद सकल जग सुर अमरी ॥
कभी कभी तो सबकाहीं मन, परदुख लख ध्रुव द्रवताहै ।
क्या जाने वांका फल होगा, संग रहे कारी कमरी ॥
जो होगा सो होगा अमृत, यहभी मिलता है किसको ।
दुर्लभ है योगेश्वरकोंभी, निश्चल कब हो मति-भ्रमरी॥१०७॥
हैं वह चतुर्वेदके कर्ता, बातोंमें कब आते हैं ।
दानीपदमेंभी संशय है, वह तो कब बतलाते हैं ॥
जामें कछु घरसें नहिं जावे, वहभी देत न बनता है ।
स्वतःप्रमाण-वेदभी तांको, दानी-मुकुट सुनाते हैं ॥
क्या जाने को अर्थ याहिंको, जगभी इम हठ करता है ।
सुनके नहिं कछु कहत बने हम, चुपकेही घबराते हैं ।
रहे सदा उत्साह दानका, सुखसें तनुभी देते हैं ।
ऐसेहीं उदारकों सज्जन, दानी सुखपद गाते हैं ॥

पहले तो तुमभी इम अमृत, कहतेथे जग जाने है ।
अवही क्या उन्माद भयो है, वही वचन न सुहातेहैं॥१०८॥
क्या जाने यह जगत सदाही, ऐसे कैसे रटता है ।
पर खलिया अब तोसोंभी यह, मस्तकलिखा न मिटताहै॥
भोगरहे दरपैभी तोरे, भोगेंगेभी दिखता है ।
को समर्थ ऐसा हम समझें, जो यांकोभी कटता है ॥
कर्मरेखपर मेख देत है, हरिजन यह कहतेहीं हैं ।
होतं न निश्चय देख दशा तव, अव सवसों मन हटता है॥
विनती करते करते लखिये, गयो काल सब दुखमेंहीं ।
अब क्या आस रही आगेकों, प्राण कण्ठ तनु लटता है॥
उदासीनता आती है प्रभु, हो समर्थ लोरो कइसे ।
फिर नहिं मिले यतनसेंभी जव, दुख पाके मन फटताहै ॥
प्रेमीकों प्यारा मिलजावे, या नहिं प्रेम किसीसें हो ।
यह दो सुखी कहें क्या अमृत, हमको जो फल पटताहै१०९
दोष मृषाके उपालम्भको, या विन कैसे तरते हैं ।
दोष लखो तो लखिये कांको, अब विचार हम करते हैं॥
दोष कहेंहै किसकों आश्रय, को कैसे यह आता है ।
पक्ष न राखें साच कहेंगे, झूठबातसें डरते हैं ॥
गुरु सबकाहि विचार न यांके, आगे कछु छल चलता है ।
ब्रह्मलाभमें वेद सकलभी, यांका पक्षहि भरते हैं ॥
विन विचारके ऐसेहीं जो, मनके पाछे लगते हैं ।
हम समतेभी प्रतिक्षण पचपच, तापनसेंहीं जरते हैं ॥
कर विचार जे हों प्रवृत्त ते, सुखहीं पाते हैं अमृत ।
पृथिवीमें जिन पांवं पसारे, कबहूं सुने न गिरते हैं॥११०॥
आगेहीं उन्माद भराहै, बहकेकों बहकाते हो ।
मानलेहु अबभी क्युं आपे, छिपी बात प्रकटातेहो॥
आपेहीं गुणदोष लखोहो, क्या जाने पुनि आपेही ।

दोष एक गुणदोषदृष्टिहीं, ऐसे वचन सुनातेहो ॥
आप न देखें यांको जाने, क्या यह वातें कैसी हैं ।
गुण है इक गुणदोष अलखनो, हमको यह वतलातेहो ॥
परका दोष न लखो कभी निज, दोष लखोगे त्यागोगे ।
समझ न परे आपके मनकी, ऐसे कैसे गातेहों ॥
क्या जाने प्रभुका मत कैसा, कठिन जांहिंका रस्ता है ।
अमृत हमकों समझ न आके, कैसी वात घनातेहो ॥१११॥
विना वात क्युं हमरे मनकों, वातवातमें दहतेहो ।
मनविन दोप कहां है कहिये, तुमहीं इमहीं कहते हो ॥
रचे अविद्या मनकों मनहीं, सव प्रपञ्चकों रचता है ।
डौंडी पीट वेदमें ऐसे, तुमही कहते रहतेहो ॥
मूलअविद्या जांका तांका, कार्य किमसत् होता है ।
फिर हमरे दोषनका लखना, किम असह्य यह सहतेहो ॥
जहां अविद्या भेद तहां है, यहभी प्रभुकाहीं मत है ।
फिर कल्पित इस भेदभावकों, तुमभी कैसे चहतेहो ॥
कहते हैं व्यवहारदशा वह, तव इच्छाभी है ऐसी ।
अवहींसें अमृत तुम कैसे; परमार्थमें वहतेहो ॥ ११२ ॥
दोषरूप व्यवहार सकल है, गीतामांहि सुनायो है ।
को व्यवहारदशामें ऐसा, जामें दोष न आयो है ॥
दोषरूप है विश्व सकल तुम, हींतो त्रिगुण वखानोहो ।
गुणविन दोष कवन है कहिये, ऐसेहीं तुम गायो है ॥
यद्यपि ज्ञानानन्दहेतुसें, उत्तम सत्त्व कहें सवहीं ।
तौभी यहभी वन्धन है इम, तुमहीं तो वतलायो है ॥
वन्धनदोष न हो किम दोषहुं, गुणभी सारे दोषहिं हैं ।
सकल विश्व जव भयो दोषहीं, को गुण किहिं समझायोहै ॥
सम्पदासुरी दैवीभी सव, विश्वमांहिंही छाइरही ।
अमृत किम समझें इम यहहीं, यांके जीमें भायो है ॥११३॥

तव पदरजविन करे भला को, मृषाजगतसें उद्धारण ।
तो बिन है परतन्त्र मृषा जड, परिणामी दुखका कारण ॥
वृत्तिलाभ किम होइ सत्त्वको, यदि रज तम न सहायक हों।
सिद्ध भया अब अधिकसत्त्वसें, होत न रजतमका वारण ॥
गुणसें परे आपहीं हैं गुण, अवर सकल है दोष सही ।
यांका लखना यही दोष है, मूकभाव है निस्तारण ॥
हैभी सत्त्व बहुतहीं थोडा, रजतमका आधिक्य सदा ।
जहिं देखो तहिं दोषहि अमृत, मायाका है विस्तारण ॥११४॥

प्रभु बिन भला जगत्में इनको, कवन कहां कब कजता है ।
तौलौं दोष न जौलौं प्रभुका, होके प्रभुको भजता है ॥
मायावश अतिकठिन कुलकी, अन्ध भयो मलसंगति बल।
होगा सुख इम समझ दुखनके, सदा उपाय न सजताहै ॥
ग्रसा अविद्या पञ्चपर्वने, त्रिविधताप सुखसें झूले ।
तव तव सत्संबन्धी सुखको, मूर्ख दुःखलग तजता है ॥
अल्पपुण्यबल शास्त्रश्रवणसें, प्रभा समझ यदि हो कबहूं।
तौभी आता जाहिं मार्गमें, आनेसें कछु लजता है ॥
अमृत क्या वह कृपा कवनसे, होती है याहीसें हो ।
जौलौं इस घरमें नहिं आवे, कवन कहां कब रजताहै ११५

है वेद सबहीं सत्य हे मन, आंखसेंभी लखलिया ।
अब रहा कवन उपाय बाकी, जो नहीं है हमने किया ॥
इक रहे संबन्धी परेश्वरके, न तिनका यश कहा ।
है अवश वर्णन योग्य तिहिं बिन, यत्न सब निष्फल बहा ॥
है अधिक निजसें प्यार इनमें, कृष्णका लख लीजिये ।
भीषमकथाकों याद कर, विश्वास दृढ ध्रुव कीजिये ॥
इनकी कृपाबिन कृष्णकरुणा, होत नहिं कतहूं कभी ।
इनकी कृपाहीं कल्पतरु है, देत सबकों ध्रुव सभी ॥

अमृत जगे हैं भाग्य हमरे, कृष्णकी सव वात है।
जिसनें दई यह वुद्धि हमकों, जीवकीं अज्ञात है ॥ ११६ ॥

सोरठा ।

प्रभुके जे हैं कर्म, सवहिं जीव हितसें भरे ॥
है हि जीवका धर्म, वारवारभी भूलना ॥ ११७ ॥
हमहैं प्रभुके दीन, निजकरणी लज्जा भरे ॥
आप क्षमारसभीन, अपनी डोर निहारना ॥ ११८ ॥
हमहुं चहें मन आइ, प्रभुके जो सोई करें ॥
यह न कवहुं आजाइ, मुक्ति पादअनुरागसें ॥ ११९ ॥

दोहा ।

प्रिया अयोगज व्यथाका, भाषा मोदस्वरूप ॥
सुनत नसें कलिकलुप सव, प्रायश्चित्त अनूप ॥ १२० ॥

इति श्रीपूज्यपादपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिकैलासपर्वतशिष्य श्रीस्वाम्यमृतानन्दनिर्मिते श्रीकृष्णामृतग्रन्थेऽयोगजव्यथा-मोदामृतकलशः प्रथमः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णामृतम् ।

अथ श्रीकृष्णयशोमृत द्वितीयकलशः ।

हरिगीतछंदः ।

पर आपके संबन्धि सबही, आपकाहि स्वरूप है ।
कोई अभिन्नविभूति कोई, सकल सहज अनूप है ॥
यह गिरा इनके कथनमें, मनअर्थमें नहिं शक्त है ।
अब जो बनेगा आपसेंही, आपका सब भक्त है ॥
निजगिरा मनकी मलिनतासें, ताप हो यह जानके ।
इस द्विविधपावनता लिये हम, चहें यशकों मानके ॥
अमृत सदा बलिहार प्रभुकी, कृपाचालस्वभावपर ।
अब कहूंगा जो कहूंगाही, प्रभुचरणरज चित्त धर ॥ १ ॥

छंदः ।

है योग्यताकी बात सगरी, योग्यकाहि मिलाप हो ।
मैत्री सदा हो योग्यसेंहीं, योग्यकाहीं जाप हो ॥
अभिमुख न होत अयोग्यके, कोई निगम जगमें खुला ।
यदि हो कदाचित् बनत नहिं, तज जातहै संताप हो ॥
नहि श्वपच देखा कदाचित्भी, बना मित्र सुराजका ।
इम जीव गिरिधरविमुख जौलौं, एकभी मनपापहो ॥
कारण युगलका एक है, वीणा बने या यष्टिका ।
अमृत कहां कब यष्टिकासें, सुनाहै आलाप हो ॥ २ ॥
आभास सबकी योग्यता है, यदपि कृष्णमिलापकी ।
पर मनउपाधीनें करी सब, बात जगसंतापकी ॥
मन त्रिगुणजन्यहिं त्रिगुण है, भररहा गुणके प्यारसें ।
चर्चा रहे हैं त्रिगुणकी हरि,-विमुखता फल पापकी ॥

निजधर्म जब हो प्रबल नाश, पाप रजतम दूर हों ।
शुभसत्त्वसें हो विविदिषा, विनशे दशा भवतापकी ॥
नहिं नामविन नामी मिले अब, योग्यता हूं आगई ।
अमृत सदा अब शुद्ध ठहरी, कृष्णअभिधा जापकी ॥ ३ ॥
है समर्थ अस कवन कहे को, कृष्णनाम बल एता है ।
काट सकारण-पाप नाश दुख, केवल-सुखकों देता है ॥
श्रद्धा राख पुण्यजन यांको, जो जपता है थोडाभी ।
पञ्च पुमर्थ सदा वश यांके, जो चाहे सो लेता है ॥
जगतसिद्ध ऋपि वेदसिद्ध है, भाष्यकारभी कहते हैं ।
मुनिहरिहरब्रह्माके संमत, अर्थमांहि अतिचेता है ॥
कृप भू मोद णकार सकलकों, खींचलेत है दिश अपनी ।
कृष्णनाम सुखधाम प्राण मम, निर्गुण सगुण निकेता है ॥
पञ्चभक्तको नाम आसरो, साधनमुकुट मुकुट सुखको ।
चहुंयुगमें श्रुतिचारसार हो, यासों वेदहुं जेताहै ॥
परमपवित्र न यासम कोई, मधुर प्रबल को यांके सम ।
अमृत किहिं अस बलको जाने, कृष्णनामबल केता है ॥४॥
निजबलके अनुगुणही पक्षी, गगनमांहि उड़जावेगा ।
मम जीवनसुख नाम तिहारे, को समर्थ गुण गावेगा ॥
वेद न पावें पार शेष अज, सरस्वतीभी हारी हैं ।
अवर कवन ऐसाभी जगमें, को कह अयश करावेगा ॥
मतिअनुसार कहत हैं सबही, अपनें सुखके कारणही ।
जो नहिं लेगा या सुखकों वह, कवन कहां सुख पावेगा ॥
जिनकों नरक न चहें अधम अति-पामर पापहि जीवन है ।
अजामेलसें मिससें तो विन, को विकुण्ठ पहुंचावेगा ॥
सुलभ हेतु इकको है ऐसा, पञ्च पुमर्थहिं पानेकों ।
श्रमसें हो यदि वर्त्तमानमें, को सुखकों दिखलावेगा ॥
भाव कुभाव अनख आलसमें, एकबारभी कहनेसें ।

पापमलघ्न सुवर्णजपी को, को औषध वनजावेगा ॥
सदा जियो मम प्राणनाथ तुम, तुमहीं रक्षक सबके हो ।
कृपा न जांपर तव तांकोही, अमृत भ्रम वहकावेगा ॥ ५ ॥
कृष्णतजे हमजैसोंका प्रिय, तुमविन कवन सहारा हो ।
हमरा तो सुख तुमहीं हो वहु, वडा प्रभाव तिहारा हो ॥
यदि नहिं होते आप भला फिर, कथन कहा श्रुति वुध जाने ।
हम अतिअधम कहां सुख लेते, तुमविन कवन हमारा हो ॥
तुमको छोड़ यतन जिहि काजे, करतहैं दुखहीं पावें ।
विघ्नविनाशक कवन तोहि विन, को फलका दातारा हो ॥
रिझें न तो विन सगुण न निर्गुण, श्रवणादिक वहुजन्म करें ।
साच साच यह साच तोंहि विन, कैसें भवनिस्तारा हो ॥
तोकों जप दुखभी सुख होते, पाप पुण्य होजाते है ।
नरक स्वर्ग हो असुर देव हो, विषभी अमृत-धारा हो ॥ ६॥
समझागया रहा क्या संशय, त्रिविधताप अनुरागा है ।
मन्दभाग्य को तासम जानें, तुमऐसेकों त्यागा है ॥
घेराहै पापोंनें आके, सकल उपद्रव छाए हैं ।
भ्रष्ट कवन है वासम जगमें, सुख अशेष दृढ भागा है ॥
रहे सदाहिं श्वपचता छाई, यद्यपि सुन्दरताभी है ।
सब ऐश्वर्य पिशाचराजसम, स्वप्नी है कब जागा है ॥
विद्या सकल अविद्या वांके, रोगशून्यता रोगभरी ।
गुणं सब दोष निचाई गुरुता, नहिं कछु पीछा आगा है ॥
स्वर्ग नरक यमजनक मोहदुख, सबही तांकों उलटा है ।
कहताहीं है मैं प्रकाश हूं, भीतर दृढतम पागा है ॥
केवल पृथिवीभार लाग पुनि, सबके दुखही देनेको ।
आप दुखनके भोगनको है, मुरदा जीनेलागा है ॥
धिग्धिग् ऐसो जन्म न जन्मत, क्या करतूत करी आके ।
सुखमार्गके गलपीडनकों, मरे चामका तागा है ॥

मैं ममतामें अन्ध भयो किम, दीखे तव प्रताप कैसा ।
अमृत सन्तन त्यागदियो है, त्रिविधतापसें दागा है ॥७॥
क्या जाने क्या वात अधमभी; अव तो दिपे उछरते हैं ।
नाम तिहारे आनेसेंही, विगरे सकल सुधरते हैं ॥
संपदासुरी लिपटरही नित, दैवीकी कछु समझ नहीं ।
तुमरी कृपा भये अव ऐसे, सव पापिन उद्धरते हैं ॥
पहले जांके लिये फिरेंथे, मस्तलिये हथयारनकों ।
तव प्रताप है ऐसा अव तो, यमभी वासों डरते हैं ॥
जांका दर्शन पाप-जीवभी, समझरहेथे पाप कहे ।
कहे कवन अस तव महिमा अव, सुरपतिभी पग परते हैं ॥
जानत नहिं था जांकों कोई, कवन कहां यह रहता हैं ।
अव तो वांका ब्रह्मादिकभी, सदा सुयश उच्चरते हैं ॥
जांके कहनेकों सुनके घर,-केभी जरहीं जातेथे ।
अव तो वांकी आज्ञा सादर, पुण्य समझ सुर भरते हैं ॥
डरतेथे जांको लख नरकन, आवे कवहूं हमरेमें ।
अव तो वांके पर अमृत सव, स्वर्ग निछावर करते हैं ॥८॥
गई शक्तिको नाश हेतु हन, उत्तमतासों गहते हैं ।
कृष्णनाम जगप्राण सकलके, धर्मनकों निर्वहते हैं ॥
नामप्रभावहिं शेष धरें सिर, पृथिवी पृथिवी विश्व सकल ।
भानु प्रकाशें सबको जगका, जीवन हो जल वहते हैं ॥
गगन देत अवकाश वायुभी, पावन प्राणन करते हैं ।
पुष्ट करें शशि पाकहेतु हो, तेज सकलकों दहते हैं ॥
सकल विश्वको रचे सस यह, कृष्णसत्त्वसें सत् होके ।
नामप्रभाव प्रबल है ऐसा, कहते हैं जो चहते हैं ॥
वेद लखावें ब्रह्म वर्ण श्रुति,-विहित धर्म आचरण करें ।
आश्रम विनश्रम भोग रहेहैं, सुख जो आगम कहतेहैं ॥
नामप्रभाव सकल निजधर्मन, विन श्रम सफलन पालतहैं

अमृत अतिअसह्य द्वन्द्वनकों, सन्त सहजहीं सहते हैं ॥९॥
मिला मोद है उनकोंही सब, दुखसें जग उद्धरते हैं ।
बड़े भाग्य हैं तिनके जिनपर, आप कृपा नित करते हैं ॥
कमती रही कवनकी तांके, सब पुमर्थ दृढ छाए हैं ।
सकलसिद्धि जिहिं पदरज चूमें, कृष्णहुं नहिं विस्मरते हैं ॥
तुष्टि पुष्टिभी सेवरहीं सब, सिद्धीभी कर जोरेहैं ।
दिखे अनन्तर रूप तांहिको, जांको मनमें धरते हैं ॥
चाहे मारें चहे जिआवें, विश्व सकल उनहीका है ।
नामप्रभाव शेष अज कौशिक, रच जगको संहरतेहैं ॥
कालादिक सब वशमें रहते, विषको अमृत करदेते हैं ।
नाम तनिक समझादो प्रिय तव, क्या क्या बल विस्तरते हैं१०
दिखे न जगतन मैं तूं यह वह, ऐसे निजमें माते हैं ।
कृष्णनामसें जिज्ञासू सब, ब्रह्मरूप होजाते हैं ॥
आर्त्त विनाश्रम काट दुखनकों, केवल सुखकों भोग रहे ।
अर्थी रुचिअनुसार सहजहीं, अर्थ मृदुल दृढ पाते हैं ॥
अणिमादिक ऐश्वर्य लहें दृढ, योगसिद्ध सब नमन करें ।
नामप्रभाव कृष्णसमता पा, अतुल प्रभाव दिखाते हैं ॥
मनस्वभावसें सिद्ध सदा नहिं, अन्तर्मुखता रहे सदा ।
बहिर्वृत्तिमें ज्ञानीकोंभी, नाम मधुरसुख दाते हैं ॥
कहतेहींहै ज्ञानी हैं हम, ज्ञानद्नाम न प्रेम तनिक ।
जासों देखा ब्रह्म छिपे कब, यद्यपि बहुत छिपाते हैं ॥
चहे कदापि न किंचित सहजे, प्रेम प्रबल सुख छाइरहा ।
तिनका जीवन नाम नाम सुन, विछुरनका मुर्छाते हैं ।
अमृत तुमने देख लिया हैं, नाममधुरता मनवचपर ।
सबसुखरूप भला अब कैसे, बेमुख तोहि सुहाते हैं ॥११॥
क्या कहतहै पत्थर झमनके, नाममें क्या सुख धरा ।
दुर्लभ न था जपते सकल सुख, चाहसें सब जग भरा ॥

प्रगटे नाम सुख प्रेमसें जिम, नेत्रसेंहीं रूपका ।
विन प्रेमकेभी जपनसें, वांछित मिले सुखफल फरा ॥
नहिं प्यार नामीमें न है कछु, नाममें पाषाण है ।
नहि जल मिले सत्संगही किम, नामसुख होवे हरा ॥
दुर्लभ निकटही ब्रह्म जिमविन, योग्यता मिलता नहीं ।
मिलता उसीकों निगमका निज,–धर्म जिसनें बहु करा ॥
अमृत विवेक न अन्धकों मन, अन्ध है सूझे नहीं ।
ध्रुव बना पोषक नरकका या, पापका उदरंभरा ॥ १२ ॥
तो विन सुख कब दिखे भला कब, कृष्ण जीवमें राते हैं ।
जियो नाम मम प्राण सदा हम, तोसोंहीं सुख पाते हैं ॥
निर्गुण रहे सदा सबके उर, सुखस्वरूप सब-दुख भोगें ।
तुमरी कृपा भई जब जांपर, जीव ब्रह्म बनजाते हैं ॥
सगुण उदरमें विश्व सकल वह, दिखे नहीं कबहूं कैसा ।
नामप्रभाव महत्त्व कहे को, तांहि प्रकट दिखलाते हैं ॥
कृष्ण दियो सुख कितनोंकों पर, प्रकटनमें तुमही कारण ।
तोसों खल अनन्त सज्जन हो, जगमें सुख बरसाते हैं ॥
है प्रिय कृष्णनाम तुम जब जब, कृपा करो जांपर थोरी ।
तब तब वह जांकों चाहे वह, आगे खडे सुहाते हैं ॥
अमृत कवन सुभाग्य तिहारे, धन्य तिहारो कुल पावन ।
सुना गयाहै कृष्णनाम विन, तोकों प्राण न भाते हैं ॥१३॥
कहते सकल हैं अमर करती–हैं सुधा मधुरसभरी ।
पर नामसमता पाव कैसे, नामनेंही सुधा करी ॥
रीझे परेश्वर नामसेंही, सिन्धु मथ काढ़ी सुधा ।
थे सकल अमर सकाम तिनकी, कामना शुभफलफरी ॥
है गौण तिनकी अमरताभी, वेद बुध सब जान हैं ।
करयुगल ब्रह्म प्रकाश गिरिधर,–नामनें अजता धरी ॥
सुरसकलकों भय शोक तृष्णा, वेद जग विख्यात है ।

आवें निकट नहिं सुनतहीं जहिं, नाम मृदुमधु सुखझरी ॥
अमृत मधुरता नाम समता, सुधामें दीखे कहां ।
हैं जानते सर्वज्ञ सन्त पुराण, श्रुति मनकी हरी ॥ १४ ॥
साक्षी विज्ञ अधमभी अब तो, दिपे देव उच्छाते हैं ।
कृष्णनामसें दासीसुतभी, नारदसे बनजाते हैं ॥
नामप्रभाव महेशपुरीमें, एकवार तनु तजनेसें ।
चार खानिमें जो हो सो हो, सकल मुक्तिपद पाते हैं ॥
श्रुतिजगनिन्दित राक्षसकुलमें, कुत्सित जन्म नरकही है ।
पा बल नाम दिखा नरहरिकों, प्रह्लादसे सुहाते हैं ॥
कहँ समर्थ असमर्थ कहां पुनि, कहँ स्वतन्त्र परतन्त्र कहां ।
नाममहत्त्व नन्दके साचे, कृष्ण कुमर कहलाते हैं ॥
को उत्तम अधिकार जगतमें, नाम विना जो होताहै ।
अमृत क्या विन श्रम सुख पाया, मनहींमन मुसकाते हैं १५
तिनकीही तो बनजाती हैं, जगतपूज्य श्रुतिभी चारण ।
जपें प्रेमसें कृष्णनाम जे, तरण होत जगनिस्तारण ॥
ऋषि मुनि नारदादि सनकादिक, नामप्रभाव तरे भवकों ।
नाम विना नहिं कृष्णकृपा बिन, कृपा मुक्तिको को कारण ॥
धन्य धन्य गुरु धन्य धन्य ते, धन्य धन्य वह कुल पावन ।
धन्य देश तनु धन्य वेशगुण, धन्य भूमि जहिं पग धारण ॥
मानस धन्य धन्य वह रसना, गोत्र वही है प्रवर वही ।
धन्य धन्य स्वर श्रवण धन्य वह, धन्य धन्य वह व्यवहारण ॥
धन्य राज्य वह धन्य साज वह, धन्य आयु वह मोदभरी ।
धन्य बुद्धि वह धन्य शुद्धि वह, धन्य धन्य वह सुविचारण॥
धन्य काल वह धन्य चाल वह, धन्य दर्श तिनका परशन ।
सन्निकर्ष है धन्य तिन्होंका, संसर्गी–सुखविस्तारण ॥
धन्य कर्म वह धन्य धर्म वह, अङ्गरहितभी योग सफल ।
धन्य ध्यान वह धन्य ज्ञान वह, जहां नामका उच्चारण ॥

सकल विश्वका स्वामी ब्रह्मा, सकल विश्वकों देके भी ।
क्षणसंसर्ग नामकाभी कव, होत प्रवल ऋणनिवारण ॥
कृष्णनाम निजकरणीका तुम, आपे प्रत्युपकार करो ।
है प्रणामहीं अमृतके इक, एक आपनो है वारण ॥ १६ ॥

चौपाई ।

जाप नामका मधुर मनोहर । सुखस्वरूप सवविधहीं सुन्दर ।
लखताहै आकृष्ट उक्तकों । जापधर्म न दिखें अयुक्तकों ॥
तौभी सर्व पापकों नाशे । जन्मजन्मकी तम विनाशे ।
जो मांगे सो देवे तांही । इनके निकट न कवहूं नाहीं ॥
जो निष्काम जापकों करे । होहि आकृष्ट न जन्मे मरे ।
अमृत है हरिनाम अचलही । पीवें सुर नहिं अपर कुमलही १७

दोहा ।

विषहूं अमृत होगये, नामप्रभाव अपार ।
जेंहि जनावें आपही, सो जाने सुखसार ॥ १८ ॥

चौपाई ।

बने न कवहूं कछुक आनके । रहें सदा उत्साह दानके ।
जो अभिमुख हो प्रेम सानके । तिहिं अपनावें प्रणहिं ठानके ॥
सकलमुकुटके मुकुट मुकुटवर । दिव्य न लौकिक ऐशमनोहर ।
लसें सीसपर जगत् प्राणके । मधुर मृदुल निजतेज तानके ॥
कुलमयूरमें मृदुमद छायो । भयो वडप्पन सुरमुनि भायो ।
मुकुल कुलनको धन्य मानके । ध्यावें अजभी हित पछानके ॥
मणिमोतिनकी आइ वनी है । सवके मनकी हरणि ठनी है ।
रविशशि पूज्य भये जहानके । सवसुख चाकर नाम गानके ॥
इन्द्रियमानसवचनअगोचर । धन्य दर्शफल वही चित्तहर ।
अवर न फल है श्रुतिप्रमाणके । कहा निगमनें छानछानके ॥
झुकें मुकुट सब सत्त्वकारणे । करें सदा सर्वस्ववारणे ।
धरें सदाही तेज भानके । डरें सकलहीं दुष्टकानके ॥

नामहेतुसें सीस सवनके । चढें सुवर्ण सुहेतु फवनक ।
हरिपद पायो विनहि ज्ञानके । मुकुटमहत्त्व न भये ध्यानके ॥
नामश्रवणही जगत भुलावे । वचन-अगोचर-सुख वरसावे ।
मधुर मृदुल मृदु कृपा वानके । विप हों अमृत करे मानके १९

छंदः ।

कामदहै सुखनाम कठिनभी, द्रवी भये सुखदाते है ।
मुकुटदर्श फल कहे कवन सुन, नाम सकल सुख आते हैं ॥
सिद्ध सुरेश महेश शेष अज, ऋषि मुनि ऋद्धि सिद्धि सुरनर ।
पूजत हैं झुकतेभी हैं नित, सुखद सुयशकों गाते हैं ॥
है मनहरता ऐसी सवकों, प्यारे कैसे लगें दिये ।
खींचतही जाते हैं मनकों, ऐसेहीं कछु भाते हैं ॥
मृदुप्रकाश है कैसा यांकी, कोमलताभी कैसी है ।
करअमूलतम तम सुख देते, कैसे सहज सुहाते हैं ॥
झुकनी यांकी मधुर मृदुल सुख-भरी कृपाण रसीलीहीं ।
जे लखते हैं यांको जगमें, जीते कव वह पाते हैं ॥
पापी यांका नाम जपतहीं, जगकों पावन करें लसें ।
दुखिये कर दुख दूर सहजहीं, सवके ताप नसाते हैं ॥
गिरा शक्त नहिं कहे भला को, महिमा यांकी जग जाने ।
जिहिं अनुकरण सुखदसें पार्थिव, जगतपूज्य होजाते हैं ॥
सदा दियो मम प्राण प्राण तुम, सदा तिहारा सुयश वढें ।
अमृत ध्रुव विष जौलौं तुम निज, -दिश लख नहिं अपनाते हैं२०
इनके भजनप्रभाव प्रबलसें, छिपे हुयेभी गाजें हैं ।
शिव-सुरपति-चतुरानन-सेवित, कैसे तिलक विराजें हैं ॥
त्रिविधदोषनाशक त्रयरेखा, कर्म उपासन ज्ञान प्रवल ।
संसर्गीके दोष कहां अब, उभय-ब्रह्मसुख राजें हैं ॥
कैसी मृदुता तनुता छाई, कैसे मनकों आकर्षें ।
सदा हरी पर मोदभरी मन, हरता कैसी साजें हैं ॥

त्रिविध तापनाशक अमोघहीं, त्रिविध उपाय सुहाये हैं ।
त्रिविध मोद देनेकों कैसे, सदा सजग हो छाजें हैं ॥
मृदुप्रकाश है अद्भुत शतशशि–तेज निछावर होत सहज ।
इनकी उपमा देनेकों अज–वाणी अतिही लाजें हैं ॥
सगुणब्रह्मकी किरणें हैं क्या, निर्गुणतेज दिपे मनहर ।
किधों बालरवि चन्द्रसार सुन, नाम ताप तम भाजें हैं ॥
कर अनुकरण गरलभी जगमें, अमृतही कहलाते हैं ।
ध्यानकरें जे नितहीं तिनके, मोदबाजनें बाजें हैं ॥ २१ ॥
नाम लेतही जगसें कैसे, पकड हाथ उद्धरते हैं ।
कैसे अति मीठे हैं कुण्डल, मनको कुण्डल करते हैं ॥
मकराकृत कहनेसेंहीं सुर, मकरनका नित ध्यान करें ।
कैसी इनकी बान सुनतहीं, नाम मृदुल मन हरते हैं ॥
मनचञ्चलता हरनेंकी क्या, चञ्चलताकी बान दियो ।
कैसी मृदुलप्रभा लखिये तो, लख कैसे तम डरते हैं ॥
श्रद्धासें या जैसे तैसे, मधुरप्रभाका ध्यान करें ।
होत प्रकाश उभय ईश्वरका, सदा मोद विस्तरते हैं ॥
इनकी दमक कपोल झलक मिल, मनको जगसें दूर करे ।
इनकी अल्प कृपासेंभी मन, विगरे सहज सुधरते हैं ॥
अमृत मनके काटनकों क्या, मधुर चक्रसें सजग रहें ।
देखनसें जियरेमें कैसे, सुखके सुख आ भरते हैं ॥ २२ ॥
चाल निराली देख कवनकों, यिह मनहर नहिं भाते हैं ।
लटकन कैसे मोद देत है, कैसे अधिक सुहाते हैं ॥
हीरकनीके शीत तेजको, तैजस भला कहें कैसे ।
क्या जाने यामेंभी बैठे, अपना तेज दिखाते हैं ॥
जाति धन्य है यांकी सबकी, प्यारी कैसी भई अचल ।
यांके पहरनवारेभी जग, मातेहीं दरसाते हैं ॥
यांका कवन सुभाग्य रातदिन, मधुर अधरपर डोल रही ।

ऐसे यांके चरित अलौकिक, सबके मनको खातेहैं ॥
दर्शनफलको कहे ध्यानसों, उभयानन्द अचल दीखें ।
नाम सुनतही यांका मनमें, दौरे सब सुख आते हैं ॥
सुन्दरता मनहरता कैसी, अघट अवचनी छाइरही ।
अमृत महिमा कहनेको सब, आगमनिगम लजाते हैं ॥२३॥

चौपाई ।

नाम लेतहीं कैसे खटकें । सकल अधर्म सहजहीं सटकें ।
मन सबजगतजालको पटकें । मधुर मञ्जु मृदु लटकन लटकें ।
हीरकनी क्या बनी तनी है । मनहरनेकी बान ठनी है ॥
मधुरतेज लख दिनमणि अटकें । भानुताप डर डर डर चटकें ।
सबही यांके नाम मधुर हैं । मञ्जु मृदुल करुणाके घर हैं ॥
अहमिति जगे न ऐसा हटकें । सब विकार भय मनको फटकें ।
अमृत यांका ध्यान करतही । रहे न मन मनमांहि परतहीं ॥
फिर कैसे इतउतमें भटकें । भटकनहेतु सकलको झटकें ॥२४॥

छंदः ।

होती है कछु गति ऐसी नहिं, ऐसी कवन सुनाते हैं ।
बंसीकी गति देख कहें क्या, जो कछु मनमें आते हैं ॥
ऐसा भाग्य कहां था जगका, जगहीं बंसी बनजाता ।
जिनको जांका फल ऐसा कब, पूछनसें बतलाते हैं ॥
धन्य धन्य है यांकी कुलको, जहां जन्म यांको ऐसा ।
श्रुति हर ऋषि मुनि चतुरानन इक, यांकाही सुख गाते हैं ॥
कहे कवन यांकी महिमाको, नहिं समर्थ चतुराननभी ।
शेष सुरेश महेश चतुर्मुख, यांकी कुलको ध्याते हैं ॥
अमृत तुम तो ध्यान कियाकर, यांका परमरम्य फल है ।
यांकी अल्पकृपासेंभी सब, मनअभिलषित सुहाते हैं २५
यद्यपि हम नहिं योग्य जानहो, कठिन कर्महीं छाया है ।
बंसी प्यारी बतलातो दे, कैसे अस पद पाया है ॥

होगा कोई दुर्घट कारण, वडा प्रतापी साधनफल ।
तो विन साधे यांको ऐसा, को समर्थ जग जाया है ॥
डरियो मत वतलानेसें क्या, डर केवल जिज्ञासा है ।
तो विन को समर्थ यह सांचा, शब्द जगतमें छाया है ।
अनुमित अद्भुत ज्ञान हेतु है, केवल इस जिज्ञासाका ।
सव जगमें तो तुमनेंहीं इक, ऐसा कर दिखलाया है ॥
क्या जाने कैसा होगा वह, तो मनमें क्या आवेगा ।
अमृत तुमतो वही चित्तमें, राखो जो मनभाया है ॥ २६ ॥
ब्रह्मलोकलौंहीं कहतेहैं, जीवगमनकी रीती है ।
कैसा पद यह किसकों प्रतिक्षण, अधरमधुररस पीती है ॥
ब्रह्मादिक जांकी पदरजका, ध्यानमात्रहीं करते हैं ।
है अद्भुत कछु पार न पावें, यद्यपि आयू वीती है ॥
परम अलौकिक मधुर ऐश सुख, कृष्णस्वरोंकों पान करे ।
जांकी अभिधासें सव जगमें, सुखहीं स्वरकी गीती है ॥
विज्ञानीकेभी व्यवहारिक, रहे तृषा सव जग जाने ।
क्या जाने किम वनी ठनी सव, तृषा यांहिने जीती है ॥
अमृत ऐसी कृपा प्यार मन, किसपर है वांका कहिये ।
जिहिं विन ऐसे हो वैठें जनु, सुरनहिमूर्त्ती चीती है ॥२७॥
ब्रह्मातकभी दिखें कहां कव, सुननेकोंभी आते हैं ।
वंसी प्यारी तेरेहीं यह, ऐसे चरित दिखाते हैं ॥
पुछे कवन है नारदिव्यकों, तेरे स्वरकी चाल अलग ।
सुनतेहीं जड चेतन होते, चेतन जड होजाते हैं ॥
परवच तिनके भाग्यहुं जिनके, श्रवण स्वरें यह पडती हैं ।
चहते नहिं कैवल्यमोदकों, ऐसा कछु सुख पाते हैं ॥
क्युं नहिं ऐसी मधुर होंहि ध्रुव, सकल विश्वमन हरनेकों ।
मधुर मधुर मृदु मृदुल मनोहर, रम्य जगतपति गाते हैं ॥
स्वरचिन्तनसें विषभी सहजे, वनजाते अमृत अमृत ।

धन्य भाग्य हैं तिनके प्रतिक्षण, परानन्द वरसाते हैं ॥२८॥
क्या जाने को हेतु अलौकिक, मनमें नाहिं समाता है।
वंसी तेरे नाममात्रसें, कैसा मन होजाता है ॥
कैसी गति होती है यांकी, होनीही थी ठीक सही।
हमरा जगका अपनाभी कछु, कहीं खोज नहिं पाता है ॥
जांका नाम देत है सहजे, परम अलौकिक परसुखके।
तुमरे सुखका तुमहीं जानो, कांकें मनमें आता है ॥
ध्यान दर्शफल परम अगोचर, मनभी थकथक रहारहा।
तुमरी कृपा होत जांपर सो, सुख हो सुख वरसाता है ॥
वारवार हम कर जोरत हैं, तनिक निहारो देखोभी।
विन तव कृपा भला विष होके, अमृत कव दरसाता है २९
ऐसीही होनीथी क्या कछु, लोक झूठ वतलाते हैं।
गुंजमालकों देख जगतमें, क्या क्या चरित दिखाते हैं ॥
भाग्य कहांथे सवके सवहीं, गुंजमालही वनजाते।
चहें सकल पर मिले कहां यह, पद वड़भागन पातेहैं ॥
रत्नोंनें अभिमान किया था, सुरभी हमकों सीस धरें।
अव तो सव हो दीन जोर कर, गुंजनकों नित ध्याते हैं ॥
धन्य धन्य तोकों प्यारी को, तोसम जग वडभागी है।
तुमरे नाम ध्यानसें सहजे, विना चाह सुख आते हैं ॥
अमृत अव तो गुंजाकीभी, आइ वनी विन जपतपके।
ब्रह्मादिक अव सवहीं यांकी, कुलका ध्यान लगाते हैं ३०
जानत हैं जाननवारेहीं, कहना नहीं सुहाता है।
मोदभरी वनमाल देखके, क्या कछु जीमें आता है ॥
यद्यपि पहलेभी तो मनमें, वहुत दिनोंसें धरा रहा।
देख दशा अव यांकी दिनदिन, दूना होता जाता है ॥
समझ रहाथा कल्पवृक्ष को, मोसमान है जगमांही।
जोर हाथ पईयांपर अव तो, यांकी कुलकों ध्याता है ॥

दर्शनफलको कहे ध्यान फल, मानसवचन अगोचर है ।
नाममात्रहीं कैसे कैसे, परानन्द दरसाता है ।
अमृत तुमभी धन्य धन्य हो, तुमरा कुलभी पावन है ।
ऐसेहीं तुम लगते हो ध्रुव, कृष्णचरितहीं भाता है ॥ ३१ ॥
है कछु बडी बातहीं होनी, ऐसीहीं दरसाती है ।
जगपतिकी मणिजानीहींकी, कैसी माल सुहाती है ॥
रविप्रकाश है तीक्षण शशिका, अल्पगिणे को है तिनको ।
यांकी तो मनवचन अगोचर, अलग अलौकिक जाती है ॥
इनकी अभिभासें सब जगमें, मणियनकी क्या बात बनी ।
सुरभी आदर करें इन्होंकी, बात मधुर जग भाती है ॥
यांका दर्शन मिले कवनकों, विना कृपा उस मनहरकी ।
ध्यान करें जे तिनको वांकी, कृपा सुमुख दिखलाती है ॥
अमृत यांके नाम लियेसें, सकल पाप मिटजाते हैं ।
मनवाञ्छित फल मिलता है सब, दैवीसम्पत् आती है ३२

चौपाई ।

सकलपाप अघहेतुविभञ्जन । मोह क्लेशकारक मदभञ्जन ।
कण्ठा गले सुमणिकृत वन्दन। दिपे तेज नित नमत सुचन्दन॥
नाम सुनतहीं सब जग विसरे । विनश्रम हठ सुख ध्यान-
हिं पसरे ।
ध्यानजफल अघतापनिकन्दन । झुकें कृष्णदर्शन सुखरञ्जन ॥
अब अवशिष्ट रहा फल को है । जो निजबोधअनुगहीं सोहै ।
ते ध्रुव सकल अविद्याखण्डन । करें ध्यान नित मानसअञ्जन ॥
विनश्रम युगलब्रह्मकों पावें । सकल अविद्याजाल मिटावें ।
भये अदृश्य सशिख जनु खञ्जन, अमृतके सबविघ्ननिगञ्जन
॥ ३३ ॥

छंद ।

किम नहिं कहं कहांलौं रोकें, किम असह्य यह जात सहा ।

अहो कर्म को है कण्ठेका, कैसे गलसें लिपट रहा ॥
कैसे सुखकों भोग रहा है, कैसे दिपे तेज कैसा ।
कैसा मधुर मनोहर कैसा, कैसा दशदिश मोद वहा ॥
कैसा दर्शन द्रष्टा कैसा, कैसा ध्यानी मन कैसा ।
कैसा जाप जापकर कैसा, श्रोतानें भवताप दहा ॥
ब्रह्माकोंभी यह पद दुर्लभ, कहां सुना है वेदनमें ।
हमरे भाग्य कहां है ऐसे, यद्यपि हमनें वहुत कहा ॥
कृपा भरे यांकी हो जांपर, तनिक दृष्टिभी कृपाभरी ।
अमृत वह आगेहीं दीखे, जांको वानें तनिक चहा ॥ ३४ ॥
जिहिनें द्रष्टा श्रोता ध्याता, परमानन्दस्वरूप करे ।
बाजूवंद भुजामें कैसे, शोभित हैं अति मोदभरे ॥
अतुल तेज मीठा कैसा है, मीठा धर्म दिपे कैसा ।
पावनता कैसी छाई है, नाममात्र सब ताप हरे ॥
वहुत दिवसके प्रेमहेतुसें, जगतमांहिहीं आनेको ।
भारलिये हैं शक्ति कहां थी, यद्यपि मनभी वहुत लरे ॥
दर्श मिलेहै दुर्लभकोहीं, ध्यान करें जे पुण्यीजन ।
तिनके रहे न एक कल्पना, कल्प मूलसें दूर खरे ॥
क्या मीठो लावण्य छयोहै, सुरपति नरपति नित पूजें ।
अमृत इनकी कृपा प्रवल है, को कुवन्ध जो नाहि टरें ॥३५॥
खीचतहीं जातेहैं मनकों, कैसे मीठे भाते है ।
कंकन देखनसें सबकेहीं, मन कंकन होजाते है ॥
विन श्रम करें समाहित मनकों, योग समर्थ कहां ऐसे ।
कहां योगमें सुख ऐसे हैं, जैसे इनमें आते हैं ।
कहां सहजता झटिती ऐसी, कहां मधुरता मनहरता ।
ऐसी कृपा मृदुलता ऐसी, योगमांहि कब पाते हैं ॥
मणियनकी मस्ती कछु ऐसी, छाइरही मृदुचिंतनसें ।
उरप्रकाश हो कैसा कैसे, युगलब्रह्म दरसाते हैं ॥

अमृत यांका नाम सुनतहीं, सबहीं आवें सुख दौरे।
सबहीं पाप अमूल होत हैं, कैसे मन हुलसाते हैं॥ ३६॥
ज्ञान रहेहै कहां कवन हम, कवन देश है कबते हैं।
मणिनमुद्रिका चन्द्रदेख शशि,-कान्त कठिनमन द्रवतेहैं॥
कैसे मननिरोधकों कर हैं, कैसे उरतम नाश करें।
इनकों लख को ऐसो जांके, प्रेमननयन न स्रवते हैं॥
रहे न चाह वरकी कबहूं, सुननेकी नहिं देखनकी।
कहनेकी न विचारनकी, यासों मन ऐसे फबते हैं॥
नाम सुनतहीं पाप पुण्य हों, ध्यान देत दुर्लभ सुखकों।
यांके सेवकसें क्या परकी, बात कालहूं दबते हैं॥
तबसें अमृत निडर रहे हैं, मस्त रहें हैं बेखटके।
करे न क्या क्या ऐसा है यह, अपनाए हम जबते हैं ३७
अवर न अच्छा लगे तनिकभी, ऐसे यामें राते हैं।
देख कौंदनीकों सब सुरभी, यांके यशकों गाते हैं॥
यांपर कृपा भई है कैसी, कैसे कटिमें पूररही।
जामें सब व्रजमण्डलकेभी, बन्धन नाहिं पुराते हैं॥
यांकी महिमा वचनअगोचर, चहे शेष वागीश हो।
यांका नाम सुनतहीं हम तो, दशा अलौकिक पाते हैं॥
नाम देत हैं सब अभिलख तन, ध्यान करें क्या क्या जाने।
मणिनप्रकाश देख जगमनहर, रविशशिहूं नित ध्याते हैं॥
यांकी कृपा विना कब यांको, देखसकें हैं ब्रह्माभी।
अमृत यांकी कृपा होतहीं, कृष्ण वश्यमें आते हैं॥ ३८॥
प्रेमरुके है किससे यद्यपि, बड़े निपुणभी कजते हैं।
नूपुररूप अनूप भूप सुर, मुकुट अग्र जिहिं भजते हैं॥
मणिनप्रकाश मधुर मृदु सुखकर, दशदिशमें तमलेश नहीं।
इनके दर्शनलग ब्रह्मादिक, नित नव मङ्गल सजते हैं॥
दर्शनहेतु कृपा है इनकी, ध्यानजन्य फल वाणी पर।

नाम सुनतहीं ब्रह्मलोकलौं, चहें न अस मन रजते हैं ॥
इनकी कृपा प्रवल है जांपर, होत तनिकभी मोद्भरी ।
कृष्ण तांहिं अपनाते हैं विन, श्रम मायाकों तजते हैं ॥
अमृत यांकी महिमा लखिये, कवन समय अव आयो है ।
जे पहले दुख देतेथे अव, कैसे हमसें लजते हैं ॥ ३९ ॥
है अतिदुर्लभ पद जिहिं लग शुभ, सज्जन सुखकर विन्दुझरें ।
रवि हर उमा गणेश मनोहर, पादमुद्रिका ताप हरें ॥
मनहरता मृदुता सुखकरता, परममधुरता कृपा भरी ।
प्रवल सुखाकर मृदु सुख मङ्गल, को दुर्घट जो नाहिं करें ॥
इनका नाम लेतहीं सुर ऋषि, पितर तृप्ति दृढ पाते हैं ।
सकल पदार्थ हाथ जोडके, आज्ञा सुखसें सीस धरें ॥
कृपा विना कव दर्श मिलेहै, ध्यान करे अघटन घटना ।
यांके हो रहनेसेंहीं सव, वाञ्छित पानी आइ भरें ॥
अमृत सवकी कृपा स्वजनपर, होती है सव जग साक्षी ।
कालादिकका डर किम राखें, किम नहिं अव हम सुफल फरें ४०
ऐसे सुख आते हैं जो दश,-दिशमें नाहिं समाते हैं ।
ब्रह्मसूत्रकी अभिधासेंहीं, सव कलङ्क मिटजाते हैं ॥
नवरस नवधा भक्ति किधों क्या, ब्राह्मणके हैं धर्म यही ।
ध्यानप्रभाव भक्तिरस धर्मन, सवहीं सहजे पाते हैं ॥
त्रिधाविभाग लिये क्या तीनों, वेद मस्त हो झूल रहे ।
ध्यान करें जे अङ्गयुक्त ध्रुव, त्रिविधकाण्ड दृढ आते हैं ॥
यांका नाम मधुर है कैसा, हेतु धर्मका रक्षक है ।
नामजपनसें सहजेहीं सव, सफलहिं धर्म दृढाते है ॥
यांके हो रहनेसें सहजे, पाप पुण्य हो विष अमृत ।
याकारणसों हमभी अव तो, कैसे मस्त सुहाते हैं ॥ ४१ ॥
डूवरहेथे भव सागरमें, नाम लेतही तरते हैं ।
मणियुत पीतवस्त्र क्या छविकों, देते हैं मन हरते हैं ॥

इनकेहीं यह शक्ति कहां अस, रचे चतुर्मुखभी ऐसे।
झिलमलातहैं कैसे कैसे, इनसें कुमन सुधरते हैं॥
मृदुता देख पाट ध्याते हैं, जांबूनद लख यही प्रभा।
इनकी अभिधासेंभी इनकों, सवहीं सिरपर धरते हैं॥
मणिगोटेकी प्रभा मनोहर, मणिचिह्ने क्या मधुरे हैं।
नाम सुनतहीं मनमें क्या क्या, आ संकल्प उछरते हैं॥
चोलीकी क्या प्रभा काछनी, मोतीलडी रसीलीहीं।
चिह्नेयुत उरकंध सुपटके, कैसे चित्त पकडते हैं॥
मणिमोतीकी लडीयुक्त क्या, पाजामा मनकों खींचे।
कैसा दिपे प्रकाश मनोहर, लख सहजे तम मरते हैं॥
मणिमय मोतीलड़ी शोभती, टोपी दशदिशतम नासे।
गोटेयुत मणिमयहीं कुडता, देख मोद विस्तरते हैं॥
मणिचिह्ने मोतीमय पटका, कैसा मधुर मनोहर है।
धोतीप्रभा मनोहर मृदु लख, चित्तदोष सव टरते हैं॥
दर्शनहेतु कृपा है ध्यानज, फल को कहे अगोचर है।
नाम प्रवल मृदु मनहर सुखकर, जो चाहें सो करते हैं॥
शेष गणेश महेश चतुर्मुख, उमा सुरेश प्रभाकरभी।
है कछु हेतु प्रेमसें घरघर, शुभ मङ्गल आचरते हैं॥
अमृत इनके हो रहनेसें, त्रिविधताप सह भूल गए।
सव सुख विना वुलाए आके, हाथ जोड़ विधि भरते हैं ४२
है समर्थ को अवर ईश को, ऐसा सुख दरसाता है।
अङ्गकुमार मधुरताकों सुन, को अस जो न लुभाताहै॥
हीरे मोती अल्प लड़ीमय, सीस मुकुटछवि कैसी है।
तनमनसों खोजत ब्रह्माभी, अवलौं हेतु न पाताहै॥
घुंगरवारे मृदुल सचिक्कण, अतितनुकेशवेश मणिमय।
देख दशा क्या कहें सकलकी, कैसा मन हो जाताहै॥
अलकें कुटिल पीतमणि पोई, मधुर नाग मधु डसतीहै।

चढता है कछु अमल अलौकिक, जगसें फिर क्या नाता है ॥
कुण्डलदमक कपोलचमक मिल, मनकों खाती जातीहै ।
यांकेहीं होजातेहैं लख, अवर न कछू सुहाताहै ॥
भाल विशाल मुकुटलडि शोभा, तिलकरेख शशितेज हरे।
देख चित्तकी दशा होत क्या, इस विन अवर न भाताहै॥
कमल मीन खञ्जन मदहर मृदु, साञ्जननयन मन्त्र करसे ।
देख निमन्त्र पड़े जांपर वह, कब जगमें दरसाता है ॥
बनी ठनी लटकनी हीरमणि, सुखजननी मङ्गलकरणी ।
घ्राण कीरमदहरमें शोभित, लख कैसा मन माताहै ॥
अधरविम्ब मदहर कुन्दन मद,–हरतीहै क्या दन्तलड़ी ।
बंसीयुत मुखकञ्ज देख मन, क्या संकल्प उठाता हैं ॥
पानललाई मनहरणी क्या, चिवुक रसीली मन खींचे ।
कोमल मधुर कपोलझलक लख, मन सबहीं विसराता है ॥
कण्ठ कम्बुमदहर वनमाला, मणिमाला मणिकण्ठाभी ।
मोतीमाल हारमणियन लख, मन कब जगमें आता है ॥
सघनकंध छाती मृदु मनहर, उदर तीनबलि मधुर लसें ।
नाभिचक्रमें गयो गयो कब, जगमें मुख दिखलाताहै ॥
भुजा नालमदहर करपङ्कज, मदकों सहजे हरें सजें ।
अङ्गद कंकन मुद्रिकादि लख, मन सब तस बुझाताहै ॥
केहरिमदहर वर कटि हीरन, जडी कौंदनी मनहरणी ।
चोलीपटके देख काछनी, मन क्या दशा बनाताहै ॥
कदलीमदहर जंघ सुपटवर, मणिमय गोटेदार सजें ।
नूपुर मणिमय लख अब कब मन, अवर किसीकों ध्याताहै ॥
पादकञ्ज मदहर सुमनोहर, मणिन मुद्रिका ताप हरें ।
देख मधुरता मृदुताकों मन, अद्भुत साज सजाताहै ॥
सेवें काम अनूपरूप लख, शृङ्गारहि लख शृङ्गारहुं ।
परमअद्वैविक दिव्य दशा सुन, को जो मन न लगाता है ॥

नीलम अतसीपुष्प कञ्जमद-हरण अङ्ग अतिमीठेही ।
परसुख परसुखकर सुधर्म जानि, ऐसे वेद सुनाताहै ॥
दर्शनहेतु कृपा इक यांकी, कृपाहेतु जो होगा हो ।
ध्यानमात्रहीं नाश कुबन्धन, परानन्द बरसाताहै ॥
नामस्वभाव अङ्गश्रृङ्गारहु, परानन्दकर श्रुति साक्षी ।
ऐसें प्रभुकों सुन न भजे जो, पाछे शुच पछताताहै ॥
अमृत तेरो भाग्यमहातम, ब्रह्माभी क्या भाषेगा ।
प्राणनाथके पदयदासें तव, मन कबहूं न अघाताहै ॥ ४३ ॥
खोजखोजके बड़े बड़े इन-हींकों बड़े बतातेहैं ।
क्या जानें क्या बात सकलगुण, इनहीमें सुख पाते हैं ॥
धर्म ईशता यश विराग श्री, ज्ञान निरतिशय दिपें सदा ।
मृदुलप्रकाश दिशातमनाशक, परानन्द हुलसाते हैं ॥
अङ्ग सकल मृदु प्रभा सदा सम, हानिलाभ नहिं ताप त्रिविध।
तृप्ति निरङ्कुश मोहादिक मल, कबहुँ समीप न जाते हैं ॥
कृपा दशोदिश झूलरही नित, खिलतीहै दशदिशमेंही ।
सेवककी क्या बात भला जब, शत्रु ब्रह्म होजाते हैं ।
सत्तासेंहीं नर्त्तकि माया, रच पाले संहरतीहै ॥
रहें असङ्ग न लिपें कदाचित्, वेदवन्दि यश गातेहैं ।
कोमलता मनकी ऐसी है, कहे कवन हैं शक्ति कहां ॥
जनदुख लख जनु कञ्ज रात्रिमें, ऐसेहीं मुरझातेहैं ।
है संसर्ग इनहिका पावन, नामादिक सब ताप हरें ॥
ते सब सब पुमर्थके दाते, जे मन कछुक लगातेहैं ।
ऋद्धि सिद्धि सब चरण पखारें, ब्रह्मादिक बलिदेत डरे ॥
रवि हर गुरु सुरपति शशि सेवें, नाम सकलेक दातेहैं ।
श्वासभूत हैं वेद सफलहीं, कृपा देत सब विद्याकों ।
धनंदादिक कर जोर अलौकिक, परमप्रभाव लडातेहैं ॥

१ कुबेरादिक ।

देखनमें कुसुमहुंसें कोमल, रणमें अङ्ग वज्रानि तोड़ें ।
सबसें सदा अजय निर्भयहूं, बहिरन्तर मुसकातेहैं ॥
सकलविश्वहर काल सदाहीं, सेवे डरडर कर जोरी ।
तनु नहिं राखें अवर वस्तु क्या, सेवकहीं इक भातेहैं ॥
नाममात्रहीं दैवीसंपत्, देत बात क्या इनकीहै ।
पादोदकका नाम सुनतहीं, तरते और तराते हैं ॥
आज्ञा अमिट धरें सिर सबहीं, राखें जहां तहां रहते ।
क्या जाने क्या बात अनोखी, ब्रह्मरूपभी ध्यातेहैं ॥
इत्यादिक गुणलुब्ध हुए निज-सेंहि रहें कछु चाह नहीं ।
अल्प न है अभिमान स्वजनकों, अपना ईश बनातेहैं ॥
अमृत पर जो लखे लखनदो, तुमने तो अब ठीक लखा ।
गिरिधरकों जे तजतेहैं अति-तापनमें मुरछातेहैं ॥ ४४ ॥
परमपुण्य हैं नाम लेतहीं, अघ विनाश भवसिन्धु तरें ।
ब्रह्मलोक है सीस जहां सब, जग पितामहावास करें ॥
हेतुशून्य वर बड़े धर्मसें, ब्रह्मापदवी पाते हैं ।
अजउपासना ब्रह्मभाव दे, सकल मोहभ्रममूल हरें ॥
ब्रह्मचर्यसें परमपुण्यहीं, ब्रह्मलोकमें जाते हैं ।
रचना विन सब अज समर्थ हो, झटिती हो जो चित्त धरें ॥
धरें अनन्तशरीर चहें जौ, एककालमें भोग उचित ।
होंहि अनूपम दिव्य मनोहर, सदा चहें तो नाहिं टरें ॥
त्रिविध तापका नाम नहीं है, जरा क्षीणतामूल नहीं ।
सदा एकरस सत्य कल्पना, ऋद्धिसिद्धि सब चरण परें ॥
भया सुनिश्चय कृष्णभजनसें, सहजे दुर्लभ पद पाया ।
अब तो सदा कृष्णकों ध्यावें, सदा सुखदमहिमा उचरें ॥
ब्रह्मआयुभर भोग अलौकिक, दिव्यभोग जे जे चाहें ।
अन्ते अजसह ब्रह्मरूप हों, सुनत नामहीं काल डरें ॥
नहीं अहंग्रहआदि उपासन, जे सकामहीं होते हैं ।

सत्यलोकपद पाकेभी पुनि, जगततापमें आइ जरें ॥
भगवत् सीसध्यानसें सहजे, सत्यलोकपद पाते हैं ।
अमृत सहजे ब्रह्मरूप हों, जन्में कवहुं न कवहुं मरे ॥ ४५ ॥
धर्मरूप है धन्यधन्य हैं, जातें चित्त लुभाते हैं ।
तपोरराटी कहते जिसमें, तपस्वरूपहीं जाते हैं ॥
सदा एकरस रहें क्षीणता, जरा विवर्ण न ताप त्रिविध ।
संपदासुरी लेश नहीं है, सदा कृष्णगुण गातेहैं ॥
दैवीसंपत्रूप तपोमय, सकलसिद्ध सुविवेकीभी ।
मनअनुरूप गमन है शुभहीं, कतहुँ विघात न पातेहैं ॥
ब्रह्मलोकसें कछुकन्यूनहीं, ऋद्धिसिद्धि अनुराग भरीं ।
इनके ध्यानमात्रसें सहजे, नर हो सिद्ध सुहाते हैं ॥
अमृत तिनके धन्यभाग्य हैं, कृष्णरराटी ध्यान करें ।
भोग सुखनकों तपोलोकमें, मृदुसुख ले उच्छ्रातेहैं ॥ ४६ ॥
वात भजनकी है कछु ऐसी, कैसे तेज सुहातेहैं ।
मुख जनलोक अभयसुखके दृढ, दानीहीं जहिं जातेहैं ॥
शमदमादिमय परमतेजमय, विग्रह पावक अधिक दिपें ।
परमधर्ममय मधुर मनोहर, सदा हिये हुलसाते हैं ॥
दैवीसंपत् छाइ रही है, आसुरिका कछु लेश नहीं ।
कृपाभरें सुखरूप सत्त्वमय, नाम सुनत मन भातेहैं ॥
तपोलोकसें कछुक न्यून सव, सेवे ऋद्धिसिद्धिलोंभी ।
परानन्दकर कृष्णगुणोंकों, गातेहैं न अघाते हैं ॥
भगवत्मुखके ध्यान हेतुसें, भोग अलौकिक सुखमनहर ।
सहजेहीं जनलोक गमनकर, अमृत होइ मुसकातेहैं ॥४७॥
भजन विना क्या मिले साचसुख, भजनहिंके अनुसरते हैं
महर्लोक ग्रीवामें जाते, तेजभाव जे करते हैं ।
परमदिव्यहीं तेज दिपेहैं, मधुर मनोहर कोमलभी ।
जराक्षीणता नहिं विवर्णता, सदा मोद विस्तरतेहैं ॥

दैवीसंपत्कोंही प्रतिक्षण, धारेंहैं सुख पातेहैं ।
आसुरिसंपत् मूल नहीं है, मनवांछित नहिं टरतेहैं ॥
बल सह ओज सत्त्वमय तिनके, कृष्णगुणोंमें प्रेम सदा ।
कछुक न्यून जनलोक तेजसें, सकल तेजविधि भरते हैं ॥
अमृत भगवत्श्रीवध्यानसें, सुखवरको अवलोक सदा ।
महर्लोकमें सहजे जाके, करें हिये जो धरतेहैं ॥ ४८ ॥
चारों हैं यह अधिक सत्त्वमय, रजतम अति अलसाते हैं ।
सत्यतपोजनमहर्लोकमें, कृष्णभजनसें जातेहैं ॥
इन्द्रियजीत कृष्णपद पूजें, चाह रहें कछु विषयनकी ।
कारण तारतम्यसें दुर्लभ, सत्यादिकपद पातेहैं ॥
तीनलोकसें बहिरन्तर हैं, गति अव्याहत इनकीही ।
भोग रहेहैं सदानन्दकों, कृपाभरे मुसकाते हैं ॥
जिनपर कृपा होत है इनकी, तेभी पातेहैं सुखकों ।
परमसन्त हैं सन्तकृपासें, क्या दुर्घट श्रुति गातेहैं ॥
सकल सिद्धि हैं जो चाहें सो, होताहै तिहि क्षणमेंहीं ।
विषयभोगसें इनकों कबहूं, ताप नहीं दरसाते हैं ॥
ऐसेभी हैं तौभी जे हैं, इनमें परमचतुर मङ्गल ।
विषयभोगसंकल्प न करते, सदा कृष्णरसमाते हैं ॥
क्या महिमा तिनकी मति कैसी, कृष्णभजन सुख समझ-लिया ।
भोग अलौकिक परम भजनसुख, अन्ते ब्रह्म समाते हैं ॥
मन्दभाग्य हैं इतरलोकगति, तीनलोकमेंही रहती ।
तासों बहिर न जातेहैं ध्रुव, तापनकोंभी खातेहैं ॥
इनमेंभी जे कृष्णभक्त हैं, तिनकी मति वाणीमनपर ।
परानन्दकों भोगें देवें, सदा कृष्ण इक भाते हैं ॥
अमृत है संसर्ग कृष्णका, जिनके तिनकी महिमाकों ।
कहे कवन जो कछु हैं तेहैं, सकलकामके दाते हैं ॥ ४९ ॥

रोचकहीं हैं वाक्य स्वर्गके, सन्त विचार सुनाते हैं ।
करें सकामकर्म जे विषयी, स्वर्गउरसमें जातेहैं ॥
भोगें दिव्य कर्मअनुगुण फल, हर्षें यद्यपि दुखहीं हैं ।
सुखअभिमान करें मायावश, नाश समझ मुरझाते हैं ॥
नहिं विवर्णता दुर्गन्धी नहिं, नहिं शरीरमें रोग तनिक ।
वहुऐश्वर्य देख ध्रुव परका, मनहीं मन घवराते हैं ॥
विषय स्वर्गके रहें एकरस, होत विराग न कवहूंभी ।
कृष्णभजनसुख समझतहैं पर, कवहुँ न आने पातेहैं ॥
मर्त्यलोकके विषय अल्प हैं, ग्लानि जने अल्पायु घटें ।
कोई वीर तजे हरिसुख ले, स्वर्गविषय मन खातेहैं ॥
इसीहेतुसें जे सुरवुध ते, चहें जन्म भारत मङ्गल ।
मनुजजन्म अतिदुर्लभ जांका, यश सुरेशभी गातेहैं ॥
पा अस जन्म मन्दपरिणामी, विषयभोग वहुरोग चहें ।
धिग्धिग् ऐसो जन्म अल्प हैं, तापनमें मुरछाते हैं ॥
संचय रक्षा कर्माशय दुख, नाश ताप ध्रुव प्राण हरे ।
संस्कार परिणाम ताप दुख, वृत्तिविरोध दुखाते हैं ॥
भगवत् उरसूध्यानसें जे नर, पाते हैं सुरसंपत्कों ।
कर विराग दृढ कृष्णरूप लख, अमृत वने सुहाते हैं ॥५०॥
है कछु वात भजनकी ऐसी, भूतनमेंभी मस्ते हैं ।
सत्त्वरजोमय कछुक तमोमय, भूतशरीर न सस्ते हैं ॥
दूरश्रवण दर्शन तनुपलटन, कायप्रवेश ज्ञान परका ।
अल्प क्रूरता छाइ रहीहै, नाचें कूदें हंसते हैं ॥
इनकी कृपा देत लौकिक सुख, कभी कभी परसुखकोभी ।
परकुकर्म अपराध विना नहिं, परशरीरमें धसते हैं ॥
जांका नाम अविद्यानाशक, पञ्च पुमर्थहिं देताहै ।
विश्वरूप श्रीमहादेवके, जे संसर्गी लसते हैं ॥
तिनके विग्रह सत्त्वरूपहीं, भूतनामका है कारण ।

रहैं दिगम्बर रूप न राखें, सुनत प्रपञ्ची नसतेहैं ॥
हैं सब ब्रह्मरूप परसुखकर, मस्त रहैं शिवदर्शनसें ।
इनकी अल्प कृपा जापर हो, तांको काल न डसते हैं ॥
इनके नामध्यानसें सहजे, जीव मुक्तिपद पातेहैं ।
सकलसिद्धि कर जोरेहैं पद, योग सिद्धभी झसते हैं ॥
इनकों कहैं तमोमय जे ते, गंगामृतकों उदक कहैं ।
ऐसे मूढ कुमद अघस्वामी, तापनमेंहीं फसते हैं ॥
रहे प्रवृत्ति सदा हरि अजके, सदा महेशस्वरूपमगन ।
ऐसेहीं संगी हैं वांके, सदा प्रमोद हुलसते हैं ॥
सदावर्त्त कैवल्य अलभका, नाम हरे सब पापोंकों ।
तमसंज्ञाका हेतु यही है, अन्तकालमें ग्रसते हैं ॥
महादेवगण बनजाते हैं, अमृत होहिं स्वरूपमगन ।
कृष्णनामिके ध्यानलिये जे, कछुक कमरभी कसतेहैं ॥५१॥
इसमेंहीं सुख भजन मिले है, इसमेंहीं फल फरते हैं ।
भूलोंक कटि चहैं देवभी, मनुज वास जहिं करतेहैं ॥
इसमेंभी भारत उत्तम है, सकलकर्मफल मिले दिपे ।
कृष्णभजन बहुधा होता है, मनुज वेदविधि भरते हैं ॥
जब जब होत धर्मकी हानी, बढे अधर्म न वेद रहे ।
ब्रह्मसन्तगोदुख लख जगपति, कृष्णरूप बहु धरते हैं ॥
मारें असुर वेदमग थापें, गोद्विजसज्जनसुररक्षा ।
कर सब जगकों धर्मरूप भव-तारण यश विस्तरते हैं ॥
अबभी जांपर कृपा देत हैं, तृष्णातापहरण दर्शन ।
दर्शनफल को कहे नाम सुन, सब आनन्द उछरते हैं ॥
सिद्धदेवभी इस पृथिवीमें, आ मिलते हैं बहुतोंकों ।
कृष्णसरणि दृढ सत्य खुलीहै, जिसबिन भव नहिं तरते हैं ॥
सकल पदार्थ भोग्य यांहि सम, अवरभूमिमें मिलें कहां ।
तौभी सब तज गहें भजनसुख, कृष्णसुयश उच्चरते हैं ॥

विद्याराज ब्रह्मविद्याभी, प्रेमवश्य प्रभु देतेहैं ।
जासों प्राणी शोक ताप तर, अमर होहिं नहिं मरते हैं ॥
पञ्च पुमर्थ मिलैहैं इसमें, कृष्णभजन दृढ कारण है ।
तीर्थभी ऐसे हैं कालहु, नाम सुनतहीं डरतेहैं ॥
सन्त अलभभी इसमें जियकी, जरणि सकल हरलेते हैं ।
इनकी सेवासें सब सुरभी, पुण्य समझ पग परते हैं ॥
अष्टअङ्ग शुभयोग विराजे, हरता है सब दोषनको ।
सिद्धिहेतु संयमभी यामें, साचे हैं नहिं टरतेहैं ॥
मन्त्र तन्त्र सब साचेहीं हैं, कारकसिद्ध चित्तबलसें ।
देखें फल प्रत्यक्ष सिद्ध जग, जब साचे मन्तरते हैं ॥
भारतनरमें भूषण भूसुर, युगलब्रह्मवित् ब्रह्म सही ।
करते हैं श्रुतिधर्म सुरक्षा, सकल जगत् उद्धरते हैं ॥
धन्य जन्म है वांका जिसनें, गिरिधरहीं सर्वस्व किये ।
तांका ध्यान देत परसुखकों, नाम सकल दुख हरते हैं ॥
भारत धन्य धन्य नरदर्शन, नरमें द्विज द्विजमें भूसुर ।
सबमें धन्य वही है जांकों, कृष्ण नहीं विसरते हैं ॥
गिरिधरकटिके ध्यानमात्रसें, सकलपूज्य होजाते हैं ।
अमृत बने सुहाते हैं सुन, नाम सकल दुख जरते हैं ॥८२॥
अङ्गअङ्गमें लोक विराजें, वेद पुण्य यश गाता है ।
अतल नितम्ब वितल है ऊरू, सुतल जानु सुखदाता है ॥
दिपे तलातल जङ्घामेंहीं, गुल्फ महातल शोभित है ।
प्रपदा रहे रसातल पदतल, पातालहुं हुलसाता है ॥
प्रतिअङ्गनके ध्यानमात्रसें, हो तिस अङ्गलोकस्वामी ।
भोग लोकसुख कर विराग भज, कृष्ण कृष्ण होजाता है ॥
पावन परम परमसुखकर सुख, सच्चित्वपुके जे ध्यानी ।
तिनकी महिमा कहे कवन अस, निगमहुं कहत लजाताहै ॥
अमृत क्या जाने कैसे हैं, प्राणनाथ जगपति गिरिधर ।

नामादिकमें जो हो सो हो, पावन परम सुहाता है ॥५३॥
बात भला क्या इधरउधरकी, मायातकभी भयो जयो ।
मुख है ब्राह्मण कर्म वृत्तिसह, याहीसों जगपूज्य भयो ॥
शम दम शौच क्षान्ति तप आर्जव, ज्ञानसहित विज्ञान सुखद
आस्तिकभाव स्वभावकर्म ध्रुव, दिपैं दशोदिश तेज छयो ॥
आस्तिकभावप्रकाशित गिरिधर, प्रेम अचल मृदु मधुर दिपै।
दशो दिशामें कृपा झरित है, ब्रह्मतेज सुख सदा नयो ॥
यथालाभसंतोष सदाहीं, निजानन्दमें तृप्त सदा ।
कर सर्वस्व कृष्णको सबहीं, गिरिधरपरहीं भार दयो ॥
योगक्षेम सब करें कृष्णहीं, रहें सदा आगे पाछे ।
सबजगपूजित नित्य परमसुख, पाताहै थिरपरब नयो ॥
याजनादि परसुखका कारण, वृत्तीभी अतिउत्तम है ।
सत्यकल्पना अयस्कान्त हैं, अनुगुण सबहीं जगत् अयो ॥
सदा उदार देतहै सब कछु, सबहींकों जो जो चाहें ।
कबहुं सुनाहै ब्रह्मद्वारसों, अबलौं रीतो भिक्षु गयो ॥
वैदिकधर्म धर्मकी रक्षा, सदा करें तनुमनसें दृढ ।
पालत हैं सब धर्म सकलके, तपस्तेज उपदेश चयो ॥
इनकी लगहीं कृष्ण जगत्में, सहजेहीं चलआते हैं ।
दर्श पर्श अतिदुर्लभ सबको, मिलता है विन बीज बयो ॥
सकल जगत्के रक्षक हैं यह, सदा कृष्णभी पूजत हैं ।
इनकी पदरज विश्वपावनी, होत विमुखको ताप लयो ॥
गगनादिकमें ब्रह्मनाम जस, अब्राह्मणमें ब्राह्मणपद ।
पूजनीय ध्रुव नाम बड़ाई, अमृत पूजक काम जयो ॥ ५४ ॥
इनहीसें तो वेद पलतहैं, छल बल नास्तिक भाजे हैं ।
क्षत्रियकर्म वृत्तिसह भुज हैं, सदा तेजमय राजें है ॥
अतुलप्रतापी शूर धर्ममय, तजें न युद्ध प्रजारक्षा ।
जीतें अथवा ब्रह्मलोकलें, सुयश दशोदिश भ्राजे हैं ॥

आततायिता निकट न आवे, शरणागतकों तजें नहीं ।
सन्त–वेद–गो–ब्राह्मणहितमें, सिरकोंभी दे छाजें हैं ॥
वर्णाश्रम अशेषधर्मनके, दण्डमानसें रक्षक हैं ।
कर कुमार्गीकोंभी काटें, डरें न कृपा न लाजें हैं ॥
पालें विश्व देवलौं वलसें, करें करावें यज्ञादिक ।
मनअनुगुण हो वृष्टि प्रजामें, देव सकल सुख साजें हैं ॥
वृत्तिधर्मकर चोरादिक खल, नाम सुनत नहिं कतहूंभी ।
दण्डपाणि वसुहरि हैं भूपति, सदा निडर हो गाजें हैं ॥
कतहुं न आसुरि दैवीसम्पत्, छई धर्ममय प्रजा सकल ।
अमृत घरघर सकल प्रजामें, कृष्ण वाजनें वाजें हैं ॥ ५५ ॥
रहें नम्रहीं नहिं कठोरता, दुस्तर भवकों तरते हैं ।
ऊरू वैश्य वृत्ति सहकर्मन, गोरक्षा दृढ करते हैं ।
करें भक्तिसें गोसेवाकों, उभयलोककी जीत सही ।
मधुर वचन अतिकोमल मानस, हिंसासें वहु डरते हैं ॥
परउपकार सदाहीं प्यारा, कृष्णप्रेमसें सदा भरे ।
ब्राह्मणगोसन्तनहित सिरभी, देनेसें नहिं टरते हैं ॥
वैदिकधर्माचरण सदाही, दैवीसम्पत् पूर रही ।
आसुरिका कछु नाम नहीं है, शुद्धसुयश विस्तरते हैं ॥
कृषि वाणिज्य कुसीद धर्ममय-वृत्ति न स्वप्ने परपीडा ।
दिगभाषामें निपुण होत हैं, हेतु यही व्यवहरते हैं ॥
भूसुर सज्जन कृष्ण वृद्ध गुरु, सेवामें रुचि नूतनहीं ।
अमृत गिरिधरयश सुनते हैं, कृष्णनाम उचरते हैं ॥ ५६ ॥
वैदिकधर्मप्रभाव प्रवल है, वने ब्रह्म उच्छ्राते हैं ।
तीन वर्ण निजधर्म करें उप–नयन गुरु ढिग जाते हैं ॥
ब्रह्मचर्य दृढ पञ्चयज्ञ नित, करें त्रिकालिक सन्ध्याभी ।
अग्निहोत्र तर्पण गायत्री, जपें सदा सुख पाते हैं ॥
पढें वेद मीमांसा योगहुं, प्रेमसहित अतिश्रद्धासें ।

हरिगुरुमें कछु भेद न समझें, सेवा कर हुलसाते हैं ॥
उचित समावर्त्तन कर विधिसों, गुरुप्रसन्नताकों करके ।
उत्तमकुलमें शिष्टरीतिसें, उचित विवाह कराते हैं ॥
अन्नप्रदान अतिथिको नितहीं, कर्म चतुर्विध वैदिकभी ।
निजनिज यज्ञ करें श्रद्धासें, करतेहीं हरषाते हैं ॥
अमृत यद्यपि अन्यदृष्टिसें, न्यास एक भूसुरकोंही ।
वार्तिककारविचार यही है, तीन वर्णको गाते हैं ॥ ५७ ॥
सेवाकी क्या बात याहिसों, कुलको तारें आप तरें ।
कर्म वृत्तिसह शूद्र चरण हैं, द्विजसेवा शुभधर्म करें ॥
सेवामें अतिनिपुण सदाहीं, स्वामीरुचिअनुकूल सदा ।
तनमनसों सेवें तज माया, दम्भपापसों बहुत डरें ॥
नाम न रहे अहंममताका, स्वामीपरहीं विके लसें ।
स्वामीहितलग सिरभी देवें, प्रतिदिन स्वामीचरण परें ॥
भरे सदा दैवीसम्पत्सें, आसुरि श्रवण न परे कभी ।
स्वामीदानधर्ममय जीवन, स्वामीसें नहिं कबहुं अरें ॥
कृष्णचरणमें प्रेम सदाहीं, कृष्णसुयशकों सदा सुने ।
अमृत कृष्णकृपासों अमृत, होतेहैं नहिं कबहुं मरें ॥ ५८ ॥
भजन विना नहिं दाता कोई, भजन सकलके दाते हैं ।
चतुर्वर्ण निजधर्म कृष्णका, भजन कृष्णभी गाते हैं ॥
परउपकार वृद्धगुरुसेवा, परआदर तनुमनवचसों ।
सन्तसंग सन्तोंका पूजन, हरियश सुने सुनाते हैं ॥
वेद विना विद्या है जहिंलौं, स्मृति पुराणआदिक जगमें ।
चारोंका अधिकार वेदसें, केवल द्विजका पातेहैं ॥
मोहकटकका विजय विवेचन, सेनासंग्रह शुभ उद्यम ।
हिंसानाश मधुर कोमल मन, परदुखहर हुलसाते हैं ।
उदासीनता मैत्री मुदिता, कृपावचन मृदु मीठेहीं ।
द्वेषईर्ष्यादम्भशून्यता, त्रिविधदण्ड हर्षाते हैं ॥

संयम दान ज्ञान विज्ञानहुँ, दैवीसंपत् जेतीहै ।
आसुरिमूल उखाडतही ध्रुव, परानन्द वनजाते हैं ॥
नैर्गुण्य पा कृष्णकृपासों, कृष्णपरायण कृष्ण भजें ॥
चतुर्वर्णके तिलक यही हैं, अमृतकों अति भातेहैं ॥ ५९ ॥
यदि नहिं फल हो कहे वेद किम, पापकर्म दुखस्रोते हैं ।
चाण्डालादिक मन्दकर्मफल, चारवर्णसें होते हैं ॥
मन्दभावनासें पुनि निशादिन, मन्दकर्महीं करें रुचें ।
आगे दुख भोगनकों अवभी, दुखमें आयू खोते हैं ॥
इनके मात न पिता न हरि गुरु, लोक न जाने परलोकहिं ।
हिंसा चोरी कठिन मृषावच, पापवीज निज वोते हैं ॥
साधु वृद्ध कछु इनके नांहीं, पापपुण्यका ज्ञान नहीं ।
उदरम्भर मन मलिन अन्धसें, दिखें हसित मन रोते हैं ॥
यद्यपि नहिं अधिकार मलिन हैं, कर्मविवशसत्संग मिले ।
भजें कृष्ण क्या रहे न्यूनता, अमृत जगमल धोते हैं ॥६०॥
भजन करें श्रुतिमौर विराजे, भजन विना सव वात वही ।
पामर विषयी जिज्ञासू पुनि, मुक्त चतुर्विध मनुज सही ॥
वेदअविहित विषयरत पामर, यद्यपि श्रुतिकों पूजेंभी ।
आत्मविद्या-साधनहीने, करें न सव जो वेद कही ॥
करें लोक-परलोक-विषय लग, कर्म न निर्गुणपथ देखा ।
वेदविहित विषयनकों भोगें, विषयी हैं यह होत गृही ॥
श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठदैशिकढिग, रहें सविधि श्रवणादि करें ।
कृष्णभक्त जिज्ञासू सत्सुख, विना न एको चाह रही ॥
जीवनमुक्त विदेहमुक्त दो, विज्ञ प्रवृत्ति निवृत्ति लिये ।
इनके नहिं व्यवहारनियम है, कर्मअधीन ठीक सवहीं ॥
रहें असंग न लिपें पापसों, हेरें विश्व सवहींको हर ।
है महत्त्व यह ज्ञानअग्निका, अमृत माया सकल दही ॥६१॥
श्रीगिरिधरका अङ्ग अङ्ग मृदु, परानन्द वरसाताहै ।

नेत्र भानु त्वक् वात ओषधी, रोम करण कहलाता है ॥
रसना वरुण श्रवण दिक् अश्विनी,–घ्राण इन्द्र कर वच पावक ।
मेंढ्र चतुर्मुख पायु मित्र है, पाद विष्णु सुखदाता है ॥
चित्त महान् गिरित्र अहं है, बुद्धि चतुर्मुख शशि मानस ।
सुर इन्द्रादिक भुजा रातदिन, पक्ष्म सर्वको खाताहै ॥
सर्ग अपार कटाक्ष वेद हैं, ब्रह्मरन्ध्र योगीका पथ ।
दंष्ट्रा यम हैं स्नेह लेश द्विज, माया हसन लुभाताहै ॥
व्रीडा ओष्ठ अधर्म पीठ है, लोभ अधर है धर्म स्तन ।
भूधर अस्थि समुद्र कुक्षि है, वायू श्वास सुहाताहै ॥
नाडी नदी रोम हैं पादप, काल गमन क्रीडासरणी ।
सन्ध्या वस्त्र केश हैं अम्बुद, हृद् अव्यक्त सुलाताहै ॥
अश्व अश्वतरि उष्ट्र हस्ति नख, शिल्पनिपुणता शुकआदिक।
पशु मृग श्रोणि मनीषा मन है, आश्रय मानुष भाता है ॥
विद्याधर गन्धर्व अप्सरा, चारण स्वर षड्जादिकहीं ।
यज्ञ कर्म प्रह्लाद भक्तमणि, स्मरण सुखद हुलसाता है ॥
भयो होग है जो कछु अमृत, जहिंलौ मन गति वडी बढी।
सुने लखें जो सबहीं गिरिधर, जहां मनहुं न समाताहै॥६२॥
हैं सूत्र सबके प्राण जासों, जीवना सबका बना ।

हरिगीतछंदः ।

भूम्यादिजडभी जियें यासों, विश्व सब यासों तना ॥
है मूल सकलस्थूलका यह, युक्ति श्रुतिनेंभी भना ।
है पाद दूजा ईशका निज–ध्याननें निजसुख जना ॥
है विश्व आप विराट् गिरिधर, सूत्र तैजस आपहीं ।
निजप्राज्ञ ईश्वर आप आप, सुलक्ष्य प्रबलप्रतापहीं ॥
हैं चार पाद परेशके निज–सुखद अभिधा जापहीं ।
अमृत जिधर देखो उधरहीं, कृष्ण पुण्य न पापहीं ॥ ६३ ॥

छंदः ।

जय सुरेश विश्वेश परेश्वर, जय सुखेश सुख-विस्तारण ।
श्रीवलदेव शेष भवभावन, विभव अभव भवनिस्तारण ॥
सत्प्रकाश परप्रेमविषय सुख, सदा असंग एकरस रस ।
वद्ध न मुक्त न तज्ज्ञ अतज्ज्ञ हुँ, परावृत्ति तम-संहारण ॥
विषय-वृत्ति-विच्छेद-शून्यता, द्रष्टा दर्शन दृश्य नहीं ।
उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्त्ता, है विवर्त्तजगका कारण ॥
सव अघनाश नामकी महिमा, सदा भक्तपर विके रहें ।
सकल सिद्ध सव देव सिद्धिभी, होत पगनपर नित वारण ॥
कृष्ण सदा मुख राख जांहिंका, करें उचित व्यवहार सकल ।
जांका वचन न तजें करें द्रुत, कर्म सदा जनउद्धारण ॥
अमृत वाञ्छित देतेहींहै, सकलजगत्में निश्चय है ।
किम नहिं देवें जिनका सवहीं, देत नामका उच्चारण ॥६४॥
सकल जगत्में सिद्ध छिपा नहिं, पुत्र पिताका पाखी है ।
कृष्णरूप प्रद्युम्न पिताहै, पुत्र युक्ति श्रुति साखीहै ॥
कृष्णसमान चित्तको खींचें, कृष्णतुल्य है शक्ति सकल ।
अगुण अनूपम गुणनिधि आपे, सदा भक्तकी राखी है ॥
कामरूप कहते हैं ऐसा, रूप काममें मिले कहां ।
कामरूप न लुभावे जिसनें, यांकी पदरज चाखी है ॥
कैसा परमपवित्र नाम है, श्रवणमात्र अघ तम नाशे ।
कैसी छाई परममधुरता, क्या नन्दनवन दाखी है ॥
जानतहैं वैतृष्ण्यपदीहीं, यांकी महिमा मनवचपर ।
अमृतका क्या स्वाद लखे जो, विषयकुमलकी माखी है ६५
जो निजभक्तपक्षका भजता, जासों कालहु भयत्रासें ।
जय अनिरुद्ध न मायासेंभी, रुकें एकरसहीं भासें ॥
निर्गुण सगुण उपाधिशून्यता, सदा असदा आपहीं हैं ।
आपे रचें आपहीं पालें, आपे आप जगत् ग्रासें ॥

आपे ईश जीव हैं आपे, आपैं ईश जीव साक्षी ।
आपे योगी भोगी आपे, कवन भिन्न किंचित् वासें ॥
सदा एकरस अचल न डोलें, जने जनामें जन्मेभी ।
पार न पावे गिणे गुणोंकों, ब्रह्माभी जौलौं श्वासें ॥
अमृत अभिधा कल्पवृक्ष है, सदा भक्तहीं इक प्यारे ।
इनके चरणधूरिका पाला, न्यून रहे किम कव कासें ॥६६॥
मिलें कहांहै चन्द्रग्रहणकों, सबकाहीं मन चलताहै ।
चतुर्व्यूह हैं कृष्णरूप सं-सर्ग भागसों मिलताहै ॥
क्या जाने को हेतु कृपा इनकी, होतीहै जिसकिसपर ।
भवसागरकों तरे सहजहीं, तारे वहुतहिं फलताहै ॥
धन्यधन्य हैं धन्यधन्य पुनि, धन्यधन्य हैं धन्यधन्य ।
जे इनकेही होके विचरें, अवर न मनकों दलताहै ॥
है सुखिया इक वही जगत्में, जांकी ऐसी दशा भई ।
कछु न रहे व्यवहार चित्तसें, चरण न इनका टलताहै ॥
जो इनके विन भये करेहै, कर्म अलौकिकभी निशदिन ।
अमृत सुख नहिं मिले फसाहै, विघ्न वडे कर मलताहै॥६७॥
पद्रजप्रबल प्रभाव छयोहै, सेवतहीं सब विश्व तरी ।
उभयशक्ति श्रीराधा माता, मायागुणपर गुणनभरी ॥
अलग भर्त्तरी इक चित्सत्ता, स्फुरण प्रमोदादिक सबका।
स्वयंप्रभा हरिरविआदिककों, सहज प्रकाशे सफल फरी ॥
तिहिं तिहिं कार्यमें समर्थ हों, हरिहरभानुगणेशादिक ।
जांको जिहिं विन कछु न शक्तिसा-मर्थ्यरूप सबकी कर्त्तरी॥
माताविन को रक्षक सब जग, जाने श्रुतिभी साक्षी है ।
जांका नाम सकलअघतमहर, पञ्चअर्थकी सहज झरी ॥
हरि हर अज गणेश रवि सुरपति, जिहिं सत्तासें शक्त भये।
सदा चरणरज ध्यावतहैं सुर, सिद्धिसिद्ध सुरपति अमरी ॥
जांके हो रहनेसेंहीं श्री-गिरिधरजी अपनातेहैं ।

भवकारणि पालनि संहारणि, खिंची रेख कबहूं न टरी ॥
दशदिशमें सुख कृपा अलौकिक, झरी झरतहैं मोद वहा।
सदा भक्तहित एकहि प्यारा, ऐसीहीं दृढ चित्त धरी ॥
किये कोटि अपराध शरण जो, आवे अमृत भूल कभी ।
काट पाप अपनाती हैं ध्रुव, जय जय श्री सब सिद्धिकरी
॥ ६८ ॥

तोटकछंदः ।

जय विघ्नविनाश गणेश विभो । जगदीश मतीश सदीश
प्रभो ।
जनपाल विशाल सुभाल शशी । सकलेश्वर शेष अशेष
वशी ॥
गजकर्ण विहार अशेष जगत् । पदकञ्ज रमेश उमेश नमत् ।
इकदन्त सुसन्त अनन्त सदा । सब स्वामि अधामि
अनामि मुदा ॥
शिवदेवि मनोहर पुण्यफला । अवतार विनाशन पापमला ।
शशिशेष गणेश रमेश शिवा । वचनेश सुरेश दिनेश दिवा ॥
सनकादिक नारद वेदगिरा । सुरदैशिक लोमश आदि परा ।
जगतीश मुनीश मतीश सभी । किम जानहिं रूप न कोपि
कभी ॥
इक शुद्धस्वरूप अरूप रहे । विन मेलन शुद्धहिं वुद्धि गहे ।
विन वुद्धि गहे नहिं वाणि कहे । वच भेद अभेद निषेध दहे ॥
तव शक्ति रचे जगपाल हरे । सब हेतुविलास स्वरूप परे ।
वरवेश सुदेश कृपाहि भरी । जगजीवन नाम कृतस हरी ॥
विन पूजन काज न होत कभी । जगपूजित पूजत ईश सभी ।
सुर सिद्ध सुरेश्वर सिद्धि फरी । पद कामद ध्यानभरी अमरी॥
जिहिं ध्यान धरें मतिवृद्ध सदा । तज लोभ मनोभव मोह
मदा ॥

परमोदस्वरूपहि होत सदा । अवलोकत नैक गणेश यदा ॥
जिहिं पूजन अग्रहुं अग्र लसे । जिहिं ध्यान कुपाप कुभाव ग्रसे ।
जिहिं भौंहविलास हुलास जनी । सुर सेश्वर भोगत सिद्धि तनी ॥
सुर अमृत कौन कमी अब है । जग शेष गणेश कृपा जब है ॥ ६९ ॥

हरिगीत छंदः।

हे देवदेव सुदेव सेवक-सुखद मृदु मङ्गल भये ।
करुणानिधान अमान दानी, दान दिनदिन नित नये ॥
भव भव पराभव विभव भाव, स्वभाव भाव न भावतो ।
सबजगप्रसिद्ध सुसिद्धसेवित, निगम यश नित गावतो ॥
जय शेष सिद्ध सुरेश मङ्गल, सकलश्रुति जिहिं ध्यावहीं ।
हरि गणप दिनमणि उमा सब, जिहिं नाम जप सब पावहीं ॥
जिहिं कृपा मृदुता सिद्ध सब जग, छिपी नहिं श्रुति गावती ।
सब चराचर सुर असुर दुख लख, गरलपान सुनावती ॥
जब वेदमग छिपने लगा, बहु नास्तिकोंकी वृद्धिसें ।
धर भाष्यकारस्वरूप आए, आप पूर्णसिद्धिसें ॥
पाखण्डमत कर दूर थापा, वेदमग सुखसें भरा ।
लख जीवनकों वेद आके, सुखद चरणोंमें परा ॥
जय निगमकर्त्ता तापहर्त्ता, स्वजनभर्त्ता सुखभरे ।
जय कामधेनु सुकल्पतरु-निजभृत्यहित जो नित करे ॥
जय कृपासागर दानआगर, सकलआगर आगरे ।
जय सकल संपत् सुगुणखान, अमान माया तमपरे ॥
जय काल कर्म स्वभाव माया, नर्त्तकी जिहिं रुचि करी ।
जिहिं भ्रूविलास सुरेश ब्रह्मा, शेष संपत् सुखभरी ॥
जिहिं इन्द्र चन्द्र कुबेर दिनमणि, ब्रह्मआदि चराचरो ।

आज्ञा अमिट सिर धर करें सब, सदा सेवत डरडरो ॥
जय सिद्धि ऋद्धि सुपुष्टि तुष्टी, कृपा अवलोकन परा ।
ध्यावत सदा करजोर इकमन, जेंहिं पद सब फल भरा ॥
सब जन्म सुकृत अशेषफल, जिहिं प्रेम सब श्रुति गावहीं ।
नहिं जात वे सुख कदाचित् जे, कदाचित् दर आवहीं ॥
जय प्रेमनिधि तुम विन मधुर, को प्रेमगति पहचानहै ।
यदि जान प्रभु बिन को सबल, जों देत वाञ्छित दानहै ॥
जय परमकोमल दुखीपर दुख, सुखीपर सुख क्षेमसें ।
अमृत पडा दरबारमें जिहिं, गात श्रुति नित नेमसें ॥७०॥

छंद ।

जय जगत्जननी उमापदरज, भाग्य बिन कब मिलत है ।
ध्रुव सेवतेहीं ब्रह्म कर ध्रुव, मोहजालहिं दलत हैं ॥
यदि कामना हो कामनाभी, आ मिलतहै गुणभरी ।
सुख भोगके वह वासनाभी, मूलसहितहिं गलत हैं ॥
अब शुद्धमनमें बैठके दुख, अस्मिता नहिं सहसकें ।
है मात इक रक्षास्वभावहिं, देत जिहिं लख जलत हैं ॥
पुनि पालतीहै दान अपना, कृपा मृदुता सुखभरी ।
विन किये तिहिं विन सरे किम, निजबाल जासों पलत हैं ॥
चिच्छक्ति आप समर्थताभी, सकल विश्व प्रकाश हैं ।
रवि शम्भुचन्द्रगणेश हरि, सब शक्तिसेंहीं पलत हैं ॥
नरदेव हो भूदेव हो ऋषि-देव हो सुरदेव हो ।
विन शक्तिके सब गिरत हैं, सब शक्तिसेंहीं चलत हैं ॥
जे मनुज मोहस्वरूप गिरिजा, पादरज नहिं सिर धरें ।
तिनकोंहि काल स्वभाव माया, तस जगमें तलत हैं ॥
जे भजत हैं विश्वास कर सुख, पादरज सब फलभरी ।
श्रुति सन्त साक्षी उक्त जे सब, देखतेहीं टलत हैं ॥
जिहिं कृपासें रवि चन्द्र शेष-गणेश हरि हर सुखभरे ।

अस जान वेदपुराणसें नहिं, भजत जे कर मलत हैं ॥
सद्गुण शिवाके शेष ब्रह्माआदि, वाणी अतिकवी ।
मति चलतहै परमाणुमेंभी, के सवलजे कलत हैं ॥
अपराधरूप सदाहि हम, यद्यपि तथापि सुमात हैं ।
अब करेंगी ध्रुव गरल अमृत, टेक जा सुन हलत हैं ॥७१॥

भुयंगप्रयातछंदः ।

चिदाभासविश्वप्रभासं स्वभासं
निराकारसाकारमादित्यमाद्यम् ।
अनूद्यं पदार्थैः क्रियाकर्मकारै-
श्चलोऽयं विमोहः प्रभातीह मिथ्या ॥
तवाविद्ययाऽतर्कयाऽसत्त्यैव
प्रकाशप्रकाशानुकम्पाबलेन ॥ १

न यावत्तवाकाशरूप प्रकाशो,
नतोऽहं सदा दैशिकं वेदमीशम् ॥
न यावत्तवेशानुकम्पा न तावत्,
कदाचिद्विहारानुबन्धो विभेति ।
तदा रामरागादिदोषादिभासो,
ददातीह तज्ज्ञाय चापि प्रतोदम् ॥ २

यदेशानुकम्पा निजानन्दलाभा
विहारप्रहाणा कथं केन चैति ।
तदाऽज्ञोपि तज्ज्ञो विमुक्तोऽपि तज्ज्ञो
भवत्येव तेऽनुग्रह प्रादरेशम् ॥ ३

कृपालक्षणा ग्लानिरादौ वितृष्णा
महावाक्यवृत्तिप्रभानन्दभावः ।
सदा दैशिकाह्लादवाणीप्रसादो
रुजाभावदेहः पुमर्थस्य हेतुः ॥ ४

मुरारीशगौरीगणेशेन्द्रचन्द्रा,
मुनीशाः कवीशा ऋषीशा यतीशाः ।
न जानन्ति केऽपि प्रमाणादिभासं
तवेशान रूपं गुणातीतमाद्यम् ॥ ५
न माया न वृत्तिर्हि तस्याः समर्था,
सदा वाह्यभावस्वभावा जडापि ।
चिदाभासभासस्य कार्यत्वमेव,
विशिष्टं हि गृह्णाति वाणी मनोऽपि ॥ ६
करोतीह यन्नामकृत्यं किमन्यै–
रपापं विरागं विदर्पं मुमुक्षाम् ।
गुरोः सन्निधिं दानमात्मप्रकाशं
विहारप्रहाणं सदानन्दलाभम् ॥ ७
किमद्यामृतानन्दसौभाग्यशोभां
गणेशोऽपि वक्तुं परोऽलम्मतीशः ।
सदा कामवृक्षस्त्रयीशेषशेषः
प्रविष्टस्तवान्तःप्रकाशप्रकाशः ॥ ८ ॥७२॥

छंदः ।

भूले वही जो न पूछके, पडताहै इक रूप पहे ।
पांच रूप हैं एक ईशके, ईश दो न श्रुति युक्ति सहे ॥
हो विरुद्ध संकल्पन दोका, है द्वितीय सममें निष्फल ।
सेवकरुचिसें पांच भये यह, गुण कार्यभी पृथक् अहे ॥
है न भेदमल अल्प कतहुंभी, भेददृष्टि दुखका कारण ।
इनमें भेद लखे अतिपापी, देख नरकभी ग्लानि गहे ॥
अन्य निन्द भाषे मैं यांको, भक्त अनन्य बुद्धिमानी ।
केवल दम्भी तिलक-माल-धर, अभिमानी श्रुतिमगहिं दहे ॥
भक्ति कदाचित् होती यांके, चित्त शुद्ध किम नहिं होता ।
भये शुद्ध फिर ईश्वरनिन्दा–में रुचि कैसें कहो रहे ॥

है यह मायावञ्चितवञ्चक, भक्त उदरका कछु जगका ।
पढो तत्त्व किम भासें यांको, वेद न यांको दर्श चहे ॥
आप डूब अवरोंको डोवें, शिष्यधर्मनहिं गुरू बने ।
निशदिन तिलक-मालके झगड़े, जे सन्तनसें दूर वहे ॥
अमृत इनका संग न करिये, भूल कभीभी दृढ राखो ।
हैं यह मूर्त्ति पापद्वेषकी, को इनका दुखदर्श लहे ॥ ७३ ॥
चेतनहीं है सार अधिक या, जासों इनके नाते हैं ।
मायोपहित सेव्य है सेवक, तनुविशिष्ट कहलाते हैं ॥
कृष्ण ग्रन्थमें कृष्ण सेव्य हैं, मायोपहित कृष्णपद है ।
इतर चार हैं तनुविशिष्ट यह, अर्थ व्यासमन भाते हैं ॥
यही रीति है इतर चारमें, शुद्ध विशिष्ट भेद वा है ।
मायाके परिणाम दिव्यतनु, इनके श्रुति हरि गाते हैं ॥
रुचिअनुसार एकको सेवें, कृपापात्र जे इनके हैं ।
इतर चारको लखें इष्टवपु, पूजत नाहिं अघाते हैं ॥
हमहीं करते अल्पकालमें, निरावरणता आतीहै ।
दिपताहै निजतेज अलौकिक, इष्ट वश्य होजाते हैं ॥
धन्य यही हैं पूज्य यही हैं, सेव्य यही हैं सबकेहीं ।
अमृत इनकी चरणधूरिसें, पापी हरिपद पाते हैं ॥ ७४ ॥

स्रग्धराछंदः ।

अम्बाशेषश्रुतिप्रश्रितविमलसदद्वैतदीस्यागमं सद् ।
ब्रह्मस्थानद्विरेफोत्तमदृशिविषयं चित्तसंतापनाशम् ॥
संलग्नाशेषलोकाधिपमुकुटमणिप्राणदश्रीनखाम्बु ।
वन्दे गङ्गे मनोज्ञं तव मधुरमुदा मोददं पादपद्मम् ॥ १
साह्लादं पत्रपाश्यासुरतरुकलिकाकर्णिकोड्डप्रकर्षम् ।
नानाजन्माद्यतापप्रहरपरयशोभद्रहासप्रकाशम् ॥
ब्रह्मानन्दानुकम्पादिगुणकुमुदिनीद्योतकं वेदवन्द्यम् ।
दृष्ट्वा ध्यानेधिपातः कुत इह परमे पूर्णचन्द्राननं ते ॥ २

मन्दप्रारब्धदूरीकृतविमलमनोलोचनानन्दशून्यान् ।
दृष्ट्वा जीवानशेषान् कुटिलपरजितान् श्रीशसंप्राप्तिमार्गान् ॥
शीघ्रं वैकुण्ठपादात्सवलकरुणया तत्सुमार्गैः शुभास्त्वु ।
भूत्वा गत्वा त्रिलोकान् गमयसि सुभगे सच्चिदानन्द कृष्णम् ३
भद्रा शिक्षा सुमुद्रे भवभवविभवे, ऽभावभावादिसारे ।
मिथ्याभासेऽनवच्छिन्नविसमयपरे, शुद्धसत्त्वप्रबन्धे ॥
गंगेऽसङ्गे प्रसन्नाननदृशिनयने यत्स्वभावेन शुद्धे ।
संसारं देवि संतारयसि परबले तत्स्वभावो विधेयः ॥ ४
विच्छेद्यः प्राणनाथप्रियमधुरमनोभूमिबन्धः कुबन्धः ।
औदार्यं स्मारय श्रुत्यमरपरपतिं स्वस्वभावं तथा वा ॥
नोपेक्ष्यो वेदमार्गप्रचुरनिजमतार्थत्वरक्षार्थमम्ब ।
द्वारिस्थाता सुभिक्षुर्मुकुलितसमृतानन्द आर्त्तोपि भृत्यः ७५

चौपाई ।

प्रतिदिन वेदवन्दना प्यारी, जांको हो सुखभरी सुखारी ।
कर अघ दूर शुद्ध हो दमके । मुख रह खिला चित्त हूं चमके ॥
कृष्णचरणमें प्रेम प्रकाशे । जन्मजन्मकी तम विनाशे ।
तिहिं प्रभाव नित बढते बढते । लहें बोध जग हटते हटते ॥
करें ध्यान जे नित्य शुद्ध हो । उत्तमपदकों लहें बुद्ध हो ।
कर विश्वास पाठ जे करते । तेहूं मृपातापकों तरते ॥
जे विवेचना करें वेदसें । ते साक्षात् हों दूर भेदसें ।
वेदवडाई किम मन आवे । कर्म उपासन ज्ञान दृढावे ॥
तीनदोषके नाशक एही । पावें कृपापात्र हैं जेही ।
आसुरि सम्पत् भूल नसावे । दे दैवीकों कृष्णसमावे ॥
धन्य वेद है वेद धन्य है । सबहिं धर्मपद वेदजन्य है ।
अमृतके विन वन्दन क्या है । अर्थमांहिंहीं चित्त लगाहे ७६

सोरठा ।

कहिलाते हैं वेद, मन्त्रभाग ब्राह्मण मिले ॥
करत भेदभ्रम छेद, हरिअभिमुखतादान कर ॥ ७७ ॥

चौपाई ।

ब्राह्मणभाग वेद नहिं होई । विन विचार कहते हैं कोई ।
भागशब्दसें उत्तर आवे । भागी वेद समीप सुहावे ॥
कहें उपस्थितिकृत लाघवहीं । यांको विज्ञ वस्तुसाधकही ।
ब्राह्मणशब्द द्विजोत्तमवाचक । अवरभागको है कांको हक ॥
विना एक प्रथमा समासके । अवरसमास न कबहुं आसके ।
ब्रह्मकथनमें वेद सही है । ब्राह्मणपदका अर्थ यही है ॥
कहे ब्रह्मकों शुसरीतिसें । मन्त्रअर्थ है यही नीतिसें ।
ब्राह्मण मन्त्रभाग हैं दोई । कहें वेदके बुध हैं जोई ॥
कहा विचार प्रमाण विचारी । है ऐतिह्य अवर सुखकारी ।
शिष्टाचार अवर सुखदायक । है अतिउत्तम सबविधलायक ॥
अज सनचार वशिष्ठ पराशर । व्यासदेव शुक विद्यासागर ।
शिवहीं भाष्यकार बन आए । जांका अन्त न कोई पाए ॥
नारदादि ऋषिपुंगव नाना । जिनके जग करवस्तु-समाना ।
ते सब वेदभाग हैं दोई । कहें करें कहते जो सोई ॥७८॥

सोरठा ।

परम्परासें आत, फैला इमहीं जगतमें ।
कृपापात्रकों ज्ञात, अवर न जाने भेदको ॥ ७९ ॥
मैला है कलिकाल, पापोंसें मन अन्ध हैं ।
अन्धोंकी यह चाल, वेदमांहि दूषण धरें ॥ ८० ॥

चौपाई ।

जिनके मति उद्यमकी नीवन । तिनने रचा वेद आजीवन ।
ऐसें कहें मन्दमति जेई । लखे न व्याघातहिं हूं तेई ॥
अनुष्ठानसों होत परीक्षा । सो हो तब लें गुरुसों दीक्षा ।
अर्थपाठमें श्रुति अति गह्वर । किम समझें मैले उदरम्भर ॥
पशुकी योनि महाही दुख है । बलि देनेंसें सुर हो सुख है ।

एकदिवस है सबको मरना । पशुके को सुरलोक सुधर्मा ॥
हिंस्रजीव होवे श्रुतिकर्त्ता । तौ किम हिंसासे वह डरता ।
यह निमित्तभी सुन्दर आवे । जीवकर्तृता दूर वहावे ॥
एकवार नैपालदेशमें । रोकी वलि संन्यासवेशने ।
गुप्त वाजने वजें गगनमें । मरी पडी सवदेश ठगनमें ॥
सकल चिकित्सा निष्फल होवे । जिम इन्द्रियगण तेजहि खोवे ।
सकल प्रजाकों दुख लख भारी । राजा वहुतहिं भये दुखारी ॥ ८१ ॥

सोरठा ।

पण्डित सकल वुलाय, कर विचार वलिकों दियो ।
तवसें सुख वरसाय, देव गये निजधामकों ॥ ८२ ॥
देवयोनि है सिद्ध, युक्ति जगत् श्रुतिभी कहे ।
जे मलसें हैं विद्ध, तिनके को है देवता ॥ ८३ ॥

चौपाई ।

सहस्र श्रुतिकी पहले शाखा । रही मान ऐतिह्य सुभाषा ।
उदयनाचार्य इमहीं भाखें । आस्तिक परम झूठकों नाशें ॥
कलिप्रभावसें घटतीं घटतीं । रहीं अल्पहीं हटतीं हटतीं ।
इन्द्रियगणनें वात विगोई । कछुक अनात्मविद्या खोई ॥
मत पाखण्ड वहुतहीं छाया । सकलवेद मनमें नहिं आया ।
अल्पवुद्धि अभिमान वड़ा है । सन्तसंग नहिं पाप भराहै ८४

सोरठा ।

राखें रुचिअनुसार, वेदभाग तज अवरको ।
करें वदे संहार, भक्त वने हैं वेदके ॥ ८५ ॥

चौपाई ।

जिम जिम मल कलिकाल वृद्ध हो । तिम तिम वढे अधर्म सिद्ध हो ।

वेदमगहिं पाखण्ड बतैहैं । अपनेकों ब्राह्मण बतलैं हैं ॥
आसुरिसम्पत् सब जग छैहै । दैवी कतहूं रहनन पैहै ।
स्वाहा स्वधा शब्द नहिं रह हैं । सबके धर्म सकलहीं बह हैं ॥
स्वधाशब्द सह कही चतुर्थी । सोभी पितृशब्दसें अर्थी ।
सिद्धपितामें नहिं व्यवहारा । सुना न देखा नहि आचारा ॥
हुंडीका जस जगव्यवहारा । तिमहीं पितृद्रव्य आधारा ।
ईश्वरकों साक्षी कर देवें । पितृनामसें सो सब लेवें ॥
कलिमें मल पशुमतिहीं रहहै । भगवत् तत्त्वहिं सो किम गहहै ।
धर्ममांहिंभी धसे न तबसें । अतिस्थूलता छाई जबसें ॥
खान पान विषयनविन जांही । घसनयोग्यता जे जगमांही ।
ऐसी मति किम वेदहिं देखे । जहिं देखे तहिं मैं तूं पेखे ॥
राजा हो हैं धर्मविनाशक । अघप्यारे केवल निजपालक ।
कहें आपकों हम हैं ईश्वर । अवर कहां किम कवन परेश्वर ८६

दोहा ।

तबहीं कल्कीरूप धर, करें अधर्म विनाश ।
गिरिधरजीकी कृपासें, घरघर वेदप्रकाश ॥ ८७ ॥

छंदः ।

संबन्धी सब इनके सहजे, गये सकल अघतमतप तर ।
धन्य देवकी पतितपावनी, श्रीवसुदेव सकल अघहर ॥
कैसे इनपर भई कृपा अस, समझ न कछुभी आतीहै ।
कवन पुण्य है ऐसा जांका, फल ऐसा अतिदुर्लभतर ॥
कालादिक भयभीत जांहिकों, हाथ जोर बलि देते हैं ।
जिहिं संकल्प अजादि रचे जग, जो है परसें परसें पर ॥
जांका खोज अजादि न पावें, ध्यानमात्र बलसिद्ध भये ।
नैसर्गिक सब सिद्धि निरतिशय, पूजित मन अवलोक निधर॥
शत्रु मित्र नहिं जांका कोई, उदासीनता अतिदृढ छाई ।

निजानन्दमें तृप्त रहें नित, पूर्णकाम न वृत्ति पसर ॥
आज्ञा अमिट अजादि पुण्यअति, समझ करें अतिप्रेम भरे ।
नाम न जांका मिलत भाग्य विन, सुलभ सकल अघ तम संहर ॥
अतिदुर्लभ अस वस्तु अलौकिक, इनके सुत पुनि साचेहीं ।
सुन अति अचरज कवन पुण्यफल, खोजत मन कांपे थरथर ॥
अमृत क्या समझें अजभी, खोज खोज हियमें हारे ।
करो प्रणाममात्रहीं जासों, विगरे सवहीं गये सुधर ॥८८॥
क्या जाने वह कैसे सुख हैं, धाइ धाइ हिय आते हैं ।
नन्द यशोदा नाम सुनतहीं, कैसे मन हुलसाते हैं ॥
श्रीवसुदेव देवकीजीके, ऐसे भाग्य कहां लखिये ।
वालकुमार अवस्थाके सुख, इनहींके दरसाते हैं ॥
इनकी महिमाकों ब्रह्माका, मनवचभी क्या परस सके ।
इनके यशकी थाह कहां है, मनमेंहीं वहु भाते हैं ॥
ब्रह्मलोकलौं तज तज सव सुख, मुनि केवलसुख ध्यान लहें ।
सो कर जोर दीन हो इनकी, आज्ञा पाल सुहाते हैं ॥
पाद छुएं नित चरण पखारें, चरणपादुका अग्रधरें ।
करें प्रशंसा हाथ जोर कह, तात मात मुसकाते हैं ॥
कवहुं गोद कवहूं आंगनमें, इत उत डोलें प्रेमभरे ।
कवहुं मांग माखनकों कर गह, हसहस चित्त लुभाते हैं ॥
कवहुं ठान हठरोचित हीलें, कवहुं प्रेमभर गल लिपटें ।
कवहुं रूठ हठ तजें न माने, फैंकें दियो न खाते हैं ॥
खेलेंगे हम चन्द्रसंगहीं, पकडेंगे दर्पणसखको ।
तातमातकर पकर दिखावें, आंसू नयन वहाते हैं ॥
कवहुं सखनसँग खेलत हैं, नहिं आवत वहुत वुलाएभी ।
कवहुं खात उठ भागत हैं पुनि, कवहुँ मनोहर गाते हैं ॥
कवहुं अङ्गशृङ्गार मनोहर, कवहुँ धूसरे अतिशोभा ।

कबहुँ मातके हाथ न आवें, कबहुँ गोद लिपटाते हैं ॥
इत्यादिक बहु केलि मनोहर, करें सकलकों दुर्लभ है ।
हर चतुरानन आदि गगनमें, देख देख हर्षाते हैं ॥
आसन अशन शयन सह सबहीं, गमनादिक व्यवहार रहे ।
अमृत इनके ध्यानमात्रसें, सहजे हरिपद पाते हैं ॥ ८९ ॥
यद्यपि हैं सब सखा ईशके, कब निजधर्म कुमाते हैं ।
मनसुख आदिक पुण्य वेदवच, साचे कर दिखलाते हैं ॥
सदा संगहीं अशन शयन है, आसन गोचारण आदिक ।
तरें भिरें गारीहूं देवें, अल्प नहीं शरमाते हैं ॥
कबहुं रुठ हठ पकरें जिम जिम, तिम तिम गिरिधर शून्यसरिस ।
हाहा खा पईयां हूं परके, अनमन भये मनाते हैं ॥
महाराजभी रूठत हैं जब, तेभी तिमहीं करें अधिक ।
छीन छीन हाथोंसें खावें, गारी मधुर सुनाते हैं ॥
कबहुं आज चल जसुदाके ढिग, खोटी कह कह गिरिधरकी ।
डरपावेंगे कर जोरेगा, ऐसा मता मताते हैं ॥
जाइ कहें सुनतेहीं जसुमति, पकड हाथ ताडन लागें ।
कैसे यमुनाकूंदन भायो, तोकों सखा बताते हैं ॥
सुनत कृष्ण अतिडरें कालभी, डरभी जासों डरताहै ।
दीन अधोमुख आंसू ढारें, भीतर तो मुसकाते हैं ॥
हमतो यमुनामें केवल इक, जावें गाइ पिलावनकों ।
तौभी दूर रहें मैया यह, झूठी बात बनाते हैं ॥
कबहुं मयूर नाचनी नाचें, कबहुं कोकिलावच बोलें ।
कबहुं बंसि मृगश्रृङ्ग बजावें, मधुर मञ्जुहीं गाते हैं ॥
भेजें कृष्णहिं गाय लुटावन, आप सकलकर मत बैठें ।
यह तो आई वह लेआवो, ऐसेहीं बहकाते हैं ॥
कृष्ण कछुक जब बैठन लागें, करें ताडना सकल मिले ।

गाय चरावन कर्म सहजहीं, ऐसेहीं नहिं आते हैं ॥
मत बतलैयो मईयाजूसों, पग पकरें हम कर जोरें।
सबहिं करेंगे सुखसें जो जो, गोचारणकी बाते हैं ॥
कबहुं हास्यरस होइ अनोखा, तुम कारे जसुदा गोरी।
कबहुं कहें तुम मोललिये कर, कर ताडन हर्षाते हैं ॥
गेंदकेलिआदिकमें निज जन-प्रणपालकहिं आप हरें।
मन न मलिन हो कबहुँ सखनका, बान यही यह ध्याते हैं ॥
ब्रह्माकोभी दुर्लभ हैं जो, खोज न पावें श्रुति मुनिभी।
इनके संग सहज मायापति, प्राकृत बने सुहाते हैं ॥
अमृत इनकी महिमाका कब, पार कवन जो पावेगा।
करो प्रणाम कृपा इनकीसें, सकलकामना पाते हैं ॥ ९० ॥
श्रीगिरिधरकी आज्ञा विन कब, एकपातभी हलता है।
गोसेवा सुख उभयलोकका, भाग्य विना कब मिलता है ॥
श्रीगिरिधरकी परम पियारीं, गाय भला अब बाकी क्या।
भगवत्प्रियकी सेवासें को, मिले न सुख अघ टलता है ॥
आगे पीछे मनसें गोधन, रहे रहें हम गोधनमें।
इमहीं चहें जगतपति फिर को, गायसरिस अघ मलता है ॥
विष्णु गलेमें पीठ चतुर्मुख, मुख शिव मध्य सकलसुरगण।
रोमकूपमें रहें महाऋषि, खुर गिरि हरि मणि फलता है ॥
नाग पुच्छमें गंग मूत्रमें, नेत्रमांहि रविचन्द्र रहें।
गोसेवासें तीर्थ सुर ऋषि, पितर सकल गण पलता है ॥
सकल विष्णुआदिक सेवा-फल, गोसेवासें सकल मिले।
गोसेवन श्रद्धासें सहजे, माया अघ दुख दलता है ॥
मरणसमयमें गायदानसें, स्वर्गवासहीं मिले सहज।
कटतेहैं सब अघ वैतरणी, नरकमांहिं नहिं तलता है ॥
पञ्चगव्यभी याहीसों मिल-ताहै लखिये तनिक सही।
यांका मोल न होइ किसूसें, सब ब्रह्माण्ड न तुलताहै ॥

किसीरीतिसें रोम गिरावें, लखें क्रूरतासें हाहा ।
हाहाकार मचे सुरद्विजमें, क्षत्रि वंशसह गलता है ॥
सुतद्वारा फल अन्न बहुतविध, रच जगकों पाले निशदिन।
भाजी कपडा मेव मिठाई, तेल दीपमें जलता है ॥
दूध दहीं अधमथातक्र घृत, नानाविध रसके कारण ।
मूत्र भूमितनुरोग हरत बहु, पाप सकलभी टलता है ॥
चर्म नेत्रपदरक्षक है सब, मल इन्धन बनजाता है ।
गोरोचन है परपवित्रहीं, बहुत कार्यपर चलता है ॥
यांके सुत रथ-गाड़ीआदिक-भरे हुये बहु जिनसोंसें ।
पहुँचाते है सुखसों सहजे, जहां धनी निज कलता है ॥
हविर्दानसें देवलोककों, पालत है गोमाताहीं ।
हिंसा नहिं कछु करे अभेद है, दर्शनसें मन खिलता है ॥
परउपकार एकही निशदिन, आप घासकों खाइ सुखी ।
गोमहिमाके कहनेकों अज-काभी मुख नहिं हलता है ॥
अमृत गोकी चरणधूरिसें, पापीभी तरजाते हैं ।
यांकी कृपा सकलसुख देवे, लख अब मनहुं मचलता है॥९१॥
श्रीकृष्णही सर्वस्व जिनके, चित्तसें नहि क्षण टलें ।
श्रीगोपिका-पदवन्दना सुख-रञ्जना अघ तम दलें ॥
दोहन मथन पाकादि कार्य, गेह किम पूरा बने ।
मन रहें गिरिधरचरणमेंहिं, इधर आते तलमलें ॥
गिरिधर मनोहर चरित कबहूं, गान करतीं सुखभरीं ।
मृदुमधुर सुखवपु पान कर, कबहुं सकल द्वैतहिं मलें ॥
कबहुं सविकल्पसमाधिमें, सुख अहंतासें लेरहीं ।
प्रियनाम जपतीं कबहुँ भाखें, नाम तुमसें हम पलें ॥
कबहुं कहें सर्वस्व हमरे, कृष्णहीं इक प्राण हैं ।
सुत देहगेहजहानसें क्या, रहें चाहें अब जलें ॥
कबहूं कहें हम कृष्णकीहीं, झूठ ममता अवरकी ।

कब घरी वह सुखभरी हो हम, कृष्णसें इकहो मिलें ॥
कब वह दिवस जब प्राण हमरे, हमसरिस हम पर विकें ।
कब चित्त उनके दीन हम, मनसें सदाहीं आ मिलें ॥
कबहूं कहें जिनके न है सुख, प्रेम तेहीं निशदिवस ।
दुख काम क्रोध विमोह माया, लोभ मद भ्रमसें बलें ॥
है लोक क्या परलोक क्या सुख, इक हमारे कृष्णहीं ।
तिन विन सकल सुख गरल हैं, तिनसंग दुख नहिं सुख फलें ॥
कबहूं कहें यह प्रेममार्ग, धन्य है अस सुख कहां ।
अजलोकलौं उत्तमपदार्थ, मिलेभी मन नहिं चलें ॥
अतियतनसेंभी शमदमादिक, मिलें नहिं योगीशको ।
इसप्रेमके अनुचर सदा नहिं, कबहुं मनइन्द्रिय हलें ॥
कबहूं कहें यह प्रेम साचो, पञ्चमोहिं पुमर्थ है ।
त्रयवासना गालन अघट, इस प्रेमसें सहजे गलें ॥
कबहूं कहें जिनके न है यह, प्रेम मिलताहै कहां ।
तेही पुमर्थचतुरतृषामें, दिवसनिश क्षण क्षण पिलें ॥
कबहूं कहें हम धन्य कुलभी, धन्य गुरुकुल धन्य है ।
सब यज्ञ तीर्थ व्रत सुजप शत-योग हमसम कब तुलें ॥
नहि लोकलाज न का न श्रुतिकी, प्रेममद छायो अलभ ।
कर्त्तव्यताके तज्ज्ञपरहीं, विधि निषेध सकल खुलें ॥
कबहूं कहें यदि लोक अजकी, संपदा सेवा करें ।
श्रीकृष्ण अमृतदर्श विन हम, दीन किम कबहूं खिलें॥१२॥
धन्य वही हैं इनसें जिनके, कछुक मृदुल दृढ नाते हैं ।
काननहीं बसताहै जब यह, गायचरावन जाते हैं ॥
हमरे तो गृह बाग बगीचे, लगें सकल श्मशानसरिस ।
लखे न जावें देहसहित सब, खाते बहुत डराते हैं ॥
बसती सकल श्मशानभूमि अब, दशदिश आग प्रचण्ड जले
जीव जलत तडफतहीं दीखें, दोदुख हमें जलाते हैं ॥

नरनारी सब जल वलके ध्रुव, भूतहुं प्रेतपिशाच भये।
गलसें आंतें डार मरोंकी, सब खानेको आते हैं॥
हाथ उठावें मारणकों मुख, जीभ हलावें खानेको।
रोते हैं चिल्लाते हैं भय, हाहाकार मचाते हैं॥
कठिन बकें हैं मारो काटो, पकरो कच्चे खाजाओ।
दांत निकालें आंख दिखावें, सिर जलते दरसाते हैं॥
जावें कहां छिपें अब कैसे, कानन विन है ठौर कहां।
हाइदई यह पगभी पापी, जले चलन नहिं पाते हैं॥
काननके चर अचर धन्य अब, ब्रह्माकोंभी तुच्छ गिने।
निरख निरख मुख गिरिधरजीका, तनुमें नाहिं समाते हैं॥
भानु निगम हरि हर सुर सुरपति, ऋषि मुनि सिद्ध ज्ञानी सबहीं।
वनवासिनकी महिमाको अब, कहते नहीं थकाते हैं॥
धन्य कुलें हैं वनवासिनकी, अब तिनसम है कवन नको।
सबसें धन्य वंसि गोकुल है, सदा संग हुलसाते हैं॥
करें कृपा वंसीकी स्वरकों, पूरें अपनी रीतीसें।
जड चेतन हो उलटे नीचे, सत्यलोक बतलाते हैं॥
वनप्रदेशमें जिधर कृपा कर, चलें उधरहीं गोधावें।
गोकुलचन्द्रदर्श विन इनकों, खानपान कब भाते हैं॥
बालक धन्य संग नहिं छाडें, लोकलाज नहिं हमरेभी।
डरतीं हैं वह विमनन होवें, जे हमरे सुखदाते हैं॥
वनभूदेश धन्य हैं अब ध्रुव, जिनकी रज सब जगपावन।
ब्रह्मादिक सब कर प्रणाम कर, जोर सदाहीं ध्याते हैं॥
यमुना धन्य भई अब यांकी, अतिमहिमाकों कवन कहे।
जगन्नाथ जगजीव एकरस, जगस्वरूप नित न्हाते हैं॥
गिरिगोवर्द्धन महिमा वचपर, ब्रह्माभी क्या भाषेगा।
गाय चरावत प्राणनाथ नित, वांपर फिरत सुहाते हैं॥

कब ऐहैं गोधूरिकाल कब, जगें भाग्य हमरे सोते ।
कब निरखेंगी मुख कृतसहर, क्षण क्षण युगहिं विताते हैं ॥
चढी अटारिन मार्ग देखें, क्षण क्षण कल्पसमान भयो ।
खानपान कब किसको भावे, देह प्राण मुर्छाते हैं ॥
पाकादिक गृहकार्यभी कछु, हो पहलेहीं भावनसें ।
अमृत इनका यश पावन सब, ब्रह्मलोकलौं गाते हैं ॥१३॥
गृहवाल जिम निजगृह समझ, जडजीव जीवकुतप हरें ।
जो नाम जिहिं जगप्राण सब, सुखखानि ध्यान अमन करें ॥
जिहिं जपत हैं योगीश सिद्ध, सुरेश रवि हर अज उमा ।
जिहिं मनस्वभाव न मिले कतहूं, सहजहीं दुखतम दूरें ॥
जिहिं भ्रूविलास सुरेशआदिक, सम्पदा अतिसुखभरी ।
जिहिं वुद्धि श्रीही ऋद्धि सिद्धि, पसार कर आज्ञा भरें ॥
जिहिं भावसें माया जगत् सब, रचे पाले संहरे ।
अवलोकनी मृदु तमहर मधु, दर्शसें भवतम जरें ॥
जिहिं नामसेंहीं सम्पदासुरी, भोग निकट न आवती ।
अति पापभी व्याजी अभिधसें, जितेंभी यमसें लरें ॥
जिहिं चरणजल त्रयलोकके, अघ हर करे अजयोग्यता ।
जिहिं संगिसंगी पादजल, संसर्गसें सहजे तरें ॥
जिहिं श्वास वेद पुमर्थकारण, अचलसुख बलसें भरा ।
विन कृपा अर्थ दुरूह अजकों, भी सकल सिरपर धरें ॥
जिहिं कृपासेंहीं तत्त्वश्रुति, अद्वैत सबकों भासता ।
जिहिं रूप नैसर्गिक निरतिशय, निरख सब भवतप झरें ॥
षड्गुण निरतिशय सहजहीं, जिहिं पादरज चुंबत सदा ।
संकल्पअनुग अजादि जग, निजदाससें कबहुं न अरें ॥
जिहिं द्वेष्य अरि कोई नहीं, सब आप आपे हो रहे ।
मुख खिलेहीं दीखें अहंता, है न जासों सब गरें ॥
जिहिं बल अकिंचन सन्त कछुभी, नहिं गिनें अजलोककों ।

माते दिखें हैं मद अलौकिक, फले फूलेहीं फिरें ॥
दधिआदि चोर खुलाइ वालहिं, आप कव खेहैं छिपे ।
हम छिपी देखेंगी सुमुख यह, दानदो शिव पग परें ॥
कव वाल सोते आ जगें निज, खोल वछड़े गोपीवें ।
हम निरखें अमृत होहिंगी जो, भक्तमन सुख अनुसरें ॥९४॥
है कछु ऐसी मधुरवातहीं, हरिहीं चित्त वसाए हैं ।
चोरी मुखछवि निरख अवर, देखनकों मन ललचाए हैं ॥
अवलौं कवहुं न देखीहै छवि, गिरिधरमुख कुमलानेकी ।
जिम लख शशिहिं जलजछवि मनहर, सखि हरि कैसे भाए हैं ॥
चहे वस्त्र मृदु भूषण उत्तम, पहनाओ अतिसज सजके ।
चहे धूरिधूसर हों सहजे, अतिछविसेंहीं छाए हैं ॥
साच कहें सखि अम्बर भूषण, इनसेंहीं छवि पाते हैं ।
यहहीं कारण सकल विश्वके, इनसें सवहिं सुहाए हैं ॥
इनके अङ्गअङ्गपर कोटिन, काम निछावर होंहि सदा ।
इननें कवहूं अभिमुख आए, पापीभी न सताए हैं ॥
कैसा मृदुलस्वभाव सखीरी, तजे नरककेभी जे अघ ।
आए शरण तजे नहिं कवहूं, अपनेमांहिं मिलाए हैं ॥
अतिपापिनकों तीर्थ करते, कल्पवृक्षके कल्पविटप ।
सकलजन्मतपहर वेदननें, इनके यशहीं गाए हैं ॥
निजजन यदि अपराध करेंभी, निजका उलटा पहलेसें ।
अधिकप्रेम राखें नहिं त्यागें, अल्पहुं कवहुं न ताए हैं ॥
अपना दृढहठ तज निजजनका, हठ पालतहैं हठसेंभी ।
नाममात्रसें यम पापिनके, निकट न कवहूं आए हैं ॥
हम पर कृपा भई अब कैसी, कैसें हमसें आइ मिले ।
कामादिक अघ ताप सहजहीं, कतहूं रहन न पाए हैं ॥
कोई कछु कह कोई कछु कह, अमृत यह मत अन्त ठना ।

जसुदासों डरपैहैं अस कह, सबके मन हर्षाए हैं ॥ ९५ ॥
सुन सुन यशोमति क्या सुनावें, बात है जगसें परे ।
यह दिखनकों ऐसेहि हैं, हैं सब अलौकिकगुण भरे ॥
अरि पूछतो इनसेंहिं क्या क्या, कर्म इनके हैं अवच ।
हम क्या कहेंगी सब जगत् भी, कहतहीं लज्जा करे ॥
यदि हो सरस्वती गणपभी, सब आयुभर लिखते रहें ।
तनमनविनाशक तात तव, गुण शक्ति क्या है को तरे ॥
हम बहुत विनती कर थकीं, इनके न एक स्पर्शती ।
ध्रुव गिरे अम्बरसेंहिं यह हैं, नर कहां अस आचरे ॥
हमसें कदापि न कहे जाते, गुण तिहारे तातके ।
अब जानती क्या तुम न होंगी, लख इसे सब मन मरे ॥
यह एकलेहीं रहा चाहें, भात नहिं दूजा इसे ।
निजजन उसीकोंहीं समझते, हो अकेला जग दरे ॥
हमभी न गृहआदिक लखें, उन्मादसा कछु होगिया ।
ऐसा बिगाडा मन तिहारे, ताननें निशदिन गरे ॥
अब घर न बाहर तनिकभी, अच्छा लगत दुख सुख लगें ।
विक्षिप्तसी करदई यह तो, किसीसें कबहुं न डरे ॥
तुमरे कहेकों मानलें तो, मानलेंगे क्या समझ ।
इतनाहिं समझादे महर, अब ताप देनेसें टरे ॥
गोपीकथन उलटा समझ, जसुमति कहे सुतकर पकर ।
तुम किम सतावो नगरकों, जो सदा हमरे अनुसरे ॥
सुन तात जो अपनेहि हों, उनको न कबहूं ताड़ये ।
सुख दीजिये निशदिवस मनसों, जहांलौं तनु बल धरे ॥
करिये सदाहीं यतन ऐसा, उचितहीं यह कर्म है ।
जासों सदा निजजन सुखी, हो सदाहीं फूले फरे ॥
सुन मात वच कर अधो मुख, कछु अनमनेसें होगये ।
कहने लगे हम तो कदापि न, कबहुँ काहूसों अरे ॥

हम सदा इक रस देखते, सबकों न अल्पहुँ विषमता ।
नहिं किसूसे है वैर हम, कबहूं न काहूसों लरे ॥
जो करतहैं कछु प्रेम हममें, हम सदा अनुचर रहें ।
माला न बच मिथ्या विविध, जगतापसें कबहुँ न जरे ॥
सुन वचन अतिगव्हर मनोहर, छवि निरख सब गोपिका ।
मुसकात घरकों गई अमृत, नाम इनको तम हरे ॥ ९६ ॥
गिरिधर सुमन यद्यपि सदा, तनु प्रेमके दरसात हैं ।
तौभी विनिश्चय किया चाहें, कृष्ण मन जो बात हैं ॥
इक दिवस गिरिधरकर पकर, पूछन लगीं सब प्रेमसें ।
प्रिय कहो मनकी दुख हमारे, कबहुँ मनमें आत हैं ॥
जिम हम लखें सर्वस्व तुमकों, तिम तिहारे मन सही ।
जिम तुम हमें इक प्राणप्रिय, तिम हम कदाचित् भात हैं ॥
जिम तुम हमारे निशदिवस, मनसों न कबहूं दूर हों ।
तिम मन तिहारेसें कभी तो, हम नहीं उठजात हैं ॥
सुखरूप तुमरे सुखहिंका, हम सदा चिन्तन कररहीं ।
तिम सुख कभी हम दीनके, तव चित्तमांहि समात हैं ॥
जिम हम तिहारे नामसें, ऐसी खिलें नहिं सुध रहे ।
तिम तुम कभी हमकों निरखके, भी भला हुलसात हैं ॥
जिम हम जुदाईमें अल्पजल–मीनसम तडफें दुखी ।
तुमकों जुदाई हैं न तिम, ऐसें सकल श्रुति गात हैं ॥
परतडफनेकों देख आती है, तनिक मनमें दया ।
जिनके दया है ते भला निज–जनहिं किम तडफात हैं ॥
सुन कहें दामोदर न वह दुख, सहीं शतसुखसें अधिक ।
यह दुख मिलेहै कहां किसकों, अनिक जन्म बिहातहैं ॥
पदसत्यलौं ऐश्वर्य निज–विज्ञानभी देवों सहज ।
यांकों कदाचित् देतहों यह, दास मोहि बनातहैं ॥
सर्वस्व हमरे प्राणप्रिय तुम, तनु निछावर है सदा ।

अपनी तजों इनकी रखों, इन विना कासों नात हैं ॥
तुमसरिस मनसें उठेंगे जव, तव रखेगा को हमें ।
तुमरे जियाएहीं जियें हम, तुमहिंसें विख्यात हैं ॥
सव सुख हमारे तुमहिं इक, साचे सदा मनमें वसो ।
प्रियनामध्यानादिक विना, सुख सकल प्रियहिं भुलात हैं ॥
है प्रेममार्ग कठिन दर्शन—चाहभी शोभित नहीं ।
पडताहिं है होरहन प्रियका, तौहि धर्म निभाते हैं ॥
हमरा हुलास तिहार दर्शन, नाम ध्यान प्रसंगही ।
को अवर तुमविन है हमारा, साचहीं वतलात हैं ॥
हमभी तिहारे ईशतादिक, गुण—सकल तुमरेहि हैं ।
यह चाह जो हैं तापहीं हैं, जन्मतीहिं दुखात हैं ॥
होवे जुदाई सदा चाहे, हो मिलाप सदा रहे ।
हो मित्रके जव चाह मनसें, उठी सुख उच्छ्रात हैं ॥
इस वृत्तिकेहीं दानहित कछु, जुदासेंभी हम रहें ।
तुमरी कृपासें हम वडे हैं, कृपाविन मुर्छात हैं ॥
हम हैं सदा अनुचर तिहारे, मोलविन दाम न लिये।
तुमहीं हमारे सदा जीवन, नाम सुख वरसात हैं ॥
सुन वचन अतिहिं दुरूह प्रिय, मृदु मधुर सव सुखरूपके ।
पायो परमविश्राम जासों, मन सहेतु विलात हैं ॥
गिरिधरपदामृत सीस धर, वैठीं सकल मस्ती भरीं ।
इनकी प्रणामें वर अघटकों, आइ सहज मिलात हैं ॥ ९७ ॥
मिले कहां विन भाग्य वास निज—पुण्यपुरुषहीं पाते हैं ।
मथुराजीके वासमात्रसें, सव पातक मिटजाते हैं ॥
दर्शध्यानसें कथा कवन है, विन श्रद्धा विधि नहिं सफल ।
श्रद्धाकर लखिये मन कैसे, परमशुद्ध हुलसाते हैं ॥
हैं विशेष सामान्य रूप दो, गिरिधरके श्रुति वुध साक्षी ।
करें पवित्र समान न निजसें, तिम न सकल दरसाते हैं ॥

परम पवित्र विशेषरूपसं-सर्ग तनिकभी जहां भयो ।
चेतन हो या जड हों सवहीं, परमशुद्धिके दाते हैं ॥
जडचेतनमें चेतन उत्तम, सब जाने कछु छिपी नहीं ।
याहीसों सन्तनकों भगवत्, अतिउत्तम वतलाते हैं ॥
प्राजापत्यादिकसों कवहूं, परमशुद्धि नहिं दिखे न हो ।
कुञ्जरशौचतुल्य यह सवहीं, इम पुराणभी गाते हैं ॥
मथुरामें अवतार कृष्णकों, भये जगत् श्रुतिभी साक्षी ।
परपवित्रता छाइगई अव, नाम लेत मुसकाते हैं ॥
मथुरापर ध्रुव अमृतहीं है, प्रथम कृष्णसंसर्ग भयो ।
यांके प्रेम प्रणाममात्रसें, अभिमत सकल सुहाते हैं ॥९८॥
यमुना-अभिध जप शुद्ध हो, लख तत्त्व सुखफूलें फरें ।
कछु गिने नहिं अजलोककों, इनकों प्रणामें सव करें ॥
श्रीयमद्वितीयान्हानमात्र, विनाश झगडा यमनका ।
लेजात हैं वर स्वर्गकों जहिं, सदा सुखसेंहीं भरें ॥
यासों अधिक को पद जगतमें, पतितपावनता कहां ।
सब जगत् तीर्थपादकी हो, मुख्य पत्नी तम दरें ॥
कूपादिजलसें कर क्रिया, शौचादि श्रद्धाप्रेमसें ।
पूजापुरस्सर न्हा यमुनमें, कृष्ण भज सहजे तरें ॥
जे कृष्ण मनमें राख कणिका, एकभी पीवें सुखद ।
ते काट अपनें पाप सगरे, अवरकेभी अघ हरें ॥
विश्वास राखें ध्यान नित, कालिन्दीगुणकों गावते ।
पावें परमपद सहजहीं, श्रीकृष्ण निजमन अनुसरें ॥
अमृत कृपा कालिन्दीजीकी, को न कार्य करतहै ।
मम नति फरेंगी अवश सुत, अपराध मात न मन धरें ९९
भगवत्संगमहत्त्व कहे को, परम-धर्म वरसाते हैं ।
गिरिगोवर्द्धन परमहिमामें, कांके मनवच जाते हैं ॥
कर प्रवेश निजरूप कियो गिरि-धरनें हैं वपु पुण्यसकल ।

पूजा निज सह ब्रजवासिननें, सबहीं परयश गाते हैं ॥
सप्तदिवस जिम उच्छलीन्ध्र कर, धर ब्रजरक्षा करी सुगम ।
इनकी परपावनतामें मन, वच किम कबहुं समाते हैं ॥
परमप्रेमश्रद्धासों पूजा, कर गिरिराज प्रदक्षिण दें ।
चित्त राख गिरिधरकों सहजे, जगत्पूज्यपद पाते हैं ॥
श्रीगोवर्द्धन ध्यान करें नित, नाम जपें अतिश्रद्धासों ।
तिनके सेवकके भी यम नहिं, आते निकट डराते हैं ॥
गो इन्द्रिय वर्द्धन हों अन्त–मुख जबहीं यह बढती हैं ।
बहिर्मुखनका नाश सिद्ध है, निगमहुं यही सुनाते हैं ॥
ब्रह्मप्राप्तिसाधनदृढपलटन, इन्द्रियकाश्रुतिवुधसाक्षी ।
फलउत्तरवरनाम देत हैं, दर्शनसों सुख आते हैं ॥
अमृत सुखद्प्रणाममात्रसें, मनसंकल्प सुहाते हैं ॥ १००॥
ब्रजभूमिकी महिमा अचल, जग श्रुतिपुराणहुं गात हैं ।
कर प्रेमश्रद्धा सेवते जे, सहज निजपद पाते हैं ॥
संसर्ग द्विविध भयो जहां, सब तीर्थनके रूपका ।
तनुका सुमुखका कवन अब, यांके सरिस हो भात हैं ॥
ध्रुव है मनोहरता त्रिविध जग, तीनगुणके भेदसें ।
सात्त्विकपुरुषकोंही हमारे, सत्यवचन सुहात हैं ॥
अपनेहिं गुण आधिक्यकों लख, खिंचे जातेहैं सकल ।
सात्त्विक पुरुष मन हरणकों, या सम न भू दरसात हैं ॥
सब सुर सुरेश गणेश अज हर, उमा रवि शशि सिद्ध वुध ।
याहेतुसेंही सकल प्रतिदिन, यांहि सीस नमात हैं ॥
राजस कहे तामस भला क्या, देख हमरी आंखसें ।
इसभूमिपर हों सिरनिछावर, प्राण विकत सुहात हैं ॥
चलचल परेहट समझ वया है, अन्ध रजतमसें भया ।
कर सन्तसेवा बिन कृपा, इनकी न आंखें आत हैं ॥
अब देख यांकी कृपासें, कैसे पतितभी तरचले ।

विन प्रेमश्रद्धा कृपा नहिं, फल प्रेमहीं दिखलात हैं ॥
गिरिधरचरण मन राखके, या भूमिमें नित वास हो।
ऐसे पुरुषकी चरणरजसें, देवता वन जात हैं ॥
उड वायुसें व्रजरज जहांलौं, जातहै पावन करे ।
पर आंखहीं यांको लखें हैं, यह अलौकिक वात हैं ॥
है पुण्य वड जांका वहीं कर, दर्श सुखसें मस्तहो ।
जो पापसें उत्पन्न वांकों, अघहिं क्षण मुसकात हैं ॥
जे दूरवासी प्रेमसें इस-भूमिकों नित नमत हैं ।
तिनकों नमत सुर निकट जे, तिनके न फल कहजात हैं ॥
जे पूजते हैं प्रेमसें यांकों, सदा गिरिधरकृपा ।
दुर्लभ सहजहीं होतहै, जासों फले हुलसात हैं ॥
जे नामभी यांका जपें, विश्वासकर दृढप्रेमसें ।
व्रजनाथ तिनकों ध्रुव सनाथ, वनात सुख सरसात हैं ॥
विश्वासकर जे ध्यान धरते, लव निमेषहुं सुखभरे ।
हर पाप तिनको सहजहीं, व्रजचन्द्र ब्रह्म वनात हैं ॥
अजलोकलौं या भूमिनें, नीचे करे तवसें सही ।
जबसें अजेश्वर आवसे, जिहिं नामकी अज दात हैं ॥
अमृत भला अब कवन कमती, रहेगी नहिं हेतुको ।
हम पडे यांके चरणमें, अपराध गिनत न मात हैं ॥ १०१ ॥
धन्य धन्य हैं हरिसें जिनके, कैसेभी कछु नाते हैं ।
कंसादिकके परमभाग्य हैं, मनवचमें न समाते हैं ॥
आसुरिसंपतहेतु अवर है, जासों राजस तामस सुख ।
सुरदुर्लभश्रीकृष्णदरसका, हेतु अवर श्रुति गाते हैं ॥
कबहुं न जिनके शुद्धधर्म है, तिनकों भगवत्दर्श कहां ।
युक्तिसिद्ध इतिहाससिद्ध, ऐसेहीं वेद सुनाते हैं ॥
कंसादिकसम को उपकारक, जिनके लग अवतार भया ।
करें स्निग्ध नती हम इनकों, इनसम को सुखदाते हैं ॥

यदि नहिं होते कंसादिक जग, फिर यह सुख कब मिले किसे ।
अनिक तरे तरहैं आगेभी, अबभी तरतेजाते हैं ॥
इनकेभी रिपुभाव-मात्रसें, जगनें वहहीं देखलिये ।
ब्रह्मादिककों दुर्लभ जे अज–मनमेंभी नहिं आते हैं ॥
अचलवैरसें गिरिधरचिन्तन, करकरअसुरहेतु नाशा ।
मरे कृष्णसुखहाथ नाम जप, जांका सुख बरसाते हैं ॥
मरणकालमें नाम भाग्य विन, मिले न जांका कहो भला ।
तांके करसें मरण भाग्य विन, कवहुं कहां को पाते हैं ॥
मिसीनामसें मरणसमयमें, अजामेल वैकुण्ठ गए ।
युक्तिसिद्ध हरिहाथमरें जे, हरिहींमांहिं विलाते हैं ॥
अमृत इनकों धन्यवाद दे, कर प्रणाम बड़भागी हैं ।
वैर अभेद कृष्णसें संगम, इनके सहज सुहाते हैं ॥ १०२ ॥
इनकेहीं पदपद्म हेतुसें, दुस्तर भवदुख-सिन्धु तरे ।
सन्त कृष्ण रिपु मित्रहिं देते, सम फलहीं आनन्द भरे ॥
सदा सरल छलको नहिं जानें, परउपकार सदा प्यारा ।
जग शरीरमें दिखतेहीं हैं, मायासें हैं बहुत परे ॥
स्वार्थ रहा न कतहूं कवहूं, कर्म होतहै परहित लग ।
देखें परकों निजस्वरूपहीं, अन्यदृष्टि कवहुँ न पसरे ॥
भई निरंकुशतृप्ति सकल अस, चाहनाम ध्रुव रहा नहीं ।
निजानन्दके लाभभयसें, अवर लाभ किम मन पकरे ॥
आसुरिसें कछु द्वेष नहीं है, दैवीकी कछु चाह नहीं ।
दैवीसंपत् शिरीमुकुट यह, दैवी आकर जोर वरे ॥
तौभी दैवीसंपतहीं निज, सहज-स्वभावहिं छाइरहीं ।
कृष्ण कहें इनके हम प्यारे, अतिप्यारे हैं यह हमरे ॥
निजस्वरूप-श्रीगिरिधरयशकों, वहिर्वृत्तिमें गाते हैं ।
परानन्द निज दान ध्यान धर, धन्यवाद दें हिये हरे ॥
योगक्षेम सब कृष्ण करें दृढ, रहें सदा आगे पाछे ।

इनके सहजसंगका क्या फल, नरक न मनमें स्वर्ग धरें ॥
अगुणसगुण सवहीं हैं आपें, सबके सुखकों भोग रहे ।
सबकों अपनी सत्ता देवें, स्फुरण मोद इनसें निकरे ॥
इनसेंहीं सव पृथिवी ठहरी, रक्षित धर्म वढे सुखसें ।
कठिन अधर्मवासना पापहुं, देखत इनकों तुरत मरे ॥
इनके लगहीं कृष्ण जगत्में, नानावपु धर आते हैं ।
जिनका यश गा अन्त्यजादिभी, विगरे वहुभवके सुधरे ॥
पूज्य यही हैं सकल जगत्के, पूजाभी अतिसफल यहीं ।
जहिं जहिं पाद धरें सुरपादप, फूले सवहीं सवहि फरे ॥
जङ्गम तीर्थराज यहीं हैं, सव जग पावन सुखी करें ।
इनके दर्शनसेंहिं सहजहीं, नानाभवकी जरनि जरे ॥
भरे सदाहीं कृष्णप्रेमसें, सत्यकामहीं होते हैं ।
शान्ति मिलीहै इनहींकों इक, दशदिश अमृत सदा झरे १०३

छंदः ।

महाराजकी प्रतिमाकों हुं प्रणाम,
देत पुमर्थ सकल हूं जांका नाम ।
पाप तजें अभिमान सदा निष्काम,
रागद्वेष नहिं मान वने अभिराम ॥
वहुतप्रेम हरिमतिसें पूजन करें,
जपें नाम परिणाम लहें निजधाम ।
यदि सकाम भी वित ही पूजन करें,
पावें अभिमत मनहर निश्चल काम ।
कोई कहें ईशका नहीं शरीर,
रूपरहितके किम हो प्रतिमा साम ॥
मनुजशरीर योनि विन वनता नहीं,
इम प्रतिमाका पूजन सवही वाम ।

अमृत मैले इमहिं कुकल्पन करें,
दीखे नाहीं आंख नहीं है चाम ॥ १०४ ॥

चौपाई ।

हरिनें अजको वेद पढाए । तनु विन वाक् कहां फल पाए ।
यदि मनसों दृढदोष वही है । हठ तज लखिये ठीक कही है ॥
यदि वपु–मन–वचविन स्वशक्तिसें । दिये वेद अजकों स्वभक्तिसें ।
हैंहि अनन्तशक्तिके पालक । तौ इमहीं विन योनिहुं वालक ॥
जिनके वडे भाग्य जगमांही । सन्तधर्मका अन्तहुं नाहीं ।
प्रेमभरें निश्चल नहिं डोलें । ध्यान धरें हरि हरियश बोलें ॥
जिहिं देखें तहिं कृष्ण खडे हैं । अगुणसगुणमें निपुण वडे हैं ।
दैवीसंपत् भरे मनोहर । सदा प्रसन्न गए सवहीं डर ॥
आसुरिसंपत्लेश नहींहै । होहैं कृष्ण अभाव जहीं है ।
सदा कृष्णपर विके मस्त हैं । तनु–जग–झगडे सकल अस्त हैं ॥
रहें सदा हरिदर्शन प्यासे । रचें सुमङ्गल सदा हुलासे ।
तिनके हित इच्छितवपु धारें । क्रीडा करें आपहीं हारें १०५

दोहा ।

भजते हैं श्रीकृष्णकों, लखते हैं सव रूप ।
मस्ते हैं तिहिं नूर पर, ग्रस्ते हैं जग छूप ॥ १०६ ॥

सोरठा ।

पञ्चीकृत जे भूत, गगन वायु जल तेज भू ।
कारण हैं अनुस्यूत, कार्य चार प्रकारमें ॥ १०७ ॥
जैसी होइ प्रकृति, पांचोंके जसमिलनसें ।
तैसी हो उत्पत्ति, मान विज्ञसें सिद्ध है ॥ १०८ ॥

चौपाई ।

इनमें नरप्रकृति जव होवे । उपजे नरहिं क्यासि को खोवे ।
सुनागिया मनमेंभी आवे । योनिविनाभी नर होजावे ॥

विषमप्रकृतिहिं होत मिलनसें। समप्रकृति नहिं कतहूं तनसें।
सम हो तब पांचोंके समहीं। होवे तोल प्रकृति स्वतनभी॥
ऐसे भूत न मिलते कवहूं। निजनिजठौर रतेहैं सवहूं।
समप्रकृतिके जिम जिम पासे। तिम तिम तनुमन तेज प्रकाशे
सवहीं वर जिम देशविभागा। करिये अव मम वच अनुरागा
छांडो झगडा पूजो कृष्णहिं। जपो नाम जो नाशे तृष्णहिं१०९

सोरठा।

तृष्णा सव दुखमूल, सव दुखरूप कुरूपिका।
यहहीं अघतमतूल, भजन विना को संहरे॥ ११०॥

दोहा।

ज्ञापक है अवतारका, यह पुरुषोत्तममास।
आंख नहीं जव कहें क्या, दिखे न यमका त्रास १११

सोरठा।

जे हैं ध्रुवअनुमान, ग्रन्थ पुराणादिक सकल।
तिनका भाषण मान, साचा शिष्टगृहीत हैं॥ ११२॥

चौपाई।

कहें धर्मको हरिगुण गावें। कहते कहते नाहिं अघावें।
कहें विवेक विराग भक्तिकों। सव अधर्मसें ध्रुव विरक्तिकों॥
अगुण सगुण दोरूप वखाने। तिनके संमुख कर सुख माने।
परउपकारमांहिंहीं रहते। जीवतापकों तनिक न सहते॥
होइ जीवका जिम उद्धारा। तिमहीं कहें शुद्ध व्यवहारा।
साची कहें आगली जेती। दिखे सकलकों अनुमित केती॥

सोरठा।

वेदमांहिंभी गान, इनकों वेदस्वरूपका।
जे नहिं करते मान, वेदविमुख तमसें भरे॥ ११४॥

सोरठा।

उन्मादीके दोषसें, वचनहिं दोष न कोइ।
तिम वक्ताके दोषसें, इनकों दोष न होइ॥ ११५॥

वक्ता श्रोता धर्ममय, जब यह जुडे समाज ।
तब इनसें परसुख मिले, जो सबसुखका ताज ॥११९

हरिगीतछंदः ।

जय जय अनन्त कृपा स्वजन–पालन परम ममता भरे ।
जय कल्पविटप सुकल्पतरु, जो कामधेनु सफल करे ॥
जय नन्दनन्दन नन्दनन्दन, नन्दनन्दन नन्दके ।
जय पाप ताप विलाप दाप, कुजापखण्डन सर्वसे ॥
जय जगन्नाथ अनाथनाथ, सनाथ कर जनहित करें ।
जय जीव जीवअजीवजीवन, जीवबीज कुतम हरें ॥
जय भावभाव अभावभाव, विभावभावन भावके ।
जय वासवास विलासरास, हुलासश्वास स्वभावके ॥
जय वामवाम अनाम नाम, सुकामतमका मन हरे ।
आराम धाम अधाम श्याम, सुधाम अधम कुतम परे ॥
जय ज्ञानज्ञान सुदानखान, अभावभान अजानके ।
जय भानभान अभानभान, सुभान तारक बानके ॥
जय शेष सिद्ध सुरेश गौरि, गणेश भानु महेश सुर ।
खोजें न पावें पार जो भ्रम, दृश्यमायाचित्तपर ॥
जो चित्तमायावृत्तिमें, आवे न रूप तिहारहै ।
इनको प्रकाशे सहजहीं, सो रूप तव सबपार है ॥
जडमें कहां अस बल प्रकाशे, चेतनहिं जिम रविहिं तम ।
निशदिवस वेद पुराण गावें, हैं न दूजा तोहिसम ॥
है तर्कअनुभवसिद्ध जगमें, अचर चेतन वस्तु दो ।
सबरूप यद्यपि आपका है, कबहुं चित्सम जड न हो ॥
कल्पित अकल्पित सम न हों, ऐसें तिहारी श्रुति कहे ।
समझें भला किम बाल हम, दूजा न मनमें मन रहे ॥
हम तो तिहारे दर पडे हैं, दुखी सुखिये वा भला ।
जो जो बितै है सब लखोहो, जानतेहो जो बला ॥

सब ऋद्धिसिद्धि सुरेश षड्गुण, कृपा जांकी मन धरे ।
कर जोर इकटक सिर झुका, निशदिवस सेवतहैं खरे ॥
यम काल डर आदिक सकल, जासों डरें भयभीत हो ।
सब करें सिर धर अमिट आज्ञा, सुखद सकल सचीत हो॥
यदि हम लखें निजदिशा तौ जग, है न पापी हमसरिस ।
प्रभुकी दिशा लख जगत्में फिर, कवन है जनपुण्य अस ॥
यदि हम न होते पतित पावन, कल्पतरु अभिधा गती ।
होती कवन हममें न फिर किम, होत उपकारक मती ॥
अमृत सदा निजजन निछावर, हो तिहारे चरणपै ।
कबहूं कहो यहभी हमारे, हैं कछुक इस धरण पै॥११७॥
दुर्लभ अघट ब्राह्मण सुपद, दरसानहित तुमने धरा ।
तमनशन सनतकुमारवपु, जिहिं नाम जप अघ जन तरा ॥
भूहर असुरकों मार थापी, जीवधानी सुखभरी ।
धर रूप सुखद वराह अजकी, विषम मनपीडा हरी ॥
धर देवऋषिवपु सकल ताप, कुरोगकर्मविनाशहित ।
रच पञ्चरात्र अकर्मतापद, दियो जांको सब नमत ॥
शमदम विना नहिं तत्त्वदर्शन, सो न तप विन मिलतहै ।
तपरूप प्रकटन लग नरायण, नर भये जग भजतहै ॥
विन तत्त्वदर्शन सुख न हो, तत्वं विशोधन विन न सो ।
श्रीकपिल हो निजमातमिससों, कहा निजश्रुतिसिद्ध जो॥
धर दत्त वर अवधूततनु, प्रह्लादआदि स्वभक्तकों ।
दे ब्रह्मविद्या प्रकट कीनो, जो रहन अवधूतको ॥
स्वायम्भुवान्तर हमहिं पालेंगे, कहे को क्या रुची ।
धर यज्ञ सुरपतिरूप जगकों, सुख दियो कीरति मची ॥
पदपरमहंस विना न जीवन्मुक्ति ऋषभस्वरूप धर ।
दिखलादिया पद जगत्कों, जो दृश्यमायासंगपर ॥
धर पृथुस्वरूप कुदस्यु नाशे, ऋषिमनी पूरी करी ।

गो भूमि द्रोह सदन्न सबकों, दे सकल पीडा हरी ॥
पृथिवी बना नौका चढा, वैवस्वतहिं रक्षा करी ।
धर मत्स्यरूप विरूपनाशक, नाम जप जगती तरी ॥
धर रूप कच्छप धार मन्दर, पृष्ठमें शोभित भये ।
सुरवृद्धिहित सागरमथनमें, नाम जप सब दुख गये ॥
नहिं जीवकी है शक्ति रोग–उपाय जाननकी सही ।
धर रूप धन्वन्तरि अलौकिक, सुखी सब कीनी मही ॥
पीवें असुर बहुपाप बढहै, सुरन अमृत देनको ।
धर रूप मोहनि असुर मोहे, यद्पि तनु अतिक्षेमको ॥
प्रह्लादकों जब आततायी, असुर बहु ताडत भयो ।
दुख भक्तको नहिं सहसके, नरसिंहवपु धर सोहयो ॥
वामनरूप धर सुरपहित, बलियज्ञभूमीमें गए ।
कर कृपा बलिकों छलतहीं, छल आपहीं चाकर भए ॥
सब नृप उच्छृङ्खल ब्रह्मद्रोहि, निहार वार इकीसहीं ।
धर परशुरामस्वरूप पृथिवी, क्षत्ररहित करी सही ॥
अतिअल्पशक्ति कुबुद्धि पुरुष, विलोक अतिकरुणाभरे ।
कीनी निगमशाखा पुराणहुं, व्यास हो जप अघ तरे ॥
रावणअसुरनें सुरद्विजनकों, दुख दियो जब आपही ।
धर रामतनु मारा अनिक, असुरन सहित फूली मही ॥
बलदेवलाल प्रद्युम्न श्री–अनिरुद्धवपु वर धर करी ।
निजरूपसेंभी सन्तरक्षा, देव–भू–पीडा हरी ॥
सुरद्वेषि मोहन लग धरा, वपु बुद्ध तुमनेंहीं लखो ।
कल्की बनोगे तुमहिं आगे, विष्णुयशाको हो सखो ॥
गिणती कहां अवतारकी हो, विश्वहीं तव रूप है ।
जो भया होगा है सहीं सब, आपकाहिं स्वरूप है ॥
लाखों उधारे आपने रुचि, लख करी श्रुति गात है ।
सब सब किसीकी बन गई, हमरी भला क्या बात है ॥

अब देखते हैं हमहुं हमसें, क्या भला करणी करो ।
अमृत पडे दरबारमें अब, तो तनिकभी मन धरो ॥११८॥

छंदः ।

कथन भला क्या विश्वबोधसें, लौकिक है इक बात सती ।
कर प्रणाम आंचल पसार कर-जोर सकलसें यह विनती ॥
चहें न लोक लोकसुख विद्या, धर्मनमुक्तिवश्यताकों ।
बल न सिद्धि नहिं ऋद्धि संपदा, रूप न जितनी उच्चगती ॥
जनता चहें न सदा अमरता, ऐसीहीं है अतिमधुरता ।
जानतहो सर्वज्ञ सबहिं हो, तुमसें छिपी न रती रती ॥
धर्म न परउपकारसरिस है, तुमरा सहजस्वभाव यही ।
तुमसम दानी अवर कवन है, प्रबल सदा है चरणनती ॥
शरणागतकों तजें न प्राकृत, यह आभाणक लौकिकभी ।
नहीं तजोगे अमृतकोंभी, देख दीनता चरण स्तुती ॥ ११९॥

हरिगीतछंदः ।

सब सुख सदाहीं आ बसें, सब शकुन शुभलक्षण दिपें ।
हो कृपा श्रीबलदेवजीकी, जांहिंपर जिहिं सब जपें ॥
बलसें सहारीजातहै कब, दशा बिगड़ी जननकी ।
दशदिशामें है कृपाझर, राखें सदा जन मननकी ॥
धर धरा शेषस्वरूपसें सिर-पर पतनकों रोकते ।
चितरूपसें दे स्फुरणसत्ता, सकल जगकों पोषते ॥
बल शक्ति दो पर्याय हैं, है शक्ति द्विविध स्वरूपहीं ।
सामर्थ्य चित् बलदेवजीके, हैं यही दोरूपहीं ॥
खण्डन महालय अवधि है, श्रीशेषपदका अर्थ वर ।
योगी करें हैं रमण जिसमें, रामपद अज उभयपर ॥
जो खिंचले सबकों गुणनसें, प्रलयमेंभी ओर निज ।
हैं वही संकर्षण गए जो, सहज देवकीउदर तज ॥
जिहिं पाइ सत्ता नर्त्तकी इव, नाच माया करत है ।

जग मृषा रच पाले मृषाहीं, मृषाहीं संहरतहै ॥
यह मृषाहीं जग सकल जिसमें, सत्यसा हो भासता ।
निजवृत्तिमें आरूढ हो सब-जग अविद्या ग्रासता ॥
जांके जननकों शक्ति क्या है, कवन है जो त्रासता ।
ते सत्यलोकहुं तज गए, जिनके चरणरज-दासता ॥
इक ध्यान जांका सब, अविद्याजालको हरलेत हैं ।
जिहिं नाम अभिमत दे पदार्थहिं, काट बन्धन देत है ॥
जांका सुयश मनवचपरे, कछु भेद वेद न पावते ।
इक नेतिनेति स्वरूपसेंहीं, विमल यश नित गावते ॥
निजभृत्यकों विनविरह पीडा, कबहुं होन न देत हैं ।
मन शोध थोडे कालमें, सोभी सहज हरलेत हैं ॥
निजभृत्य सबहीं सहजहीं, सुखयुगल अजका लेरहे ।
जांको चहें सो करें इनको, कवन रोके को कहे ॥
जिहिं अज सुरेशादिक सदा, दे भेट निशदिन नमत हैं ।
सब ऋद्धिसिद्धि विलोकनी-लख सुखद-पद नित भजत हैं॥
अमृत भए अब धन्य हम, नितहीं प्रणामें करत हैं ।
नित चरणरजकों चूमते, नितहीं चरणकों भजत हैं ॥१२०॥
तब झुकनि लखनी बोलनी, छलनी अदा सब कर गई ।
कर तापकों निर्मूल अतिदृढ, दैवीसंपत् धर गई ॥
कर धन्य गुरुकुल जन्म बन्धुन, तनिकमें उद्धरगई ।
सुर सिद्ध ऋषि मुनि ब्रह्ममण्डल, शब्द जय विस्तर गई ॥
कर नित्य मृदु सुख रूप दर, दुख शोक रोगन हर गई ।
सुरपूज्य कर संबन्धि सब, सब विघ्नगण ध्रुव दूर गई ॥
दूषण भए भूषण सकल, आसुरीसंपत् जर गई ।
करुणानिधान स्वभावसें, विषवेलि अमृत फर गई ॥१२१॥

अनुष्टुप्छन्दः ।

कथं हि स्तौमि गोपाल, शक्यलक्ष्यपरात्परम् ।

रूपं तव गिरातीतं, मनोतीतमगोचरम् ॥ १
द्विविधोपाधिजातिभ्यो, विहीनं गुणकर्मभिः ।
स्वरूपे तिष्ठदेकं हि, वक्तृवक्तव्यपारगम् ॥ २
स्वप्रकाशसदानन्दं, भेदस्वरूपभेदकम् ।
घटते वस्तुसत्यत्वे, भेदो नैव विकल्पतः ॥ ३
अनवस्थादिदोषैश्च, भेदरूपं न लभ्यते ।
तव रूपमतो मिथ्या, जडेन किं प्रकाश्यते ॥ ४
विकल्पस्य तु मिथ्यात्वे, भवान्हि मानमीश्वरः ।
अतोऽनिर्वचनीयैव, ख्यातिवादेपि शोभते ॥ ५
अतो द्विविधसत्तापि, ददात्येव प्रसन्नताम् ।
शान्तिं दान्तिं वितृष्णत्वं, भेदनभेदहन्तृताम् ॥ ६
यदा मायां वशीकृत्य भक्तानुग्रहकातरम् ।
मनोहरं परानन्दं, जगदुद्धारकारणम् ॥ ७
अस्मदभिमुखं गम्यं, भक्तैर्भवत्परायणैः ।
धन्यैर्धन्यकरः स्वस्थैः, शान्तैः शुद्धैः सुमङ्गलैः ॥ ८
धृत्वा गच्छसि लोकेस्मिं–स्तस्मिन्गिरा स्वशक्तितः ।
प्रवर्त्तते हि सर्वस्य, सर्वस्यान्तर्गतोप्यहम् ॥ ९
दामोदरश्च गोपालः, पूतनामातृभावकः ।
स्वभक्तवञ्चकंसस्य, गतिदो कल्पवत्समः ॥ १०
कालियविषहर्त्ताच, गिरिधरोऽग्निभक्षकः ।
अर्जुनरथनेता च, भीष्मस्य प्रणपालकः ॥ ११
एवंविधानि नामानि, भक्ता भक्तहितं समम् ।
द्योतयन्ति परानन्दं, मनआकर्षणानि हि ॥ १२
स्वभक्तवत्सलो नाम, भक्तस्य भवतु प्रियम् ।
संसारपालको नाम, सर्वरक्षां करोतु मे ॥ १३
जनयतास्य विश्वस्य, भवान्पालयता स्वयम् ।
अतोऽकस्माच्च का हानिः, सकलान्तर्गतस्य मे ॥ १४

भवोनच पिता माता, गुरुः संबन्धिलस्तथा ।
पालको रक्षको दाता, सुखदः शरणं महत् ॥ १५
पाहि पाहि जगन्नाथ, सत्सर्वस्व परेश्वर ।
सर्वाधिष्ठान चाधार, दीनं मां शरणागतम् ॥ १६
भिक्षुं भवत्कृपायाश्च, भवद्विलोकनस्य च ।
विलोकय च मां भृत्यं, निर्भरकृपया स्वयम् ॥ १७
सर्वमेव भवानेकः, षड्गुणोऽपि गुणात्परः ।
नमः सर्वाय शुद्धाय, तीर्थतीर्थकराय च ॥ १८
विश्वेश्वराय बोधाय, बोधकाय परात्मने ।
नमः कृपास्वभावाय, प्रदात्रे स्वसुखस्य च ॥ १९
स्वस्यामृतस्य यच्चित्तं, भवाञ्जानाति सर्वग ।
प्रभोरेवार्प्यते प्राणे, प्राणो मनोगिरा मया ॥ २० ॥१२२॥

हरिगीतछंदः ।

गुण को कहे श्रीकृष्णजीके, ब्रह्म मनवच पार हैं ।
है यही अवतारी अवर सब, इनहिके अवतार हैं ॥
इनके भजनसेंही पतितभी, ब्रह्मपदवी पारहे ।
मायाजगत् तज सहजहीं, फूले फले दरसा रहैं ॥
है यही जोध सदा समनमें, सकल पाप निवारते ।
कर तांहिं अपना रूप तांकी, कुलसकलकों तारते ॥
हैं अतिनिरतिशय सकल गुण, सब-सिद्धि जग मायापती ।
नहिं अल्पभी अभिमान भेद, न राखते जनसों रती ॥
नहिं लखत हैं अपराध अभिमुख, होत कों गल लावते ।
इनकेहिं अभिमुख होतहीं, अपराध रहन न पावते ॥
यह यही हैं जिसके जननके, नामसें अतिदम्भभी ।
इस लोकमें पुजते वहांभी, होत सुखआरम्भभी ॥
कछुदिवसमें तिसमिस सबलसें, काट कारण दम्भके ।
होते वही साचे सुयोग्यहुँ, सकल जग आलम्भके ॥
जग धन्य इनके दम्भिभी हैं, सकल जग पावन करें ।

सबकों सुना हरिनामकों, जनवेशसें तपतें हरें ॥
अस नाम है इनका किसीविध, कहे कोई मरणमें।
ताकों प्रणामें यम करें, संशय नहीं कछु तरणमें ॥
प्राण इनहिने राखाहिं निज-जनका तजा अपना अहो।
निजभक्तसों कछुभी न राखें, कवन इनसम अवर हो ॥
श्रीधर्मनृपके यज्ञमें निज-भक्तसेवा इनहिनें।
कीनी सुता श्रीद्रुपद्जीके, चीर इनविन किन तने ॥
प्रतिमा सकल तीर्थ सकल, सबसें अधिक निजभक्तकों।
इनविन कहे को अवर इनसम, अवर सबमें शक्त को ॥
हैं यही अपने भक्तपैं, दिनदिन निछावर होत है।
इक देत हैं निजमोद्कोंहीं, त्रिविध दुख जग खोत हैं ॥
को अवर समझे प्रीतिकों इक, इनहिकों विज्ञान है।
इक पालते हैं यही यांको, अवर को अभिमान है ॥
है प्रीतिरूप दुरूह यांको, कवन समझे ईशविन।
है नर कवन को आप हैं नहिं, लाजते हैं देत तन ॥
हैं चतुर अंतिपुण्यी वही जे, शरण इनहिं बनावते।
कर त्रिविध दुखकों दूर सहजे, निजानन्दहिं पावते ॥
जलअञ्जुलीसें इनविना को, तृप्त होताहै सही।
इनविन प्रणामहुँमात्रसें को, तजतहै अपनी कही ॥
है इनविना को निजजननकों, देतहै जो चहत हैं।
इनविन सकलरुचिसें पुराणहुँ, वेद किसकों कहत हैं ॥
इनविन अवर को ब्रह्मविद्या, देतहै निजदासकों।
इनविन अवर को हरतहै निज-जननके सब त्रासकों ॥
इनके विना किसके चरणकों, सेवतेहैं सुर सकल।
इनके विना किसके समर्पणसें, कर्म होते अचल ॥
इनके विना सब सिद्धि किसके, चरणरजकों सेवती।
सब संपदाभी इनविना है, नाम किसका लेवती ॥

लावण्य मृदुतादिक सकल गुण, इनविना किसकों भजें ।
किहिं लाग इनविन ऋपि युगल, अजलोकलौं सबकों तजें ॥
सुरपति काल अजइन विना, देवली किसकों सेवते ।
यमआदि डरते इनविना शुभ–नाम किसका लेवते ॥
षड्गुण रहें हैं इनविना किसमें, निरतिशयता भरे ।
इनविन कवनका नाम जप, अघरूपभी भवकों तरे ॥
है इनविना को ब्रह्मपदका अर्थ, जिसमें जग सकल ।
कल्पित सही हो भानसत्तासें, मृपा माया सफल ॥
इनके भये विन कवन जगमें, कवनकों है पूजता ।
इनके भये विन भला किसकों, युगलअज है सूझता ॥
संबन्ध इनके विन कवन, मन शुद्ध तीर्थ करत है ।
इम समझकेभी नहिं भजे, इनकों दुखनमें जरत है ॥
अमृत निछावर है सदा, श्रीनन्दनन्दनचरण पर ।
जांको सदा हैं सेवते अज, भानु गणपति उमा हर ॥१२३॥

छंद ।

तुमविन कवन कबहुं श्रुति जगमें, मृदुल परमसुख स्रोते हैं ।
वारवार नमते हैं तोसों, प्रेम धन्य सब होते हैं ॥
जिनपर करें न आप कृपाकों, तिनका जगमें आना क्या ।
आयूभर निशदिवस यतनसें, तापवीजहीं वोते हैं ॥
वैदिककर्म करत हैं यद्यपि, सोभी दुखही फरते हैं ।
मरणजन्मके दोलयन्त्रमें, विषय–विपनकों रोते हैं ॥
हैं अतिअन्ध कठिन पाहनसें, क्रूर कुतर्क कुचालीभी ।
रागद्वेपसें भरे सदाहीं, मोह–नींद है सोते हैं ॥
झुकें न कबहुं प्रेमीजनकों, कर्मकुमदसें मदी भए ।
कहें न है आचार मलिन है, यह अन्धोंके तोते हैं ॥
कर निन्दा आकृष्ट अलभ की, ब्रह्मरूपकीभी बहुधा ।
युगललोककों आपेंही अप–नेहीं करसें खोते हैं ॥

हम हैं धनी यज्ञके कर्त्ता, राजा हैं अन्वय बल है ।
जिसकों चहें निकारें मारें, हमरे पग सब धोते हैं ॥
हम हैं पण्डित बडे कवन जो, हमरे संमुख बोलसके ।
छयो पाप अभिमान यही ध्रुव, बड़े नरकके पोतेहैं ॥
मानुषतनुफल प्रेम एक है, सेवाकों विजयादि बहुत ।
केवल सेवासेंभी तनुफल, अमृत कों नहिं छोतेहैं ॥१२४॥

हरिगीतछंदः ।

जिनपर करेहैं है अघट अति-प्रेम करुणा सुखभरी ।
हैं तेहि केवल पूज्य जगमें, फल परानन्दन झरी ॥
आभास प्रेम सुबोधमेंभी, होत जिम व्यवहार है ।
जिम शमदमादिक नहिं तजें, हरिप्रेम त्यों न विसार है ॥
साधन शमादिक ज्ञानके, बिन प्रेमपूरे हों नहीं ।
जो ज्ञानसाधन रहा पहले, नहिं चला जाता कहीं ॥
साधन सकल जे ज्ञानके, सब तज्ज्ञकेहिं स्वरूप हैं ।
इम कहें गीतानिगममेंभी, जे सकल सुरभूप हैं ॥
हरिब्रह्ममें नहिं भेद कछु इम, निगम बुध सब गावते ।
बिन प्रेम कांके निकटभी हैं, कवन साधन आवते ॥
आकृष्टके शुभदर्शसेंहीं, पाप सब मिटजात हैं ।
संभाषणादिकसें सहजहीं, मोहजाल बिलात हैं ॥
जप नाम इनका सहजहीं, अभिमत फलनकों पावते ।
कर ध्यानकों कछु काल प्रेमी, आपभी बनजावते ॥
सेवा उचित है इनहिंकी बड़-भाग्यसेंहीं मिलत है ।
सब काम देत सकामकों, निष्कामका तम दलत है ॥
है सन्तपदवी इनहिंकी, सब जगत् पावन करत हैं ।
इनकेहिं मिससें दम्भिभी सब, उदर अपना भरत हैं ॥
हमकों सदा इनकी चरणरज, पालतीहै प्रेमसें ।
निशदिन प्रणामें करें अमृत, प्रेमसेंभी नेमसें ॥ १२५ ॥

अनुरागपर हैं प्रेमपर पद-अर्थ जीना चित्तसम ।
जबलग रहे है चित्त तौलौं, रहे है यहभी अतम ॥
मनसत्यसेमें प्रेमभी हो, सत्यसाहीं रहतहै ।
आभासमें आभास हो, मनभंगकों नहिं सहतहै ॥
नहिं विषयिमें हो प्रेम, प्रेमाभासहीं होता सही ।
यांको न जड आश्रय विषय, दृष्टान्तलग कवियन कही ॥
नहिं प्रेम हो उद्भूत मनविन, कहां जडके चित्त वड ।
आश्रय विषय चेतन सदा है, तनिकभी नहिं शक्त जड ॥
यह होतहै इकईशमेंहीं, अवरमें मति ईशसें ।
आभासहीं है साच वह जो, शुद्ध होत अनीशमें ॥
परिणाम आदिक दोषसें, नहिं वृत्ति रहतीहै अचल ।
श्रीकृष्णमें नहिं दोष एको, वृत्ति किम जावे वदल ॥
मति ईशसेंभी जीवमें हो, प्रेम शंका पतनकी ।
रहती नहीं जिम इतरमें, करके वहुतसे यतनभी ॥
है प्रेमका अतिअवचरूप, न ब्रह्मआदिक कहसकें ।
जाने वही जांके लगे, अमृत कथन कव सहसकें ॥ १२६ ॥

छंदः ।

है आकृष्टहि वेद कहैं जो, तरते और तराते हैं ।
ते फल हैं अतिदुर्लभ दुर्घट, जिनकों प्रेम वनाते हैं ॥
छुटताहै सव वन्ध सहजहीं, ब्रह्मलोकलौं चित्त नहीं ।
क्या जाने जग कहां रहेहैं, प्रिय विन चित्त न आते हैं ॥
चहैं सदा अस सहज जहां, निज-प्रियविन दूजा रहे नहीं ।
अवर किसीकों चहैं भला क्या, ढिगकेभी न सुहातेहैं ॥
खानपान जव जैसा होवे, मिले भला नहिं मिले भला ।
देह रहो जावो सव उत्तम, प्रियहीसें सव नाते हैं ॥
रहे दुशाला तौभी वैसे, हो कौपीनन तैसे हैं ।
देहगेहके वने न कवहूं, प्रियहीके वनजाते हैं ॥

प्रियकी देह शरीर आपना, सुख अपना सुख प्यारेका ।
प्यारेकाहीं देश आपना, ऐसी दृढता पाते हैं ॥
प्यारेकाहिं स्वभाव आपना, रहनी सगरी उसहींकी ।
गिरिधरहीं हैं उभयलोकके, संबन्धी जो गाते हैं ॥
अच्छा लगे न ब्रह्मलोकभी, अवर पदार्थ कथा कवन ।
आज्ञापालन नाम ध्यानविन, अवर न कछुभी भाते हैं ॥
चहें न कहूं कबहुं अल्पहुंभी, गिरिधरकृपा सुबुद्धि भई ।
सकल विषय दुखरूप मृषा कब, इनका चित्त लुभाते हैं ॥
यद्यपि परअभिमत श्रीगिरिधर-जीका दर्शन परसुख है ।
मांगन आज्ञा एक नाम है, आज्ञासें घबराते हैं ॥
जो इनके अभिमत तांकी कब, गिरिधरजीसें देरी हो ।
चीरप्रसंग द्रौपदीजीका, व्यास कृपालु सुनाते हैं ॥
शमदमादि सब दैवीसंपत्, सुखसें वास बनाती है ।
मोह लिये निज आसुरिसंपत्, कतहुं नहीं दरसाते हैं ॥
आत्मविद्या विना वुलाए, आती है अतिमोदभरी ।
पडी रहे है एकदिशामें, प्रेमसिन्धु सरसाते हैं ॥
योगक्षेम गिरिधरहिं करें सब, रहें सदा आगे पाछे ।
इनके क्या कछु खबर देहकी, सदा प्रेममदमाते हैं ॥
लेतेहैं सुख उभयब्रह्मका, नरतनु सफल इनहिका है ।
अवर बने मानुषकी मूरति, वेद कुपशुहिं बताते हैं ॥
अमृत जीवन्मुक्तिमोदकों, प्रेम एकहीं देते हैं ।
अन्तकालमें गिरिधरजीमें, सहजे यही मिलाते हैं ॥१२७॥

हरिगीतछंदः ।

इक प्रीतिहीं कर्त्तव्य है पर, कहां करनी चाहिये ।
करिये विचार विना भला फिर, किम न तनुकों दाहिये ॥
हैं छे विकार सबहिं सहज, जनि सत्त्व पुनि परिणामिता ।
वर्द्धन अपक्षय नाश इनकी, सत्यतलक प्रधानता ॥

अविवेक मत्सर ईर्ष्या छल, राग-द्वेषहुं अज्ञता ।
मद काम क्रोध विमोह तृष्णा, लोभ मल अल्पज्ञता ॥
विक्षेप हिंसा शोक ममता, है अहन्ताभी भरी ।
सुरलोकलौं त्रयताप राजें, निशदिवस मायाझरी ॥
नरलोकमें मलमूत्र पुनि दुर्गन्धभी निशदिन झडे ।
सत्यतलक है पराधीनता, कालके खाए पडे ॥
अब देखले कछु समझले, इनसें भला कब सुख मिले ।
इनके निकट है सुख कहां यह, आप दुखमें तलमले ॥
इनसें करें जे प्रेम ते रागादि-आशय पाप सें ।
भोगें नरककों दुखित हो, पावें अधमगति पापसें ॥
इस पान्थसें कब प्रीति निबहे, पुनि सदा परिणामिता ।
यह सकल मतलबकोंहिं चाहें, है दुखनकी ग्रामता ॥
इनसें करें जे प्रीति ते सब, तापकोंहीं खात हैं ।
हरिसों विमुख हो लोकपरमें, दुखहींमें मुर्च्छात हैं ॥
सब दोषसें इक कृष्णहीं हैं, शून्य सब सद्गुण भरे ।
गुण कथत वेद पुराण मुनि अज, शेष अबलौं नहिं तरे ॥
तिनकोंहिं प्रेमी निगम मुनि अज, कहत अमृतभी कहें ।
यांकी चरणरज चुंबते जे, ते सदा सुखिये रहें ॥ १२८ ॥

दोहा ।

प्रेम परम सुखरूपका, भाखा सुखद स्वभाव ।
होइ प्रेम अभ्याससें, ब्रह्मस्वरूप प्रभाव ॥ १२९ ॥

सोरठा ।

अहह ब्रह्म निजरूप, श्रवणादिकबिनही लसें ।
धन्य कृष्ण सुरभूप, धन्य प्रेम अभिमुख करें ॥ १३० ॥
जिहिं दुर्वासाशापसें, बटले तृणकों खाइ ।
धर्मादिक राखे सहज, मेरे सदा सहाइ ॥ १३१ ॥

इति श्रीपूज्यपादपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिकैलासपर्वतशिष्य श्रीस्वाम्यमृतानन्द-
निर्मिते श्रीकृष्णामृताभिधेग्रन्थे [illegible] तकलशो द्वितीयः

श्रीकृष्णामृतम् ।

अथ प्रेमफलब्रह्मविद्यामृतकलशस्तृतीयः ॥

हरिगीतछंदः ।

अब देख निपुणविचारसें मन, कृष्णजी क्या हैं भला ।
जांको भजेंहैं देव बुध अज, वेद जिसमेंहीं मिला ॥
इक सच्चिदानन्दहिं स्वमाया-सें शरीरी हो लसें ।
नहिं मृषा जग स्वविवर्त्तमें, कतहूं कदाचित्‌भी फसें ॥
यद्यपि सकल तनु हैं विवर्त्तोहिं, भेद माया बीजका ।
जिम भेद है घटमठगगनका, यदपि भेद न चीजका ॥
सो है हमारेमें सही सबमें, विराजतहै वही ।
अब ठीक अनुभवनें गही, इमहीं निगमगीता कही ॥
हैं वस्तु चेतन जड युगल, तिनमांहिं श्रौतविवेकसें ।
सत्‌सुख प्रभा इक चित्‌हिं हो, ग्रह अन्यथा अविवेकसें ॥
निरवयवता है नाश नहिं, इम निगमगीता कहत हैं ।
हो वृत्ति कारण सात्त्विकी, चित्‌ विन कहां सुख रहत हैं ॥
तिसवृत्तिमें आभासहीं सुख, विषय अवर समाधिका ।
नहि सुख रहे जब गमन हो, तिस वृत्तिरूप उपाधिका ॥
जिसके भला आभाससें सब, सत्यलौं सुखिये भए ।
सुख बिम्ब है यह कथन क्या, विज्ञानसें सब दुख गए ॥
भूमाहिं सुख है वेदमें सुर-ऋषिहिं सनकादिक कही ।
अब परखले मन समझले, श्रुतिबात है साची सही ॥
जड किम प्रकाशे अवरकों, चेतनहिं सकल प्रकाशता ।
इम देखलीजे वेदमेंभी, इसीकी आकाशता ॥
उत्पत्ति नाश उपाधिकेंहीं, होतहैं यांके नहीं ।

इसमें कहेहैं अक्षपण्डितभी न सेवे बुध कहीं ॥
गौरव विना क्या शेष जे ध्रुव, ज्ञान नाना कहत हैं ।
हो वाह्य श्रुतिसें वृत्तिकेहीं, धर्म चित्में गहत हैं ॥
है जड सदा विपरीत चित्सें, अगम गीता गावते ।
अनुभव यही विद्वान्का है, युक्तिसेंहुं सचावते ॥
सावयव सब है जन्य नाशी, गगनमें सावयवता ।
इकदेशमें आकाशके, जिसमें वसे परिछिन्नता ॥
आधारसें यदि भिन्न हो, अध्यस्त तामें वसेभी ।
फिर सही नैयायिक प्रवल हो, कमरकोंभी कसेंभी ॥
परिछिन्न है परतन्त्र परिणामी, विनाशी छल सही ।
परिछिन्नतासें दुखहिं सुखमति, मृषा सनकादिक कही ॥
जन्मान्ध है मिथ्या सकल जड, शेष क्या कथना रहा ।
जो मृगतृषाकों जल समझ, आया निकट जियरा दहा ॥
प्रिय अस्ति भाति स्वरूपसें, हमहीं सकलमें राजते ।
परिछेदत्रयसें शून्य परसुख, एकलेहिं विराजते ॥
सब दृश्यकों हमरीहिं माया, सहज रच संहारती ।
हमरी स्फुरणतासेंहिं मिथ्या, जग मृषा व्यवहारती ॥
सब दृश्यका आधार हमहीं, हैं अधिष्ठानहुं सही ।
सब वेदमेंभी सकल पदमें, हमरिहीं महिमा कही ॥
सब जग हमारेकोंहि पूजे, सबहिं हमसें जीरहा ।
जो जो न आया ओर हमरी, त्रिगुणदुखमेंहीं बहा ॥
हरि अज उमा हर भानु गणपति, सुरप नर पशु आदि जग ।
हमहीं लसें गुणभेदसें को, आसकेहै कठिन मग ॥
ममता अहंता मृषा माया, सकल कार्य कर रहे ।
हम हैं युगलसाक्षी अचल, आधार श्रुतिभी इम कहे ॥
अमृत अचल सुखसिन्धु हैं, इकलेश हमरेसें सही ।
अज इन्द्र आनन्दी भए पर, आंख लखनेकों चही ॥ १ ॥

छंदः ।

कहो विचार भला यह कैसे, अघटघटन दुख विश्व बनी है ।
नाहिं बनी कछु समझ देखले, रज्जुसर्पसम मृषा तनी है ॥
स्वतःप्रमाण वेदने मायिक, खण्डन करा भेददुखहींका ।
एक द्वितीय तहां नहिं कोई, ऐसे श्रुतिसें समझ सुनी है ॥
नहिं उपजे नहिं मरे कदाचित्, ईश काल नैयायिकमत है ।
ईश रचे तो ईश सदा है, क्षोभककाल सदा सुधनी है ॥
कर्मवादमें कर्म पडेहैं, प्रलयमांहिं तनु मरें नहीं ।
क्षोभककर्म कवन तहिं कहिये,को समर्थ जिहिं युक्ति भनी है
यद्यपि हैं सर्वज्ञ शक्ति सब, इच्छा विषयभेदकों चहती ।
प्रलयमांहिं हरिइच्छा जौ तो, भेदककाल कवन सुजनी है ॥
सबहीं वादी गिरे जाइके, पांच सात नव दश कक्षामें ।
मायामात्र न अन्यत् अमृत,इम सब ऋषिमुनि हृदय ठनी है२

हरिगीतछंदः ।

ध्रुव नहिं असत्की हो प्रतीति, न सत् नसेहै ज्ञानसें ।
ध्रुव अन्य अन्य न हो व्यवहित, न मिले तैजस मानसें ॥
अनुभूतकी आकृति तजे नहिं, स्मरण सब जग जानता ।
जौलों न आविद्यक लखेहैं, सर्पकों अज्ञानता ॥
मनदुष्टका संसर्गहीं, क्षोभन अविद्यामें जने ।
है रज्जु व्यावर्त्तकसरिस इम, सर्प तांके भी बने ॥
नहिं खोजनेसेंभी मिले जहिं, दोष कोई जानले ।
अमृत तहां सब दोषमय, माया प्रबल है मानले ॥ ३ ॥

छंदः ।

जो जो कहो इसीकारणसें, सो मुख देखतहीं मर है ।
अघटघटन है माया यामें, को विकल्पका अवसर है ॥
सिद्ध अशक्त हेतुसें जो हो, सिद्ध न विषय विकल्पनका ।
रूप ग्रहे विन अघटघटनके, उक्तदोषकों को तर है ॥

मायापदका अर्थ यही है, अगम निगम इतिहासनमें ।
इन्द्रजालमें सब जगमेंभी, अर्थ यही बहु विस्तर है ॥
इच्छा अर्थ करेंहै जेते, पण्डितमानी मतिमानी ।
इच्छा नित्यअनित्य विकल्पे, उक्तदोष नहिं निस्तर है ॥
यदि अनित्य है कारण कहिये, नित्यग्रहे हो सृष्टि सदा ।
मायाभी यदि सिद्ध अतर्कहिं, अर्थ यही यहभी वर है ॥
विन मायाके माने कबहूं, हो निर्वाह न रचनाका ।
अमृत मायाकार्य मिथ्या, सब जगका भर यांपर है ॥४॥
वेदलोकमें सिद्ध अन्यहीं, शक्त शक्तिकी जाती है ।
माया है सत्शक्ति शक्तसें, अन्यरूपहीं पातीहै ॥
वह्निशक्ति जिम वह्निभिन्न है, प्रतिबन्धकके आनेसें ।
होत न कबहूं दाहशक्तिहीं, तिरोभाव होजातीहै ॥
उत्तेजकसें प्रकटे सगरे, प्रतिबन्धकके होतेभी ।
इसकारणसें शक्ति शक्तसें, अन्यरूप दरसातीहै ॥
उत्तेजकके विरह मिलनसें, प्रतिबन्धकका विरह करे ।
दाह सही अन्याय न्याय यह, किसके मनमें आती है ॥
हो अभावभी कारण इनके, मतमें अहो बुद्धि मानी ।
इनकेहीं पतिविरहहेतुसें, योषित् सुत उपजाती है ॥
कारणसें कार्यको रोके, प्रतिबन्धक सब जग जाने ।
कारणका अभाव प्रतिबन्धक, कहतहिं सुमति लजाती है ॥
विषयरूपसें हेतु ज्ञानका, जनक न इच्छाकृतिकाभी ।
है अभावका हेतु अभावहुं, यह इक मनमें भाती है ॥
इच्छा कारण ज्ञान विशेषण, नहिं अभाव आकारहिं है ।
कारण लक्षण विन हो कारण, अस मति जग उलटाती है ॥
विन निजज्ञान न भाव तनिककी, श्रुति जगमेंभी कारणता ।
हो अभावकी सिद्धज्ञानकी, विषयविधाहिं सुहातीहै ॥
सत्सें भिन्न असत् है सबहीं, मायाका अब रूप लखो ।

अमृत सत्तासें सत् होके, जगकों रच दिखलातीहै ॥ ५ ॥

चौपाई ।

कालभेदसें तीन अवस्था । सब जगकी हैं सती व्यवस्था ॥
सामग्रीसें विद्यमानता । होत न जने तेलकों सिकता ॥
सबमें सबकी सब सामग्री । यदि इम तौ हो सबसें सगरी॥
सबहीं अल्प शरीर समावे । सामग्री यह मन नहिं आवे॥
सर्पसामग्रीसें है दूजी । रज्जुसर्पसामग्री बूझी ॥
योग्य न हो सामग्रीमांहीं । विद्यमानता रहती नाहीं ॥
एक अनेकविषयताके । भेदक कहिये निश्चित है जो ॥
विद्यमानता सम दोमांही । घटपटकाहुं जनक इक नाहीं ॥
सत्व्यवहार समान युगलका । अन्ध भक्त यह जगत अचलका ॥
दोषअदोषघटित सामग्री । सो केवल प्रकटनमें अग्री ॥
जांके दोष तांहिंकों दीखे । रज्जुसर्प नहिं इतर परीखे ॥
इमभी विषमसत्त्वहीं आया । रज्जुसर्प जगमांहिं समाया॥
हमरे तो इक माया कारण । सकल दोषका है उद्धारण ॥
जो हो दूषण मायिकमांहीं । सो सब भूषण दूषण नाहीं ॥
उपादानचित्का विवर्त्त हैं । सकलजगत् यह शुद्ध चरितहै॥
परिणामीसें भिन्न वस्तु चित् । रज्जुसर्पका हो विवर्त्त इत॥
रज्जुरूप है दृश्य सर्प जिम । दृश्य जगत् सब अमृत है तिम ६

हरिगीतछंदः ।

सावयव सब है जन्य विनसे, जन्य सब जग जानते ।
फिर प्रलय किम नहिं मानियें, सर्वज्ञ वेद बखानते ॥
दिखता सही जडवस्तुमेंहीं, ह्राससें निजह्रासही ।
अमृत न माने वेदमग जो, सहे यमके त्रासहीं ॥ ७ ॥
ब्रह्म सत्य नहिं नाश अपनसें, परसेंभी नहिं होत कभीं ।
होत जन्यका नाश कालसें, भी ध्रुव जानत वुद्ध सभी ॥

चेतनजन्म होत यदि जडसें, सिकताभी ध्रुव तेल जने ।
जडमें है यदि प्रागभाव सो, खण्डित है किम रूप तने ॥
घटनिरोधसें जगा कहां है, कार्य था सो होहि गया ।
कबहुँ न हो कुलाल फिर अभिमुख, जगत्सिद्ध नहिं वचन रया ॥
कारणबिन कार्य नहिं होवे, अपनेसें नहिं अपनजनी ।
आप अपनसें प्रथम रहे कब, सब जानत क्या बात घनी ॥
अनाभास साभास अचर चर, नाम हेतु श्रुति युक्ति कहे ।
मन मायाबिन अवर शक्त नहिं, करो कथं आभास ग्रहे ॥
आभास युगल हैं जीवईश यह, चेतनहीं कहलाते हैं ।
इनसें इतर अचेतन कहिये, श्रुति बुध इमहिं बताते हैं ॥
चेतन तुल्य अचरचरमें हैं, नामहेतु आभास सदा ।
होगा इसका नाश इसीसें, जडमें दर्शनशक्ति कदा ॥
अपना नाश आपहीं देखे, निजका नाश न आप लखे ।
नानाचेतन कहे मोहवश, गौरवदोष न अग्र दिखे ॥
अङ्गरहित आधार न कोई, सबका आत्मा आप बने ।
अमृत मायासेंहीं नाना-रूप आपने आप तने ॥ ८ ॥
सर्वज्ञ प्रेरक विभु सुनाहै, रूप ईश्वरका सही ।
अब खोजना विश्वाससें, तज पक्षकों जो श्रुति कही ॥
है यही चित् सर्वज्ञ माया-चित्तवृत्ति-उपाधिसें ।
सबकों प्रकाशें स्वयं भासें, निर्विकल्प-समाधिमें ॥
हममें प्रकाशें अल्पकों, मनकी अल्पतासें सही ।
सबकों प्रकाशें ईशमें, सबमेंहि माया मिलरही ॥
हो ज्ञानसेंहीं प्रेरणा, इन्द्रिय तथाहि शरीरकी ।
बिन ज्ञान दिखतीहै न लखले, बात श्रुतिगम्भीरकी ॥
उत्पत्ति नाश न होत इनके, वृत्तिकेहीं होत हैं ।
यामें कहें सत्संग त्यागे, जन्म व्यर्थहिं खोत हैं ॥

यदि हो न चित् जडमें फुरण, सत्ता कहांसें लेतहै ।
अध्यस्तमें नहिं युगल इम, उपदेश श्रुति नित देतहै ॥
हों भूतअन्वयसेंहिं जीव सब, ब्रह्मके आभास विन ।
चित्ता कहांसें होत इनमें, भूतमें चित् समझ मन ॥
चित् अणुहिं आवत लोकपरसें, कीटआदिकमें सही ।
तौ कीटसें हो भूमि चेतन, हस्तिमें जिम तुम कही ॥
यांका निषेध त्वचा करेहै, त्वचामें क्या छेद नहिं ।
त्वक् अस्थिसें क्या कठिन है, चित्कहिं तोकों भेद नहिं ॥
आभासके माने विना चेतन, नियम किम हो सके ।
परिणाम मनका देहसम, अब दोषकों कह कोसके ॥
चित् जहां होत न तहां हम, व्यतिरेककों दिखलावते ।
अब समझले हैं यही परमेश्वर, निगम नित गावते ॥
आभासकोंहीं जीव ईश्वर, कहतहैं फिर बिम्ब जो ।
किम नहिं परेश्वर कहें अमृत, परे जगसें जगत् सो ॥ ९ ॥

छंदः ।

क्या भीताहीं समझत होगे, सकल जगत् मुरदार ।
दृश्य सकल है प्रजा तिहारी, तुम सबके सरदार ॥
अवर ध्येय है कवन कहो तो, कवन अवर हैं ईश ।
तेरा रूप सही सुरपति हरि-चतुरानन त्रिपुरार ॥
देखलियाहै समझलियाहै, अब क्या बाकी बात ।
आ घरमांहिं बहिर मत भटके, तो बिन सकल असार ॥
अबलौं सुख कतहूंभी देखा, भ्रमसें होत गुमान ।
मरुमरीचिका जल लख मिरगन, पायो ताप अपार ॥
साची बात न गहे मूढ है, ध्रुव पाछे पछतात ।
अमृत अब तो कहा मानले, तुमही तो ओंकार ॥ १० ॥

हरिगीतछंदः ।

सुनलो सुनावें इक कथा यह, भला कैसी बात है ।

है श्रवणकों भी रम्य पाछे, सुखहिं सुख रहजातहै ॥
मायाशवल हैं ज्ञान ईश्वर, विश्वके हाकम सही ।
जिसको चहें जिमतिमहिं सो हो, मिटत नहिं गिरिधर चही ॥
निज प्रथम आलोचन जगत्का, महत्तत्त्व कहैं जिसे ।
सो भयो गिरिधरसेंहिं जासों, अहं सब गुणमय लसे ॥
अब बहुत होवें हम यही, इसका अलौकिक रूप है ।
कारण अपञ्चीकृतभूतका, ज्ञानकर्म स्वरूप है ॥
तासोंहिं तन्मात्रा भई, आकाश वायु तेज जल ।
भू भूत सूक्ष्म हैं यही, शब्दादिनामहुं हैं सफल ॥
पुनि श्रोत्र त्वक् नेत्रहुं रसन, पुनि घ्राण इकइकके भई ।
गुणसत्त्वसें इनकेहि क्रमसें, ज्ञानइन्द्रिय हो छई ॥
इन पांचके गुणसत्त्वमिलनेसें, बने अन्तःकरण ।
मति अहंकृति मन चित्त वृत्ती, भेदसें नामाचरण ॥
पुनि वचन पाणी पाद पायू-पस्थकर्मेन्द्रिय भई ।
इनके रजोगुणसेंहिं क्रमसें, देहमांहिं समागई ॥
इनके रजोगुणमिलेसें हो, मुख्यप्राण क्रियालिये ।
प्राणादिपांचों नाम इकके, क्रियाभेद हुंने किये ॥
पुनि भूत पञ्चीकृत भए, इनकेहि निजतमरूपसें ।
तिनसें भयो भौतिक जगत् सब, स्वप्नतुल्य स्वरूपसें ।
अब देखने सुनने लगे हमभी, विचित्रप्रपञ्चकों ।
कहुं सिद्ध सुरपति सुर विराजें, कहुं न देखें मञ्चकों ॥
कहुं वेद पढते जहिं बने, कहुं कर्म करते फललिये ।
कहुं कर उपासन जांहिं, अजके लोककों निर्मलहिये ॥
विधिसें कहूं देशिकचरण गह, श्रवणआदिक करत हैं ।
कहुँ कृष्णपदरजप्रेमसुखसें, ज्ञानकोभी तजत हैं ॥
यह प्रेमकाहिं स्वभाव है सो, जानता जांको लगे ।
दुर्लभ अलौकिक सुखहिं है, यह होत नहिं दुखके सगे ॥

व्यवहारमेंभी करत रक्षा, कृष्ण मनमें जाइके ।
पाण्डव बचाए शापसें इक, शाकपत्रहिं खाइके ॥
श्रीद्रौपदीकी लाज राखी, दुराशासन थक गए ।
नहि चीरका कछु अन्त पाया, भए लज्जित हट गए ॥
कहुँ श्रीमहेश्वर गणप दुर्गा, भानुमें मन लात हैं ।
कर त्रिविध दुखकों दूर सहजे, बने ब्रह्म सुहात हैं ॥
कहुँ सन्त उपकारहिं करें, सबकों लखें निजरूपही ।
नहिं राग द्वेष न छल कृपासें, भरे ब्रह्मस्वरूपही ॥
लख वेद भूसुरधर्मसें निज-धर्मको पालें मुदा ।
उपदेशमृदुतप तेजसें, जगका धर्म राखें सदा ॥
कहुँ दण्डपाणी धर्मरत, राजा प्रजाकों पालते ।
राखें प्रजाकों धर्ममेंहीं, धर्मसें नहिं चालते ॥
कहुं भेद थापें सत्यमतिसें, तापकोहीं खातहैं ।
मद राग द्वेषहुं रुहभरे, जगतृषासें न अघात हैं ॥
हमपर भई गिरिधरकृपा, जब नींदसें जगहीं भए ।
इकआप अमृत रहगए, वह स्वप्नके झगडे गए ॥ ११ ॥

सोरठा।

स्वप्नमांहिंभी भेद, मति जनतीहै तापको ।
पाप उपजहै छेद, एकमांहिंही भेद है ॥ १२ ॥
जैसे मल यह भेद, परम्परासें आत है ।
तासोंहीं भ्रमछेद, प्रेम शिष्यकों दीजिये ॥ १३ ॥

दोहा ।

भेदहिं सत्य न भाखिये, भेदछेद दुखरूप ।
शिष्य बिगडके होइगा, जिम जीवन विन कूप ॥ १४ ॥
अनवस्थादिकदोषसें, भेदसिद्ध नहिं होइ ।
भेददृष्टि है तापहीं, तांकों दीजे खोइ ॥ १५ ॥
जो न सहारे युक्तिकों, दिखनेमेंभी आइ ।

मिथ्या तांकोंही कहें, श्रुति सज्जनसमुदाय ॥ १६ ॥

छंदः ।

क्या तनुकों मलमल धोताहै, क्या नितही पगकों घसताहै ।
दुखहीं है सब दृश्य मोद-भ्रमसें क्युं इसमें घसताहै ॥
मायालौं सब दृश्य प्रकाशे, सुख असंग सच्चित्साक्षी ।
कछु सुषुप्तिमें नहिं जाना, इसमें अज्ञानहुं लसताहै ॥
भावरूप अज्ञान अभाव न, गीतामें भगवान् कहा ।
हो आवरण अभावहेतुसें, सुनागया नहिं दिसताहै ॥
माया पुनि अज्ञान अविद्या, शक्ति नाम हैं इकहींके ।
अर्थभेदसें श्रुतिबुध कहते, कठिन वेदका रस्ताहै ॥
अघटघटनसें माया अभिधा, शक्ति कहें चित्आश्रयसें ।
नसे अविद्या विद्यासें सब, अज्ञान ज्ञानसें नसताहै ॥
जहिंलौं माया दुखहींहै सब, समझ सोच श्रुतिनिश्चयकों ।
पातेहैं दुख तजें न माया, सुख इक चित्हिं बरसताहै ॥
मूर्ख लगा दृश्यसें निशदिन, सदा सदाहीं ताप सहे ।
विषयहेतु आभास अल्प सुख-लग दुखहींमें फसताहै ॥
करताहै बहुकर्म लोकपर-लोकरोगके भोगनकों ।
अभिमानी सज साज दुखनके, बैठ सभामें हसताहै ॥
मायाका है रूप त्रिगुणहीं, सब कार्यमें त्रयगुण हैं ।
कवन दृश्य जहिं त्रयगुण नाहीं, सकल दृश्यहीं खिसताहै ॥
मायालौं सब दृश्य तापसें, जौलौं बहिर न जाताहै ।
सुखहींकों नहिं लखताहै वह, सदा पापमें वसताहै ॥
माया मायाकार्यकों लख, तुच्छ सकल सब ब्रह्म अचल ।
उदासीनहीं रहें सदा निज-सुखहींमें मन मस्ताहै ॥
प्रारब्धके भोगनकोंभी, उदककमलसे रहें सदा ।
तजें न ग्रहें सदा रस एकहिं, इनकों काल न डसताहै ॥
अमृत बहुते इसमगमेंभी, आके दुखमें लोट गिरे ।

मिलताहै ध्रुव सीसकटेकों, सुख क्या ऐसा सस्ताहै ॥१७॥
संस्कार परिणाम ताप दुख, सकल दृश्यसें पातेहैं ।
जौलौं रहे मिलाप दृश्यका, ताप न कबहुं परातेहैं ॥
रजपरिणाम विषयसुख है ध्रुव, रज विन कोई गुण दुख नहिं।
सत्त्व प्रकाशक सुखमय तमसें, जडता निद्रा आतेहैं ॥
यद्यपि सात्त्विकवृत्ति होतहै, विषयानन्दसमयमेंभी ।
तौभी कारण रजगुणभी है, रजके दुखसें नातेहैं ॥
होत विषयसुखसें ध्रुव बहुदुख, कारणसमहीं कार्यहै ।
सूक्ष्म क्या यह लख विषयी सब, दुखी तपी दरसातेहैं ॥
मूढ हृदयमें विषयमोदका, संस्कार दृढ जमताहै ।
तांके बल तिस विषयतुल्यहीं, विषय चित्तकों भातेहै ॥
होत चाह पुनि भोगनकी दुख, उद्यम बहुत उठाताहैं ।
प्रतिबन्धककों लख लगतीहै, आग चित्त जलजातेहैं ॥
यदि समर्थ तोहिं सादिककों, करे अन्यथा मोह ग्रहे ।
हा हम मरे समर्थ भए नहिं, मोह यही कहलातेहैं ॥
विषय मिलनसें रक्षादुख हो, रहन अधीनहुं पडताहै ।
विषयवियोग कठिन फणियरसें, बहु निशादिवस तपातेहै ॥
राग चाह रुह हिंसा मोहन, धर्मगिरनसें षट्आशय ।
रूपअधर्म होतहै जिनसें, नरकमांहिं सुछोतेहैं ॥
भोग नरकदुख जन्म लेतहैं, संस्कार फिर जमताहै ।
पुनि विषयनमें चित्त लगेहै, घटीयन्त्रसरसातेहैं ॥
जमताहै फिर मरताहै इम, दुखसें दुखकों भोगरहा ।
संस्कारदुख कहें इसीकों, पातञ्जलभी गाते हैं ॥
मनविरोधविन ताप न जैहै, सुख न मिलैहै कबहूंभी ।
सकल अनात्महीं दुखदायक, जांको मन ललचाते है ॥
अमृत हैं विद्वान् आंखसें, अल्पताप लख भगतेहैं ।
मूर्ख कन्धे बहुत मार सह, तजें न दुखमें रातेहैं ॥ १८ ॥

दोहा ।

करताहै यह जीव जड, जितने जगमें नात ।
शोकशङ्कु उतनें ठुकें, मनमें ताप वरात ॥ १९ ॥

हरिगीतछंदः ।

रसकों चखे जो रसिक, कहतेहैं तिसीकों बुध सही ।
सतरजतमोके भेदसें, रसकी त्रिविधताही कही ॥
तमरस चखेंहै नींदसें जे, तमोगुणसें भररहे ।
नहिं पापपुण्यहुं होतहै, निज आयु निष्फलहीं वहे ॥
रजरस मिलेहै विपयसेंहीं, विपय पांच प्रसिद्धहै ।
सब सिद्धिसेंभी मिलतहैं, राजस सकलहीं सिद्धहैं ॥
सतरस ग्रहे सात्त्विक सदा, निजवृत्ति सुखमेंहीं रहा ।
इन रसनमेंहीं जग डुवाहै, जन्मजन्महुं मर वहा ॥
सब सन्त सब रससें परेहैं, रसनमें नहिं आवते ।
अमृत चहें कब खप्नकों जे, सदा सुखवपु जागते ॥ २० ॥

छंदः ।

तनिक वैठके समझ सोचले, कवन कुवेला आयाहै ।
नाच नचावे कवन तोहि नर, किसनें दुखी वनायाहै ॥
वीज वासना जल कुसंग मन–भू कंटकतरु चाह जनी ।
छेदभेदके चित्त अन्धसा, ढुकडेकर दिखलायाहै ॥
छिन्नभिन्नभी करे काज वह, इन्द्रिय परकी शक्ति कहां ।
यदि नहिं होवे चाहछेद फिर, मन सर्वज्ञ सुहायाहै ॥
चाह विना नहिं होत क्रिया ध्रुव, चाह नाच दुख सगरीहै ।
दुखतृष्णा तज क्रिया तजी जिहिं, तिनहिं अचलपद पायाहै ॥
कारणकार्यसबके स्वामी, तुमहीं तो अविनाशी हो ।
अब मस्तककों नित फोडतहो, दुखहीं दिखत सवायाहै ॥
अब कछु ऐसे वन वैठेहो, में मेरी अभिमान ठना ।
कर्मनकोंभी रोतेहो क्या–समाचार प्रकटायाहै ॥

धनअभिमानी क्रूरचित्तनकों, कबहुँ दीन हो सेवतहो ।
कबहुं रूप बहु धार सभामें, नानासुख दिखलायाहै ॥
कबहुं कामिनीसन्ततिलग तुम, चोरीकोंभी धावतहो ।
कबहुं सुरनकों पूजतहो कर-जोर नहीं मन भायाहै ॥
कबहुं ईशसें मांगतहो धन, स्वर्ग कामिनी सुतआदिक ।
होगी वृद्धि कबहुं पाखण्डी, पूजनमें मन लायाहै ॥
कबहुं विज्ञ हो बैठतहो तुम, हम हैं विज्ञ बडे सज्जन ।
कबहुं कर्म कर बैठ सभामें, अभिमानहिं दरसायाहै ॥
शिष्यधर्म नहिं गुरु बन बैठे, जगकों शिष्य बनातेहो ।
हो बैठो देशिक अज्ञनके, लोभहिनें बहकायाहै ॥
कबहुं शोकचिन्तासें मैले, कामक्रोधसें भरे दिखो ।
रोतेहो चिल्लातेहो क्या, कितना धूम मचायाहै ॥
इत्यादिक बहु नाच नचतहो, लखो नचाता तोहि कवन ।
तृष्णाहीं है देख समझ इस-नेंही जीव बनायाहै ॥
तज यांकों अब तो सुखकों ले, व्यर्थ व्यर्थसें लागरहा ।
लख को हो तुम दीन बनोहो, सिंहहुँ अजा कहायाहै ॥
अमृत जिनके तृष्णा नाहीं, तेहीं पूज्य सकल जगके ।
तिनका यश अघ पावनहीं है, वेदननेंभी गायाहै ॥ २१ ॥

हरिगीतछंदः।

तनु मृषाके निर्वाहकीभी, विज्ञ[1] चिन्ता नहिं करें ।
प्रारब्धकोंहीं अर्पतेहैं, वही ध्रुव यांकों भरे ॥
जे मूढ करते निशदिवस, चिन्ता यही फल है सही ।
प्रारब्धविन नहिं भोग मिलते, दिखतहैं श्रुतिभी कही ॥
बहुमनुज करत अनेक श्रमकों, पेटभी नहिं भरतहैं ।
बहु करें नहिं कछुभी सकल, जग-भोग[2] पायन परतहैं ॥
विन ज्ञानकेहुं विवेक अस, होवे जिसे सुखसें रहें ।

१ ज्ञानी. २ भोग.

नहिं लाभसें हर्ष न हानी-मांहिं चिन्तासें दहें ॥
विन दृष्टकारणके स्वयं, प्रारब्ध अल्प न शक्त है।
रचती प्रथम यह दृष्टहेतुहिं, दृष्टका फल भक्तहै ॥
इसहेतुसें आभास इच्छा, विज्ञकोंभी होतहै।
फल ज्ञानका इक है यही, जग सत्यताकों खोतहै ॥
कोई कहें अभ्याससें, प्रारब्धफल मिटजातहै।
नहिं कानमें उनके पडीहै, च्यवनकी जो वातहै ॥
श्रुतिवचनभी तिहिं कालमें, नहिं चित्तमें तिनके रहा।
श्रीभाष्यकारकथन सकल, भी कानसें वाहर वहा ॥
दुखआयुअदनादिक अंश, प्रारब्धके इक रहत हैं।
विनशें अवर अभ्याससें, यह अर्द्धजरती सहत हैं ॥
जांसे कर्म सब ज्ञान इस-श्रुति वचनसें न विरोध है।
संकोचसें है वचन या सत्, तज्ज्ञमतिअनुरोध है ॥
अमृत अचाह न चाह जिनके, कर्मकों तनु देदिया।
तिनकी प्रशंसा नित करें श्रुति, तिनहिनें जग सुख लिया २२
संचित नसें सब ज्ञानसें, क्रियमाण ध्रुव लगता नहीं।
प्रारब्ध नशात न भोग विन, नहिं ईशचित्त मृषा कहीं ॥
प्रारब्ध आया ईशके, संकल्पमें को तजसके।
श्रीकृष्णरक्षित धर्मसुत किम, साज दुखके सजसके ॥
कोई कहत हैं तज्ज्ञके, शुभकर्म सेवक लेत हैं।
द्वेषी ग्रहें हैं पापकों जे, निन्दते दुख देत हैं ॥
निर्वीज हैं ध्रुव तज्ज्ञके, क्रियमाणभी यह सार है।
इकहै अहंता वीज यासों, तज्ज्ञहीं इक पारहै ॥
है ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म सेवा, अचल शुभकोहीं जने।
अघ द्वेष पाप अचल वढा, युगलोकमें दुखको तने ॥
है धन्य जननी तज्ज्ञकी, जिहिं ब्रह्म अमृतहीं जने।
जांकी चरणरजकृपासें, अघरूपभी सुखहीं वने ॥ २३ ॥

प्रारब्धके वैचित्र्यसें नहिं, नियम बुधव्यवहारमें ।
पर मुक्तिमें नहिं भेद कछु, जडभरत जनक अपारमें ॥
प्रारब्धमन्द प्रवृत्तिका सुख, निर्विकल्प विरोधसें ।
हो बहिर्मुखतामें क्षणिक कछु, तापभी अनुरोधसें ॥
निश्चय युगलका एक है, प्रारब्धके अनुसारसें ।
होवे प्रवृत्ति निवृत्ति वा सब, दूर हैं श्रुतिसारसें ॥
मनके प्रवृत्ति निवृत्ति धर्म, न तज्ज्ञके हैं श्रुति कहे ।
प्रारब्धभी मनमें रहेहै, मनहिं सुखदुखमें वहे ॥
है तज्ज्ञ साक्षी सत्य अनु-मन्ता न कछु वारण करें ।
अल्प न प्रवर्त्तक होत हैं, सब विश्वकों धारण करें ॥
कबहूं सकल जगभोग भोगें, हैं असंग न मोदहै ।
कौपीन पानीभी न कबहूं, मिले अल्प न तोदहै ॥
कतहूं निरख पुण्यी हर्ष पा, पूजते निज भाग्य फल ।
कतहूं कर्मअन्धे तिरस्कारहिं, करत कर्महुं विफल ॥
धिक्कार देते कतहुं यह जड, सब धर्मसें पतित है ।
कतहूं कहें इनके दर्शसें, पाप सहजे जरत है ॥
इनके न हर्ष विषाद कछु, निजरूपकी मस्ती भरी ।
नहिं शापवरकों देत पावे, जगत् जो करणी करी ॥
बिन पग चले बिन कर ग्रहें, बिन श्रवण सुनतेहैं सही ।
बिन घ्राण रसना गन्धरस लें, दृष्टि बिन नयनन कही ॥
बिन वाक् वचन उचारते, बिन चित्त सकल विचारते ।
इम है अलौकिक तज्ज्ञकरणी, निगम नित्य पुकारते ॥
अमृत दिवस निश होत उलटे, तज्ज्ञजगके हरिकही ।
जगसें परेहैं ब्रह्मवित् ध्रुव, हैं परेश्वरहीं सही ॥ २४ ॥
है कर्मगति अतिकठिन बहु, नर ज्ञानकी निन्दा करें ।
सुन ज्ञाननामहिं तडफडावें, मनसहित तनुभी जरें ॥
मुखसें कहें हम भक्त स्वामी, वचन तजत न लाजहै ।

होंगे भक्त जगके उदरके, ठगनकाहिं समाज है ॥
है भक्ति स्वामी-वचनपालन, वचनवहिर न जावना।
तनु रहो चाहे अवहिं जावो, अल्पभी नहिं चाहना ॥
श्रीकृष्णजीका वचन ज्ञानी, आत्मा मम सर्वदा।
ज्ञानी रखें अतिप्रेम हममें, हम रखें तिनमें सदा ॥
है ज्ञानसम न पवित्र कोई, दोषकारण हरत है।
कर जीवभावहिं दूर जो था, सो वना सुख धरत हैं ॥
सव धर्मका फल अल्पभी है, ज्ञानके भीतर धरा।
जिम कूपजलफल मिलत सगरो, सहज सागरमें भरा ॥
है ज्ञान उत्तम वही जासों, एकभावहिं देखते।
है ईशअर्चा अधम मध्यम, पृथक्भावहि पेखते ॥
नहिं तज्ज्ञकों कर्त्तव्य करण-अकरणसें नहिं फल तनिक।
न रहा प्रयोजन किसीसें, निज विन न साचेकी भनक ॥
निजकर्मसें वांधा पडा, संसारसें किसकी चले।
फल मन्दकर्मनका सही सुन, ज्ञानकों जों तलमले ॥
निजज्ञानपर सुखकों न चाहे, कर्मकी गति अति प्रवल।
अमृत समझ इम मस्त रहते, तज्ज्ञ हैं सर्वज्ञ जल ॥ २५ ॥

छंदः।

जे वोते हैं सविध तेहि ध्रुव, सफल इष्टकों पाते हैं।
कर्मअकाम परोक्षज्ञानभी, जिज्ञासा उपजाते हैं ॥
नाश वहिर्मुखताको सहजे, हरि तज्ज्ञनका संगहुं दें।
जिज्ञासाकों जने सकामहुं, विहितकर्म वुध गाते हैं ॥
जिज्ञासासें इतउत पूछें, साधन ब्रह्मज्ञानके जे।
कृष्णभक्ति सह समित्पाणि हो, वैदिकगुरुढिग जाते हैं ॥
सरलस्वभाव अधिकश्रद्धासें, रुचि लख गुरुकों पूज सुखी।
आज्ञाभङ्ग न कवहूं करते, तन मन अर्प सुहाते हैं ॥
श्रवणादिकके वन्धक कर्मन-का अधिकार मिटानेकों।

पा आज्ञा संन्यास विविदिषा, लेतेहीं हर्षाते हैं ॥
सद्भिक्षासें प्राण धारते, आज्ञासें श्रवणादि करें ।
कृष्णकृपा-अपरोक्षज्ञान पा, सबहीं तम बुझाते हैं ॥
प्रारब्धके भोगनकोंभी, जैसेके तैसे रहते ।
पाछेभी जैसेके तैसे, रहें अचल बेनाते हैं ॥
सदा मस्त अलमस्त दिवाने, फिरें न ममता कतहूंभी ।
अमृत निगम प्रशंसें निशदिन, निर्ख निर्ख हर्षाते हैं॥२६॥
इनकीहीं सेवा सुखदायक, जे करते सुखभरे फरे ।
जीवन्मुक्त विदेहमुक्तहीं, ज्ञानी परमानन्दभरे ॥
परमानन्दब्रह्म है दोई, मायाके मिटजानेसें ।
प्रारब्धके तारतम्यसें, वेद पृथक् शुभनाम धरे ॥
लिये न कबहुं किसीसें अल्पहुं, जलपङ्कजसें अधिक गती।
अलग विदेह कर्मके अनुगुण, जो आवे व्यवहार करे ॥
प्रारब्धसें हो यदि मध्यम-मन्द-पुरुषसें व्यवहारी ।
हो विक्षेप बहिर्मुखतासें, अल्पकाल ध्रुव चित्त जरे ॥
यदि उत्तमपुरुषकी संगति, हो व्यवहारहुं तिनसेंही ।
है विक्षेप न कारण कछुभी, तारे अवरहिं आप तरे ॥
जीवन्मुक्त सदा इकरसहीं, निर्विकल्पसुख लेते हैं ।
तनुकी सुधभी कबहूं आवे, इनसें ध्रुव विक्षेप टरे ॥
यद्यपि सुख न विदेहमुक्तकों, जीवन्मुक्तसमान सही ।
तौभी कर उपदेश अनिकके, सकल अविद्याजाल हरे ॥
विन रचनादि परेशसरिसबल, जीवनमुक्तहिं होता है ।
सो विदेहके निकट नहीं है, कारण विन नहिं काज सरे ॥
अमृत जीवन्मुक्ति कवन है, कहें विदेहमुक्ति किसको ।
है सब बातें मायाकी यह, मायासें हैं सन्त परे ॥ २७ ॥

हरिगीतछंदः ।

सर्वत्र चित्हीं ध्येय हैं, ध्याता चिदाभासहिं सदा ।

है पृथक् पृथक् उपाधिकी, जो बात मिथ्या सर्वदा ॥
कहुं शुद्धसत्त्वप्रकाशमें, रवि हरि उमा शिवसुत बने ।
निजभक्तकों रुचि अनुग फलकों, देत निजसुखभी तने ॥
आकाशआदि उपाधिमें कहुं, भक्तका तम टारते ।
वैदिकगुरुनमें शक्तिसें निज–शिष्यतमहिं निवारते ॥
रजमिश्र सत्त्वहिं लिये कतहूं, सुर सुरेश्वरभी बने ।
ध्यातहीं देत बहु संपदाकों, सकल लौकिक सुख तने ॥
कतहूं रजोगुणको लिये, राजादि दिपत सुहातहैं ।
निजभक्तकों दे संपदाकों, निजसमान बनातहैं ॥
कहुं तमोगुणसें गुणी हो, भूम्यादि दिपत सुहावते ।
सब जीवका सुखहेतु अन्न-प्रभृति वस्तु बरसावते ॥
इम रूपसों सो बने सो, सो काज सहजे करत हैं ।
हो वृत्तिमें आरूढ तांके, विषयका तम हरत हैं ॥
सब पितर उद्धारे यज्ञ जप, दान पूजे धाम सुर ।
सब जगतके हैं पूज्य ते जे, ध्यातहैं इकक्षण अफुर ॥
अश्वत्थ वटतरु आदिमें, चित्सेंहि सब फल लेतहैं ।
ध्रुवतारतम्य उपाधिसें, फलतारतम्यहिं देत हैं ॥
अमृत करें निरुपाधिका जे, ध्यान निजकों पात हैं ।
इसलोकमें अजलोकमें वा, वेद इमहीं गात हैं ॥ २८ ॥

छंदः ।

जड चेतन दो वस्तु बडो जो, सोई रूप तिहारो ।
देख विचार बडो को इनमें, झूठ लगो सो हारो ॥
अचर प्रकाश्य असत् परिणामी, दुःख प्रेर्य संसारो ।
भासक प्रेरक सत् सुख साक्षी, चेतन परम पियारो ॥
तुम प्रिय तुम बिन अवर कवन प्रिय, सब जग जगसों न्यारो ।
ऐसो सुख नहिं अवर जगत्में, यह न्यारो निजद्वारो ॥
सकल जगत् तोसोंहीं सत् हो, तुम सबको सरदारो ।

जो कछु लखियें सुनियें गुनियें, तुम सबमें सच यारो ॥
तारतम्य बलका जो सो सब, मायाकृत व्यवहारो ।
सेव्य सकलको पूज्य सकलको, तुम सब प्राणअधारो ॥
तुम इनका आधार इनहिसें, फिर क्या चहत सहारो ।
तव मायाहीं रच दिखलाया, जहिंलौं जगत्पसारो ॥
भयो कुसंग तांहि बल तुमने, मन धारो मुरदारो ।
भेदद्दर्शिका संग न करिये, दीन करे दुख भारो ॥
भेदप्रभाव विषयकों चाहत, दुखी भयो सुख कारो ।
तज दुखभेद करो निजदर्शन, तुम सत् सुख उजियारो ॥
मिथ्या है दुखकाहीं दाता, जहिंलौं मन विस्तारो ।
निकरोगे इस दुखसें तब हरि-सद्गुरुपद मन धारो ॥
तज मिथ्याकों सत्सुख तुमहीं, सोवो पाद पसारो ।
अब अमृत क्या चाह अवरकी, होहु मस्त मतवारो ॥२९॥

छंदः ।

है अतिप्रबल कठिन पत्थरसा, परमभयंकर जनुसत्थरसा,
जडतनुका अध्यास ।
यदपि कहत श्रुति मिथ्या नितहीं, दीखत नश्वर स्वप्नसदृशहीं,
तदपि तजत नहिं आस ॥
यांको मूल अस्मिता कहिये, जाके पाछे सब भ्रम लहिये,
यांको तम आभास ।
तनुभ्रममूल क्रियाभ्रम सगरो, ज्ञान ध्यान जहिंलौं जगझगरो,
यही बनावत दास ॥
जान समूल देहभ्रम जौलौं, हो न शुद्धसुख कदापि तौलौं,
यदि अज करें सुपास ।
मूलअविद्या प्रथम नसाईये, जार अस्मिता देह जराईये,
करिये अमृत-पद वास ॥ ३० ॥

छंदः ।

यल कुसंग सव गए सिंहगुण, अजास्वभाव अयो ।
तिमहीं तनिक कहो तो जडसें, मिल क्यूं जडहिं भयो ॥
चौदहभुवन भुवनवासी सब, तेरे रङ्ग रयो ।
तव आश्रित सव तुमसें जीवें, तुम क्यूं शोक ठयो ।
हरिहर निगम कहत हैं निशिदिन, तूं सवदेवमयो ॥
अयहूं छांड कुसंग मार हठ, क्यूं मन झूठ दयो ।
यह झूठे भेदी जे सगरे, इनको जन्म गयो ॥
यहु कुमन्त्र रच पचके इनने, दुखका वीज वयो ।
कह कह सन्त सबहिं थक हारे, अव तो मान कह्यो ॥
अव तो पड सन्तनकी पईयां, जहिं सुख नित्य नयो ।
क्यूं मिथ्या आरम्भ करतहै, तूं इस भेद हयो ॥
अमृत मार मरा मिथ्याहै, होवे अचल जयो ॥ ३१ ॥
क्या कछु भया कहें अब किससें, क्या अनहोनी भाई ।
दिखे नहीं क्या जडसें मिलके, कैसी जडता छाई ॥
चहो दृश्यदुख तुम सुख द्रष्टा, कस तव मति बौराई ।
जानें नहिं कछु हानिलाभकों, भयो निजहिं दुखदाई ॥
माया मायाकार्य जहिलौं, तहिलौं सुख नहिं राई ।
तुमने मिथ्यादुखके कारण, मिथ्या द्वैत बनाई ॥
जीव जगत् सब तवहिं कल्पना, कवन कुरीति चलाई ।
कोशकार जिम आपे रचके, फसे आपहीं आई ॥
भेद जहां है चाह तहां फिर, किसनें दूर वहाई ।
चाह जहां सुख तहां कहां है, सुखमारग विसराई ॥
धन्यधन्य ते सब सुखदाता, जिन यह द्वैत भुलाई ।
कहों कहां मुख एक प्रशंसा, श्रुतिहुं कहत सकुचाई ॥
जाग जाग नर त्याग त्याग यह, अन्धनकेर वडाई ।
अमृत ले परसुख घरभीतर, सवहीं दृश्य उठाई ॥ ३२ ॥

जो देखा जगमेंहीं राता, जगके मधुफल खात ।
कहें कवनसें कवन सुनेहै, जो हैं जगकी वात ॥
जो थी रात भई दिन जिनमें, दिवस भयो जहिं रात ।
उलट पलट जहिं सगरी छाई, तहां कहां कुशलात ॥
जग अन्धा अन्धोंकों पूजे, अन्धे याहिं नचात ।
अन्ध वडाई जो नर चाहे, तासों ताप न जात ॥
साच झूठ सव झूठ साच यह, भया जगत उत्पात ।
जगमें सुख चाहे जो नर विन-पक्षन गगन उडात ॥
मान कहेकों यदि सुख चाहे, तज सव जगसों नात ।
जगत्मांहिं दृढ जौलौं तौलौं, सुख मुख नहिं दरसात ॥
गए जन्म वहु जग सुख खोजत, गयो न सुखलौं हात ।
अव तो सव तज आ सन्तनढिग, जहिं सुखकी वरसात ॥
चहे नाश दुखका सुखकोंभी, हृदय विवेक न आत ।
संस्कार परिणाम ताप दुख, जगसें चित्त समात ॥
ब्रह्मलोकलौं त्रिगुण सकलहीं, सकल निगम मुनि गात ।
रजतम विन नहिं सत्त्व प्रकाशे, रज सव ताप वनात ॥
जे गिरिधरकी पदरज चूमें, गुणमें मारी लात ।
अमृत विन निजतत्त्व प्रकाशे, को जगमांहिं अघात ॥२३॥
दिखे नहीं क्या निपुण देखले, आग लागी जागरे ।
चेतन विन जो दीखत सुनिये, त्याग रे नर त्यागरे ॥
चहे जडनकों लाज न आवे, भया हंससें कागरे ।
तोकों समझ न डसे सदा मृदु, मिथ्या तृष्णा नागरे ॥
वहुत दिवस वीते दुखमें अव, समझ रोक मनवागरे ।
किम हो अन्धे धावतहो तुम, जगत मृगनजलझागरे ॥
हरिहरादि हम तुम सव एकहिं, माया करत विभागरे ।
तव आश्रित जग सत् हो वैठा, तूं मिथ्यासा लागरे ॥
तेरी माया तोह नचाया, झूठी लागी आगरे ।

अबहूं समझ मान कहनेकों, मत अब दुखसें पागरे ॥
मरे मिले सुख देख समझले, नहिं कछु मूली सागरे ।
यदि सुख चाहे ब्रह्मलोकलों, सबसें झटिती भागरे ॥
नानामत मायाकी छाया, झूठे काचे तागरे ।
तुम अतिरथि इनसें किम बांधे, है यह अचरज दागरे ॥
अब तो काट सन्तसंगतिबल, आ घर सहज सुहागरे ।
छांड दीनता तुम सबके प्रभु, अमृत घरहीं फागरे ॥ ३४ ॥

छंदः ।

वेदसिद्ध यदि भेदहुँ होवे, वेदहिं कवन बडाई ।
भेद प्रसिद्ध सकल जीवनमें, जहिं तहिं देत दिखाई ॥
भेदविना व्यवहार न होवे, यद्यपि है भ्रमताई ।
मैं तूं यह वह छिपा कहां है, किम हो श्रुति सफलाई ॥
सिद्ध जनाइ प्रमाण न होवे, अनुवादकता आई ।
दिखलावे अज्ञात मानसो, मानसीस श्रुतिताई ॥
ईश सिद्ध अनुमासेंभी शुभ-ध्यान उपासनताई ।
कर्मकाण्डनें कर्म कहतहीं, ली चरितारथताई ॥
रहा वेदका सार कर्मका, कहते शेष बनाई ।
मायावश जे दीन विषयके, जिनके मन मलझाई ॥
भिन्नप्रकरण न दीखे तिनने, दोष कुदृष्टि उठाई ।
बिन अद्वैततत्त्वके माने, होत न श्रुति मनभाई ॥
निन्दे भेदहिं श्रुति जग सगरो, सुखनाशक दुखदाई ।
करें प्रशंसा सब अभेदकी, लखिये पक्ष विहाई ॥
भयका कारण यही एक जग, लोक वेद प्रकटाई ।
भेद तजेबिन भय नहिं जावे, सिद्ध वेद समझाई ॥
जहिं अभेद तहिं सुखहीं छाया, भेद समूल नसाई ।
सदा प्रसन्नरूप निजमाते, चाह सहेतु उठाई ॥
भए अकल्पित तत्त्व एकरस, कल्पित ताप मिटाई ।

सुखके सुख चेतनके चेतन, देवदेवता छाई ॥
चढा नित्य निज अमल अलौकिक, सबहीं विश्व भुलाई ।
फिरें मस्त अलमस्त दिवाने, रोकटोक नहिं राई ॥
विधिनिषेधका झगरा चूका, श्रुति प्रशंस झरलाई ।
सुस्त भए सब अमर अमरपति, समझत आत्मताई ॥
श्रद्धाअनुगुण देत सबहिं फल, भई प्रबल प्रभुताई ।
मायाप्रेरक मायास्वामी, अचल भए बिलगाई ॥
लखें तमाशा आप आपना, हानि लाभ नहिं काई ।
ग्रहें न तजें सदा एकरस, महिमा वर्णि न जाई ॥
इन्द्रियबिन इन्द्रियकी करणी, परम अलौकिकताई ।
जहिं जहिं चरण धरें वह पृथिवी, परम पुनीत सुहाई ॥
सकलपूज्य ते धन्यधन्य ते, वेदहु देत दुहाई ।
अमृत बिन संगति तज्ज्ञनकी, कांको मिली भलाई ॥३५॥

छंदः ।

फसा पडाहै पण्डितमानी, रखताभी है आस ।
दिखे कहांहै अन्धाहीं है, मजहबका है दास ॥
जानत नाहिं बनावट यांकी, कर अनादि विश्वास ।
मुसलमान इन्द्रीकों काटें, हिंदू शिखा हुलास ॥
जेहैं गुरुके साचे चेले, तज सगरा आयास ।
ज्यूंकेत्यूं निश्चल हो रहते, जिनके सत्य विलास ॥
अन्धबातहीं अन्ध चलाई, अन्धोंके गल फांस ।
आप अन्ध पुनि अन्ध पडौसी, अन्धोंकी घररास ॥
हो इक अन्ध कहें कछु वासों, अन्धों अन्ध निवास ।
इतउत अन्ध देखके अमृत, आताहै क्या हास ॥ ३६ ॥

छंदः ।

अपनआप अमृत सुख तजके, कैसा उलटा दुखरसयो ।
है यह जीता समझ देखले, मृतसें लग क्यूं मृतहिं भयो ॥

माया मायाकार्य जहाँलौं, सव मुरदार भयंकर है ।
सदा संगसें तेरा जीना, कहां रहो लख सबहिं गयो ॥
देख विचार समझके मनमें, को थे अव तुम कवन भए ।
राजासें जो रङ्क भयो मुर–दा है जीना कहां रह्यो ॥
ठीक रहे तुम सबके स्वामी, सबके तुमहिं स्वरूप सही ।
अब बन हाडचामके पाछे, कैसा मृषा कुशोक छयो ॥
देख समझके भला कवन तुम, दीन भये हो अब किसको ।
लाज न आवे हो कुबेरपति, सीप–रजतमें चित्त दयो ॥
ऐसे होके मूढ कहो फिर, मेरी मति अतिऊंचीहै ।
जबसें मतिके वशमें आयो, तबसें तव ईशत्व हयो ॥
बन बैठा कबहूं तुम मानुष, कबहुँ कहो हम पण्डितहैं ।
कबहुं जातिअभिमान करत हो, मतिहिं बिगाडे नित्य नयो ॥
कबहुं कहो हमरे बहुयोपित, कबहुं वित्त बतलाते हो ।
कबहुं पुत्रपरिवारबडाई, कबहुं कर्मअभिमान ठयो ॥
कबहुं ब्रह्मचारी पुनि कबहूं, गृही बनो बनवासीभी ।
कबहुं कहो हम संन्यासी हैं, हमरा सबसें ऊंच जयो ॥
कबहुं कहो आचार्य हैं हम, कबहुं दिगम्बर अभिमानी ।
हो अवधूत न बोलो कबहूं, क्या तोमें उन्माद बह्यो ॥
कबहुं कहो हम भक्त बडे अब, रही कवन हमको कमती ।
तिलकमालके झगडेमें पुनि, कबहुं भयंकर युद्ध भयो ॥
निर्लज हो बहु धरो बनावट, तृष्णाशोक सदा साथी ।
तुम परेश आधार सकलके, मतिहीं यह दुखबीज बयो ॥
तोको कौन दीन इसनेहीं, रचके सब जग मिथ्याहीं ।
यांके पाछे लगके तुमने, व्यर्थहिं अपना आप तयो ॥
यदि नहिं बनो अवर कछुभी तुम, फेर तोहि विन ईश कवन ।
तुमको जीव किया मतिनेहीं, बहुअभिमान नाहिं कौन चयो ॥
नीचसंगसें कांको सुखहो, मतिसम अवर न नीचहै ।

अब तो यांका संग छांडदे, रोक सकल यांकाहिं रयो ॥
तोकों वेद सकल समझावें, सन्त सहज उपदेश करें ।
तोको लाज न आवे अब तो, ले इक गिरिधरकाहिं भयो॥
अमृत जब न बनें कछुभी हम, तबहिं ईश हम साचेहैं ।
हममेंहीं यह माया जगकों, रचे होत हममेंहिं लयो ॥३७॥
बहु बहकाया अब तो जगके, नास्तिकहीं बनजाईये ।
ब्रह्मलोकतक खोजलिया सुख, अपनेमेंहीं पाईयें ॥
हो अज चाहे ब्रह्मलोक हों, कितने लाड लडाईये ।
अपने विन न अल्प कतहूं सुख, प्रणकी भुजा उठाईये ॥
अन्यदृष्टि दुखमें क्यूं सुखकी, झूठी बात बनाईये ।
जे इम कहतेहैं ते अन्धे, तिनपर नहिं पतियाईये ॥
अन्य तजे बिन हो न कभी सुख, जौलौं घर नहिं आईये।
श्रुतिअनुभवसें सम्मत हो जो, सो साची बतराईये ॥
तम होतेभी जगअभाव है, बात सुषुप्ति सुनाईये ।
तहिं सुख तम बिन क्या लखतेहो, तनिकहुं तो समझाईये॥
तम नहिं रहे समाधिकालमें, कहिये पक्ष विहाईये ।
तहिं सुख बिन क्या दिपे मानलों, निजहींमें हुलसाईये ॥
शपथ खुलाइ पुछें हमभी अब, कर विचार सचयाईये ।
जहिं देखा जगमें तुमनें सुख, तहिं तनिकहुं दरसाईये ॥
विषयहेतुसें जो सुख दीखे, अपनाआप दिखाईये ।
कांके हित कांकों कर जोरो, कहिये मत विलगाईये ॥
मान कहेको क्यूं भटकतहो, घरहीमें आजाईये ।
लखिये निगमसार तुमहीं हो, अपनाहीं यश गाईये ॥
अमृत तौलौं हो न परमसुख, जौलौं सब न भुलाईये ।
अपनी मस्ती चढे बिना किम, तृष्णा सकल बुझाईये॥३८॥

हरिगीतछंदः ।

मानस सकल है जगत् लखले, मूढ क्युं इसमें फसा ।

बुध फसे नहिं कतहूं कभी, बेसमझ दुखहींमें धसा ॥
मनसत्त्व पाछेहीं जगत्का, सत्त्व दिखता देखले ।
जाग्रतस्वप्नमें मन बना सम-जगत्कोभी पेखले ॥
अब लख असत् न सुषुप्तिमें, मन जा अविद्यामें मिले ।
तहिं बिन अविद्या क्या दिखे, तुम मृषा दुखहींमें तले ॥
मनकों अविद्याहीं रचे, मनहीं रचे जग श्रुति कही ।
मायारचित मनहीं मृषा, मनका रचा कब हो सही ॥
अब समझ कछु ले मान हमरी, बात साची मत तजे ।
तुमनें अनादिककालसें, केवल मृषाहीं दुख भजे ॥
अब तज मृषाकों एक-साचे, तुमहिं हो सब है मृषा ।
तुमकों बिगाडा इसीनें लख, मृषाहीं यह है तृषा ॥
किसकों चहेहैं देख तुम बिन, अवर को जग साच है ।
अब क्यूं लडे है व्यर्थहीं, यह विश्वकूकर काचहै ॥
जग झूठ है झूठी तृषाभी, क्यूं धसाहै मूढही ।
निजरूप सत्चित्कों लखे, श्रुतिवचनमें आरूढहीं ॥
दुखमृषाकों सुखसत् लखो, सुख सत् सहज तुम आपहीं ।
अबलौं लिया क्या समझ कहदो, जगत्में बिन तापही ॥
मरुजलमृगनकी गति तिहारी, भई अबतो मानले ।
कर श्रवणमननादिक सुगुरुसें, आपकों पहचानले ॥
जब रूप अपना लखोगे, इक रहोगे तुमहीं सही ।
फिर आपहीं मुखसें कहोगे, साच है जो तुम कही ॥
सुरराजइन्द्रकुबेरब्रह्माका, मिले अधिकारभी ।
बिन जगत्के भूले सुखी नहिं, होत मनदुख पारभी ॥
सो भूलना बिन आपके, जाने कभी नहिं होत है ।
जो जानता नहिं आपकों, निजआव दुखमें खोत है ॥
अमृत बिसारा जग जिन्होंने, तेहि निश्चल हैं सुखी ।
छाई सदा निजरूपकी मस्ती, अवर सबहीं दुखी ॥ ३९ ॥

छंदः ।

रोक रोक मन बहुता राखा, कहलौं झूठहिं भरिये ।
अब तो स्वतःप्रमाण वेदकी, सुख आज्ञाकों करिये ॥
श्रुति हितकीहीं सदा पुकारे, कबहूं तो मन धरिये ।
वेद बहिर्मुखतामें हठसें, कैसे भवकों तरिये ॥
श्रुतिकी आज्ञा सुखहि टार क्यूं, त्रिविधतापमें जरिये ।
अन्धोंसें मिल हो अन्धे क्यूं, भेदकूपमें परिये ॥
अन्धे जिम लख सर्प रज्जुमें, तिम क्यूं भयसें मरिये ।
जिनपर कृष्णकृपा नहिं अन्धे, अब तो इनसें टरिये ॥
सत्मिथ्या हैं इनके उलटे, इनसें कबहुं न फरिये ।
इनका संग त्रिविधदुखकर है, तृषाआगमें बरिये ॥
समझ सीपकों रजत मृषाहीं, पकर असी क्यूं लरिये ।
तजिये जब जगरजत मृषाकों, तबहीं सुख विस्तरिये ॥
अमृत यदि सुख चाहो तौ ध्रुव, श्रुतिकेहीं अनुसरिये ।
श्रुति सुखसत्य कहे तोकोंहीं, हमहीं हैं उच्चरिये ॥ ४० ॥
अन्धेहीं हो साचझूठकों; उलटेहीं बतलातेहो ।
गया काल बहु तनिक लखो तो, अबहूँ नहिं शरमातेहो ॥
लखो तनिक निज दशा संभारो, क्यूं दुखहीं दुख पातेहो ।
तुमहिं कालके काल भया क्या, इतउत बहुत डरातेहो ॥
लोक लोकगुरुमें श्रद्धासें, झूठेकों सचयातेहो ।
इनका संग न तजो भला क्यूं, इतना कठिन हठातेहो ॥
बहुते सुधरे लोक बिगारे, जिहिं जगगुरुहिं बतातेहो ।
इनसें डरियो इनसेंहीं तुम, निजपर कोहुँ सतातेहो ॥
इनके वशमें आकेहीं तुम, वेदविरुद्धहि गातेहो ।
सन्त कहेकों सुनते नहिं कछु, तिरछी आंख दिखातेहो ॥
इनसें प्यार करनसेंहीं तुम, बहुते पाप कमातेहो ।
अविचारीकी संगतिसें तुम, छले दिवसनिश जातेहो ॥

रहे सकलकी सत्ता तुमहीं, अब क्या दशा बनातेहो ।
जीव बनाए इननेंहीं अब, हाथ जोर घबरातेहो ॥
मुक्ति होइगी मरके पाछे, ऐसे वचन सुनातेहो ।
मृषापालका यश गातेहो, शठताहीं दरसातेहो ॥
इनके बल अब भूल आपकों, दैशिककोंहु भुलातेहो ।
जिनकों दैशिक वेद पुकारें, तिनकों लख मुझातेहो ॥
इनकी संगति बहुत बिगारा, सुनो न मन समझातेहो ।
अमृतसें ध्रुव विषहिं भएहो, सन्तन नाहिं सुहातेहो ॥४१॥

छंदः ।

ध्रुवकुसंगनहीं दृढ लखले, तेरे मोद चरे ।
जीव बना है दीन भया है, मिथ्या शोक करे ॥
शोकविषय कर्त्ताकों लखले, तुम सब त्रिपुटिपरे ।
यह मायाहीं मिथ्याहीं तव, नानारूप धरे ॥
तव स्वरूप अक्रिय निर्गुण नहिं, मायासें बिगरे ।
तोमें नहिं आभास अविद्या-के पहुंचें झगरे ॥
गुणभी तोमें भयो न है जिम, रज्जुसर्प उजरे ।
तुम सच्चित्सुख सदा एकरस, क्यूं निजको बिसरे ॥
क्या अब यत्न करो बतलादो, क्या यह अचल फरे ।
लाज न आवे झूठ बनावे, बिगरे जो सुधरे ॥
कर्मशक्ति क्या फरे तोहिमें, तुम सब संग तरे ।
सहज स्वभाव आपकेसे सब, मायाजाल टरे ॥
वन्ध्यासुत शशशृङ्ग-धनुष ख-पुष्पमाल पहरे ।
घेर नगरगन्धर्व सिंहसें, स्वप्नेमांहिं लरे ॥
तिम मायाजग जीतनके हित, मृषा तुमहुं विचरे ।
मिथ्या कर आरम्भ सकलहीं, मृषा सदाहि जरे ॥
अमृत बिन अजातकी संगति, सब पचपचहिं मरे ।
यहभी कथन स्वप्न है को बुध, झूटी साख भरे ॥ ४२ ॥

हैं यहभी कछु बात जगतमें, झूठी झूठ सनी ।
तनिक समझके कहिये कैसे–की किम होत जनी ॥
सिकतातेल न जने असत्की, किम उत्पत्ति बनी ।
प्रागभाव मानें ते झूठे, झूठी बात तनी ॥
कारण सत् प्रगटावे जैसे, पृथिवीमांहिं मनी ।
सत्य असत्य प्रकटता कैसे, कपिल विरुद्ध भनी ॥
दिखे जगत् है जगत्जनी इम, माया कहत मुनी ।
अब कहिये दूसर है को तुम, गुनी न श्रुतिहुं सुनी ॥
अमृत हम ऐसे जगके किम, बने अधनी धनी ।
सच्चित्सुख अद्वैत एकरस, इम श्रुति चित्त ठनी ॥ ४३ ॥
तोहि गिरनसें सदा बचावे, ऐसी अचल डही ।
मधुरसत्यहितहीं है क्यूं नहिं, मानत सन्तकही ॥
है कुसंगका फल ऐसा लख, कैसी बुद्धि वही ।
सुखदुखकारणकीभी तोको, समझ न अल्प रही ॥
सबको हो आधार दीनता, तुमने व्यर्थ गही ।
जीवभावसें चाह चाहसें, छाती दीन दही ॥
जगप्रसन्नता कभी लखीभी, तुमने बहुत चही ।
सुखाभास दुखरूप हेतुसें, पीडा अधिक सही ॥
अमृत चाहा मृषाकों जिसने, तांकी लाज लही ।
सब जग तज ऐसे हो रहिये, जैसे रहे मही ॥ ४४ ॥
नहिं कछु अबकी देख समझके, कबसें यह मलबुद्धि अई ।
सुख तुमहीं इक चाहो परसें, सुखको क्या यह बात भई ।
हो कुबेर निजरूप भूलके, भिक्षा मांगे रङ्कनसें ।
बहुत शरमकी बात कहें क्या, लज्जा तेरी सकल गई ॥
हित कहनेकोंभी नहिं माने, बहुताहीं मल छाइ रहा ।
भज गिरिधरकों मारेंगे वह, जिसनें तेरी बुद्धि हई ॥
संग अविद्याकेसें तुमभी, सहज अविद्या चाल चले ।

अजासंगसें जिम केहरिनें, अजाचाल सब सीख लई ॥
करते पुष्ट अविद्याकों दृढ, है कुसंगबल ऐसाहीं ।
छिपी नहीं नाशे सत्संगति, श्रुतिभी कही न बात नई ॥
तज कुसंग भज सन्तचरण नित, मान कहेकों कर आदर ।
सन्तन चहें कहें हितकीहीं, दयालगे लख बुद्धि तई ॥
जिनके द्वैत न सन्त वही हैं, सन्तसंग सत्‌रूप करे ।
विषभी अमृत होजाते हैं, को बदले जो सन्तदई ॥ ४५ ॥

हरिगीतछंदः ।

नहिं सत्य है कछु तोहिं बिन अब, मानले लख मानले ।
पाछे करो जो चहो पहले, आपकों पहचानले ॥
प्रतिभाससत्ता प्रातिभासिक, शुक्तिरजतहिं जानिये ।
व्यवहार है सबजगत् मायाकी, निपुण पहिचानियें ॥
परमार्थसत्ता आप सत्, अद्वैतकीही है सही ।
सत्ता युगल हों आपसेंहीं, सिद्ध श्रुतिबुधभी कही ॥
कर कल्पना अपनी अविद्या, जगका कल्पन करे ।
बिन ज्ञानके नहिं नशे यह तब, सत्त्वकेहीं अनुसरे ॥
व्यवहारवेलामांहिं सत् होके, सकलकों भासता ।
इस हेतुसें बुध व्यावहारिक, कहें ज्ञानहिं ग्रासता ॥
तबमांहिं तिसहिं उपाधिसें यह, निजअविद्याहीं रचे ।
नभनीलतादिक प्रातिभासिक, ज्ञानसमकालहिं बचे ॥
है हेतुजन्य उपाधिसेंहीं, भेद इनका बुध कहें ।
कोई विशुद्धसुकोटिके, व्यवहारसत्ता नहिं सहें ॥
नहिं सर्प जगका भेद कछुभी, दृष्टिसृष्टि उत्तम कही ।
साजात्यसें हो प्रत्यभिज्ञा, ठीकहीं है मत यही ॥
ईश्वरदृष्टिमें जगत्कोहिं, अदृष्ट फलतक रहत हैं ।
ते रचें दृष्टिहिं-कालमें सम-हीं नियम बुध कहत हैं ॥
अब समझले तो विना सत् है, को तनिक तो देखले ।

क्यूं हठ लगाहै झूठसें, अपनी दशाकों पेखले ॥
अमृत सुगुरुसें देखता नहिं, जबतलक निजरूपकों ।
कैसे तजे वह जगत्मिथ्या, तापकेहीं कूपकों ॥ ४६ ॥
विन ज्ञानके साधक कवन, जगका तनिक पहिचानले ।
निजज्ञानके पहले न पाछे, रहत है सच मानले ॥
संबन्ध संबन्धी सकल हैं, प्रातिभासिकहीं सही ।
इस द्विविधसत्तामें कवन अब, बात बाकी है रही ॥
जब देखतेहैं निपुणतासें, ज्ञानभी साधक नहीं ।
यदि ज्ञानमात्रहिं हेतु है नहिं, अतिप्रसक्ति छिपी कहीं ॥
घटज्ञान साधक घटहिंका, यदि परस्पराश्रय होत है ।
जो समझता है सत्य जगकों, मूढ व्यर्थहिं रोत है ॥
अजलोकलौं सब विश्व लखले, विनहूएहीं मानसें ।
जे झूठसें करतेहैं प्रीति, दुखहीं मिले अभिमानसें ॥
अब तज मृषा-अभिमानकों, अभिमान होवे द्वैतमें ।
लख द्वैत रहता है कहां, तव रूप निज अद्वैतमें ॥
जगसत्त्वसें अभिमान हो, अभिमानसें तृष्णा जगे ।
तृष्णा सकल दुखरूपहीं हैं, सकल सुख लखते भगे ॥
अमृत तजा अभिमानकों, जिसने समझ निजरूपकों ।
ध्रुव है परेश्वरहीं अचल, तिहिं सम प्रमोद स्वरूपको ॥४७॥
अपरोक्ष चेतनरूप निजकी, सिद्धिकी शंका नहीं ।
होवे अवरसें सिद्धिशंका, अवर यदि होवे कहीं ॥
खण्डन न साक्षी अवधि विन हो, सिद्ध निश्चय जानले ।
साक्षी अवधि जो सो सहज–निजरूप है पहचानले ॥
जो अन्य दीखे कर असत्–भाव न छांड हठ-मानले ।
यदि हठ करेगा सुख न होगा, भस्महींकों छानले ॥
होगा असत् भावन अचल, जब छूट जावेगी तृषा ।
फिर अचल निजमस्ती चढेगी, दिखेगा नहिं दुख मृषा ॥

अमृत विना हरिसन्तसेवा, नहीं दुख मिटजाते है ।
करिये अनन्त उपाय कवहूं, होत नहिं कुशलात है ॥४८॥

छंदः ।

है नीचा वननेकों तज क्यूं, सोचे नहिं पगतान ।
सत्य होत यदि दूजा होता, मिथ्या है अभिमान ॥
कांकी कासों करो लाज तज, को है तोहिसमान ।
जो दीखे सो दीखतहीं है, सवहीं है विन प्रान ॥
तुमसेंहीं सव विनाहुएहीं, मायासें हो मान ।
हो अभिमान निमित्त मृपा–नहिं मूर्खकों पहचान ॥
मूर्ख मान सीपकों रजतहिं, धावत अन्ध अजान ।
पाछे रहे शेप पछतावा, तिम सव जगत् भुलान ॥
करते जे अभिमान मृपाको, तिनकीहीं वहु हान ।
तज स्वामित्व दीन ते निश्चय, भए सकलदुखखान ॥
कहां ईशता कहां जीवता, कहां सुपद निर्वान ।
अमृत सव अभिमान मृपा है, सन्त न वनते आन ॥४९॥

हरिगीतछंदः ।

नहिं तज्ज्ञकों कर्त्तव्य कछु इम, वेदगीता कहत हैं ।
नहिं अव रहा कछु प्राप्य इनकों, अल्पभी नहिं चहत हैं ॥
नहिं है प्रयोजन करणसें, न अकरणसें कछुभी रहा ।
निजज्ञानरविके उदयसें सव, कर्म दृढ भ्रमतम वहा ॥
नहिं फल रहा अव किसीसें, फल आपहीं सवके भए ।
है चाह किसका नाम अवतो, मनस कारणभी गए ॥
तनु अर्पके प्रारब्धकों अव, आप अलग विराजते ।
नहिं शून्य होके वैठते नहिं, साज कछुभी साजते ॥
नहिं कछु तजें नहिं कछु ग्रहें, नहिं करें नहिं करत हैं ।
नहिं भोगते न अभोगते, नहिं जनें नहिं संहरत हैं ॥
नहिं लखें नहिं कछु अन्ध हैं; नहिं मौन हैं नहिं कहत हैं ।

कछु भए अद्भुतरूप ऐसे, क्षुब्ध हैं नहिं सहत हैं ॥
जगसें बात है विपरीत इनकी, समझते हैं ध्रुव वही ।
जे तुल्यबलके होत हैं, मुमुक्षुत्वभी जिनके सही ॥
अमृत परेश्वर हैं सही, बहुपुण्यरूपहिं पूजते ।
इनकी कृपा बिन कब किसीकों, जगत्में सुख सूझते॥५०॥
है ब्रह्मपद् अतिकठिन साधन, कठिन वक्ता अलभ है ।
विविदिषु अलभ को आसके, मगमें न आना सुलभ है ॥
बहु वेद्कों पढभी न आते, वेद्मगमें सिद्ध है ।
वह आत हैं दुर्लभ पुरुष, जो पापसें नहिं विद्ध है ॥
निजधर्म पुनि हरिनामसें, नहिं पाप रहता है सही ।
अनुभूत सब विद्वान्के इति-हासश्रुतिनेंभी कही ॥
हरिनाम हर्त्ता पाप सबका, साङ्गहीं जब होत है ।
जिम प्रौढ दिनमणितेज सगरे, अन्धकारहिं खोत है ॥
फिर आत साधन ज्ञानके, हरिभक्तिसें पूरे सजे ।
फिर होत निजविज्ञान जासों, भ्रम अविद्या दुख भगे ॥
जहिं इष्टइच्छा तहिंहिं तांके, हेतुकी अधिकारिता ।
श्रवणादिमें तांकी विवेका-दिक चतुरमें धारता ॥
है सकल साधनहेतु प्रथम, विकेकसाधनमें भए ।
पुनि हैं विराग मुमुक्षुता, संपत्तिषट्की सुख छए ॥
सुखताप नित्यअनित्य चित्-जडका प्रसिद्ध विभाग जो ।
तिहिं समझकोंहिं विवेक कहते, मिलत है बडभागकों ॥
जडदुखविनश्वरजगत्की नहिं, चाह नाम विराग है ।
यह मिलत है तांकोहिं जांके, धर्म तेज विराज है ॥
शम दम तितिक्षा पुनिहुँ श्रद्धा, समाधान विरामभी ।
संपत्तिषट्की मिलत यह जिहिं, चित्तमें सुखश्यामजी ॥
शम मनशमन दम कहत हैं, सब कर्णकेहिं निरोधकों ।
हैं द्वन्द्वका सहना तितिक्षा, रखत तर्ष विरोधकों ॥

गुरुवेदवचविश्वासकों, श्रद्धा कहत हैं पारके ।
है समाधानहुं चित्तकी, एकाग्रता मन मारके ॥
उपशम विषयके मिलनेसेंभी, जो न इच्छा भोगकी ।
यह चार ध्रुव दृढ नीव हैं, श्रवणादिमें दृढयोगकी ॥
पदवृत्तिसें वेदान्तका, सुख-तात्पर्य निहारना ।
है मुख्य साधन श्रवण यह, विज्ञानका भवतारना ॥
अपरोक्षज्ञानहुं जने निजका, शब्दभी जग सिद्धहै ।
जिम दशम तुम इम कहे, कछु छिपा नांहि प्रसिद्ध है ॥
संशय पुनिहुँ विपरितभावनकी, निवृत्तिहिं द्वार कर ।
है मननिदिध्यासन श्रवण, सहकारितामें निपुणतर ॥
है श्रवणसें जो सिद्ध तांकी, युक्तिसें अवधारणा ।
कहते मनन हैं ताहिं जिसने, द्वैतकों संहारणा ॥
जो मननसें है सिद्ध तिसहीं-मांहिं वृत्तिप्रवाहको ।
कहते निदिध्यासन न तिसमें, पात हैं सुख थाहको ॥
यह सात साधन ज्ञानके हैं, अन्तरङ्गहिं सुख करें ।
तिनमें विवेकादिक चतुर, अधिकारिताकोंहीं भरें ॥
है महावाक्यविचार साधन, आठवां सो आरहा ।
इस श्रवणकेभीतरहिं लखके, पृथक् हमनें नहिं कहा ॥
निजज्ञानका जो विषय सोहीं, श्रवणआदिकका सही ।
इम श्रवणआदिक अन्तरङ्गहिं, छिपी नहिं श्रुति बुध कही ॥
पर सस यह नहिं होत पूरे, कृष्णकी सुखभक्ति विन ।
इम मुख्य साधन भक्तिहीं जो, चहत नहिं परका यतन ॥
प्रणिधानसूत्रविचारमें, बुध पूज्य वाचस्पति कहा ।
युगयोगका इक मुख्य साधन, ईशप्रणिधानहि रहा ॥
युगयोगके सम विषय संयम-का प्रकट इस हेतुसें ।
है अन्तरङ्ग प्रतापनिधि, दुखको हने सुखकेतुसें ॥
प्रणिधान विन नहिं होत पूरा, आत विघ्न अनेकहीं ।

प्रणिधानकी सहकारितासें, रहे यांकी टेकही ॥
है मुख्य साधन वही जो नहिं, अवरकों कवहूं चहे।
फलदानमें होवे स्वतन्त्र न, कवहुँ निष्फल हो वहे ॥
प्रणिधान कहते हैं इसे, हरिभक्तिसें अभिमुख करें ।
हरिको विनाशे विघ्न सगरे, योगयुग फूले फरें ॥
शुभकर्म निजविज्ञानमें, संवन्धके सूचन लिये ।
त्रयकाण्ड गीतामध्य राखी, भक्ति भगवत् सुख दिये ॥
पुनि द्विविधकाण्डहुँमें कही, निजभक्ति हित संसारके ।
इस बिन न जैहैं विघ्न कवहूं, सुख न हो मनधारके ॥
अमृत विना हरिभक्तिके, हरिरूप नहिं मिलता कभी ।
सो मिलत है सत्संगसें, निजधर्मसें सत्संगभी ॥ ५१ ॥

चौपाई ।

परगुणको दे संगीमांहीं । अर्थसंगका दूसर नाहीं ।
शुद्धसत्त्वका कार्यहि मन है । परमस्वच्छ दर्पणके सम है ॥
दर्पणसंगी करें रूप जो । नील पीत या रक्त ग्रहे सो ।
इम मनभी हो संगी जांका । ग्रहे सकल जो गुण है तांका ॥
यह विचार जब दृढ होजावे। नहिं कुसंगमें कबहूं आवे ।
सज्जनसंग सदा हो प्यारा । लहे जन्मफल जो श्रुतिसारा॥
नहिं तो जन्म व्यर्थहीं जावे । जो था फल सो होन न पावे ॥
इस विचारकों दृढ जो राखें । कर सत्संग ब्रह्मरस चाखें ।
सन्तसंग सब पाप विनाशे । दे हरिभक्ति स्वरूप प्रकाशे ॥
विषभी सहजे अमृतहि होते । सन्तसंग तमविषकों खोते ५२

छंदः ।

क्या जानें यह कवन पापसें, वैदिकमत गल आरा ।
आया हैं इस कल्पितमतनें, छलसें जगत् उजारा ॥
क्रोधद्वेषकों उपजावें दृढ, मैत्रीकों संहारा ।
निज निज मतके बांधे हैं जग, जुदे जुदे आखारा ॥

निज निज वरदी न्यारी न्यारी, धारी है है कारण ।
फिरें द्वेपके भरे लडनकों, बांधे हैं हथयारा ॥
जो जो इनके वशमें आवें, कहें रहस्य यही है ।
इतर मतीके दर्शनसेंभी, पुरुष होन हनयारा ॥
इतर मतीके ढिग मत जाना, सहजे पाप लगेगा ।
करो प्रणाम न कभी इतरकों, करें पाप हो भारा ॥
जो जो हमरे मतमें आया, सहजें मुक्त भया है ।
अवर सकल मत नरकहेतु हैं, साचा वचन हमारा ॥
अपने मतिकों वैष्णव कहने, कहें इतरकों कण्टक ।
हमरा मतहिं सनातन है इक, अवर नया सब धारा ॥
सारमन्त्र है यहीं देखना, गुप्त राखना इसकों ।
मत कण्टकके कान पडे यह, हमरा पन्थ नियारा ॥
नश्वरतनुके हित जगहरने, कैसा पांउं जमाया ।
ऐसी वातें सिखला जगमें, द्वेप क्रोध विस्तारा ॥
इन मतियनकी कृपा जगत्का, नाश करे निशदिनहीं ।
गई वृद्धि अब भारतमेंसें, धर्महुँ किया कनारा ॥
द्वेपहेतुसें झगडे निशदिन, पडे रहें आपसमें ।
एक एककों देख न सकना, देख लगे चंगयारा ॥
आपसकी निन्दाकों करकर, आपसमें विगरे हैं ।
जौलौं मत यह बने न तौलौं, भारतका उजियारा ॥
मत हैं ध्रुव युग तीन वर्गलग, एक प्रवृत्तिहिं भापी ।
अमृत मुक्तिहेतु इक लखिये, वेद निवृत्ति पुकारा ॥ ५२ ॥
क्या जाने यह मन्दबुद्धिके, कितने गाडे आये हैं ।
कारण है जो है लखिये तो, कितने रूप बनाये हैं ॥
लिये कपाल फिरें हैं कोई, जटाजूटकों बांधें हैं ।
कोई लुञ्चितकेश भए हैं, कोई जटा बढाये हैं ॥
फलाहारकों कोई करते, कोई विद्या भूतनकी ।

करें हाथसें बातें कोई, मौनी सिद्ध कहाये हैं ॥
कोई मालातिलकछापकों, पहरे फिरें गस्त्रीमें ।
कोई नग्नपांउंसें फिरते, कोई भस्म रमाये हैं ॥
पांचआगकों तपते कोई, वडे सिद्ध कहलाते हैं ।
कोई लिये निशान फिरत हैं, कोई ध्वजा उठाये हैं ॥
कोई बांधे फिरें मतंगा, कोई नाद वजाते हैं ।
कोई मुखकों बांधे फिरते, बहुतेहीं बहकाये हैं ॥
कोई भोजन करें न करसें, कोई मश्र पिशाब करें ।
कोई आसन बहुत लगावें, कोई खडे थकाये हैं ॥
बाणविछौना कोई करते, कोई नखन बढाते हैं ।
कोई काठतडागी पहरें, कोई भुजा सुखाये हैं ॥
इत्यादिक बहुवेष धरें हैं, भीतर दुखही भरा धरा ।
समझ देखले निश्चय करले, सबही तृष्णा खाये हैं ॥
तृष्णा जहां तहां परमेश्वर, अपना आप पराता है ।
तांके विना कहां किसने ध्रुव, सुख यह नाम धराये हैं ॥
विना कृपा गिरिधरकी सो नहिं, मिलता यद्यपि रूप अपन।
ताका कारण अचल-प्रेम है, जांके वश हरि आये हैं ॥
आत्मविद्वानोंकी है पहि-चान कठिन अति दुस्तरही ।
नहिं व्यवहार-नियम है इनके, प्रारब्धपर धाये हैं ॥
जिम मणिकी पहचान होत है, धीरेधीरे तैसेहीं ।
कृष्णकृपानें दृढविविदिषुकों, सहजे आन मिलाये हैं ॥
इनकी साची सेवा विन नहिं, मिले कदाचित् सुख कतहूं ।
इननें कबहूं अवलौं आए, शरण नहीं तरसाये हैं ॥
जे जे साचे इनकी पदरज, चूमें ते सुखरूप भए ।
जे इनसें हैं दूर न तिनकों, सुखनें मुख दिखलाये हैं ॥
इनविन वेद प्रशंसे किसकों, इनके विन सुख रहे कहां ।
अमृत जहिं जहिं सुख देखतहों, इनहीनें बरसाये हैं ॥५४॥

हरिगीतछंदः ।

जौलौं रहे है एकपक्ष न, ज्ञान है निश्चय तहां ।
विनज्ञान निजसुख कब मिले, दृढ है अविद्याहीं जहां ॥
जब लखलिया गुण है मृषा फिर, हठ रहे किस हेतुसें ।
किसमें छिपे है किम अविद्या, पक्ष हठ निज-केतुसें ॥
यदि द्वैत होता होत हठभी, द्वैत नाहिं अद्वैतमें ।
जितनें होत हैं हठ जगत्में, सत्यभ्रमसें द्वैतमें ॥
नहिं ठीक है अद्वैतपक्षहुं, निपुणके यह कब रहा ।
सापेक्षहीं हैं शब्द सब इक, वोधलग श्रुतिनें कहा ॥
नहिं तीन गुणमें राग है, नहिं द्वेष गीता कहत हैं ।
प्रारब्ध जैसे राखती, तैसेंहि सुखसें रहत हैं ॥
जो होत है कतहूं कभी कछु, गुणहिं वर्त्तत हैं सदा ।
इम समझ ज्ञानी उदासीनहिं, रहत हैं सुख सर्वदा ॥
चुम्बकयोगसें अयस्में जिम, क्रियाशक्ति विराजती ।
त्योंहि चेतनयोग गुणनमें, शक्ति जगकी भ्राजती ॥
इम करें मिथ्या गुण सर्वदा, क्रिया मिथ्याकों सही ।
अभिमानसें जो मूढ निजकों, लखे कर्त्ता मति वही ॥
अमृत कथन यहभी कथनहीं, मात्र है सच यह रहा ।
कर्त्ता कर्म फल कहां लखिये, इमहिं श्रुतिगीता कहा ५५

छंदः ।

मनसें परभी मनसेंभी जो, दिस्ते हैं हमहीं तो हैं ।
विश्वमांहिंभी रहें विश्वसें, खिस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
रजकों ले अज रचें विश्वकों, विष्णु सत्त्वसें भरें अचल ।
तमकों ले संहार करत हर, लस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
पञ्चभूत रवि चन्द्र आत्मा, सकल विश्वके कारण हैं ।
सब जगका जीवन जल मेघ, बरस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
शक्ति असुर संहारे बहुते, चण्डीआदिक रूप बहुत ।

गणप प्रथम पूजनसें वन्धन, नस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
मार वराह हिरण्यअक्षकों, भू लाके अजकों दीनी ।
भूपर कोई उजरे कोई, वस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
हिरणकशिपुकों मार तात तिहिं, पाला हरि नरसिंह वने ।
वलि छलवेकों वडे ठनगके, रस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
परशुरामसें पापी सदा, तरस्ते हैं हमहीं तो हैं ।
रामचन्द्रनें सागरपुलकों, वांध रावणहिं धाम दिया ॥
कृष्णचन्द्र वलदेव सहजहीं, सकल विश्वकी पीडा हर ।
हैं कैसे सवकेहीं मनकों, डस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
व्यासदेव कर वेदविभागहिं, ब्रह्ममीमांसा करा सहज ।
भारतआदिक देखनसें सुख, सस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
श्रवणादिक करते हैं विरले, ज्ञानलाभसें मुक्त भए ।
बहुत विषयरस-बांधे जगमें, फस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
बहुत धर्मसें स्वर्गलोककों, जाते हैं सुख भोग रहे ।
बहुत पाप करके नरकोंमें, धस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
बहुत झसाते पांउं पडे हैं, मखमलकी शय्याऊपर ।
बहुत दीन हो प्रतिदिन डरसें, झस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
कोई करें सुकर्म सुयशकों, उभयलोंकमें पाते हैं ।
कोई करें कुकर्म नरक लख, हस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥
जो है भयो होगा हमहीं है, अमृत विन है कवन कहां ।
जो हों ज्ञान अविद्यासें पर, मस्ते हैं हमहीं तो हैं ॥ ५६ ॥
सकलरूप हैं हमहीं रूप न, धरते ऐसे हमहीं है ।
हैं अद्वैत द्वैत हैं सब कछु, धरते ऐसे हमहीं हैं ॥
रचे विश्वकों ब्रह्मा होके, हरि होके हमहीं पालें ।
शिव होके संहारें सदा, अकर्त्ते ऐसे हमहीं हैं ॥
रवि हो करें प्रकाश प्रकाश न, हममें अल्पहुं रहता है ।
तम हो आवरणे हमसें तम, डरते ऐसे हमहीं हैं ॥

हो न विकार सदा अविकारी, पञ्चभूत होकेभी हम।
परिणामी हो सकल विश्व वि-स्तरते ऐसे हमहीं हैं॥
जीव बने कर कर्म रचें जग, जीवभाव नहिं निकट रहे।
शीत न राखें शशि हो सबकों, भरते ऐसे हमहीं हैं॥
कहां उष्णता हममें होके, आग सकलकों पचते हैं।
षड्विकारसें रहित जनमते, मरते ऐसे हमहीं हैं॥
शिष्य बने हैं हमहीं हममें, जिज्ञासाका नाम नहीं।
जानें नहिं उपदेश कवन उ-द्धरते ऐसे हमहीं हैं॥
कछु नहिं करें न सुख दुख कोई, पुण्यकर्मसें स्वर्ग पडे।
पापकर्मसें नरकोंमें जा, जरते ऐसे हमहीं हैं॥
सत्त्व न अल्पहुँ देव बने हम, रज न असुरहुं बन बैठे।
तम नहिं रखें नाम सुन सबहीं, डरते ऐसे हमहीं हैं॥
सदा एकले धनी बने हम, चाकर एक न हैं राजा।
दाग न लगे एक इन्धन हो, बरते ऐसे हमहीं हैं॥
मैत्री कहां एकलेही हैं, मित्र बने गिरिधरके हम।
द्वेषक्रोध नहिं निकट बहुतसें, लरते ऐसे हमही हैं॥
नहिं नरत्व नरहीं बन बैठे, योषित् बने न है तनुहीं।
दूसर नहिं को दिखे बहुतहीं, फरते ऐसे हमहीं हैं॥
इन्द्रिय एक न सुनें लखेंभी, हाथ न देते लेते हैं।
पदन सवारी एक विश्वमें, चरते ऐसे हमहीं हैं॥
सुने जात हैं हमहीं जहिं तहिं, श्रवणवचनसें परे सदा।
नेत्रोंका हो विषय दृष्टि नहिं, परते ऐसे हमहीं हैं॥
अक्षर पढे न एक वेदका, अर्थ कहें संपूरणहीं।
मेल न रखें कहीं सबके अनु-सरते ऐसे हमहीं हैं॥
धर्म न राखें एक कबहुँभी, पावनता किसकों कहते।
तीर्थ होके सब पापनकों, हरते ऐसे हमहीं हैं॥
भोगन तनु नहिं रखें सकल, भोगनकों हमहीं भोग रहे।

बुडे न कबहूं अमृत गुरुसें, तरते ऐसे हमहीं हैं ॥ ५७ ॥

हरिगीतछंदः ।

सो देव है जो बुद्धिसाक्षी, बुद्धिके धर्मन लखे ।
जो बुद्धिकों नहिं जानता सो, देव नहिं होता सखे ॥
जो शक्ति मनकों मननकी, देता न मनमें आत है ।
वक्तव्यताकों देत वाणी-कों न कथया जात है ॥
सबकरणकों दे करणताकों, होन करणविषय कहीं ।
है देव सो जो चित्त आवे, देव सो होता नहीं ॥
इस देवकी पूजा न लखना, इसविना कछुभी कभी ।
सब जग विवर्त्त भया इसीका, दिखत जो चित्तही सभी ॥
जिम रज्जुरूपहिं सर्पआदि, विवर्त्त तिम चित्रूपे जग ।
जो दिखत सुनियत मन विषय है, यही चित् है प्राणिअग॥
चित्हीं सकलका रूप निज, भ्रमसें अवर बनजात है ।
है भ्रमप्रभाव सदा भ्रमें है, विश्राम कतहुँ न पात है ॥
अमृत न गिरिधरकृपा विन यह, भ्रम सहज मिटजात है ।
जिसको मिली यह ईशता सो, गुरुहिंसें ध्रुव पात है॥५८॥
यह देव सागर उमा हरि हर, गणप रवि बहु लहर हैं ।
जिसमें निकसहीं लीन जो, सबकेहिं भीतर बाहिर हैं ॥
इसकोहिं समझें रूप निज, हरि गणप हर सर्वज्ञ जे ।
भगवत् कहा हम व्यक्त नहिं, समझें व्यक्तकों अज्ञ जे ॥
इसके विवर्त्तहिं रूप निज, लखते अविद्यामद भरे ।
दिखतेहिं जीतेहैं सहजहीं, रोगतृष्णासें मरे ॥
जो आपको भूले न चाहे, बहुर निज पहचानना ।
हैं भला मूर्ख तिहिं सरिसकों, पक्ष हठ तज मानना ॥
अपनी खबर नहिं कवन है, हम ईशकों खोजत फिरें ।
है ईश लक्ष्यस्वरूप यांका, गुरु विना किम भ्रम टरें ॥
अमृत तजे गुरु जगत्के, श्रुतिकथित गुरुदरमें पडे ।

तेही बने थे सहज ते, सकल तम भवदुख दरे ॥ ५९ ॥
जो अन्य ध्रुव निजकों समझता, अन्यथा अविवेकसें ।
वो कोन बोया पाप तिसने, जल अविद्यासें कसें ॥
चाहे सदा यह निज विवर्त्तेहिं, यही अघ दुखरूप है ।
द्वेषादि जनती सहजहीं यह, असुरसंपत्-भूप है ॥
आसुरीहीं अघहेतु है इम, वेद बुध नित कहत हैं ।
अविवेकके होते सर्वथा, कवन निर्मल रहत हैं ॥
प्राकृतपुरुषका संग जौलौं, हो विवेक न मानले ।
वैकुण्ठलौं चाहे सकल, प्राकृतहिं हैं पहचानले ॥
जग स्वप्नसम मिथ्याहिं दीखे, हम सदा सत्एकहीं ।
हममें न फुरणा भया अल्पहुँ, कहत यांहिं विवेकहीं ॥
यह मिले है सत्संगसेंहीं, सन्त कहतेहैं उसे ।
जिसकों न विन इक आपके, कबहूं तनिक कतहूं दिसे ॥
अब छांड प्राकृतकी बडाई, भला इनकी दृष्टि क्या ।
है भेदकीही चाल इनमें, समझ क्युं इनमें धसा ॥
प्राकृतसंगसें राज होवे-भी सदा कंगाल है ।
विद्वानसंग कुपीनभी नहिं, मिले सब जगपाल है ॥
प्राकृतसंगहीं दीन करता, है अनात्मका सदा ।
इस दीनतामें सुख कहां, किसकों मिलाभी है कदा ॥
सत्संग नाशे दीनताको, स्वामिता जो थी करे ।
दृढ हो अविद्या नाश कर, दुखत्रिविधकों सहजे दरे ॥
अमृत समझ इमभी न कर, विश्वास हमरे वचनपर ।
सत्संग नहिं करता भला फिर, तांहिं समको शठ अवर ६०

छंदः ।

अबकी नहिं कछु बात देखले, वीते जन्म कई ।
क्या जानें क्या मंदभाग्य है, कैसी कुमति भई ॥
तनुमें हैं दो वस्तु बुद्ध श्रुति, अनुभवबात न नई ।

एक चिवर्त्त शरीर तीन दुख, एक ब्रह्म सुखमई ॥
कैसे जागे भाग तिहारे, कुमति दशोदिश छई ।
मान विवर्त्तहिं रूप आपना, कठिनतापकी ठई ॥
मृषा त्रिगुण दुखकीही तोकों, इक भावे भक्तई ।
ब्रह्म विना है ईश कवन रे, कहां बुद्धि तव गई ॥
भिन्न कहें जे ईश ब्रह्मसें, झूठ सकल वत कई ।
वञ्चित हैं ते अथवा इनके, रहती एक ठगई ॥
ब्रह्म न मानोरूप आपनो, जिसमें श्रुति हठतई ।
है कुसंगनें वडे पढाए, जगी वहुत कठिनई ॥
कहें मूढ जव ब्रह्मदास तुम, तव होती हुलसई ।
है कछु मनमें इन्द्रियचर्चा, जासों प्रभुता हुई ॥
जव हम भाखें ब्रह्मरूप तुम, तव होती खुनसई ।
सूझत नांहिं अन्ध भयो हो, नृपहिं रङ्कगति दई ॥
झूठी साच साच सव झूठी, तोहि रतौंधी अई ।
वेदकथित निजप्रभुता तजके, प्यारी लगी निचई ॥
ब्रह्म न क्या तनुमांहिं तांहिं तज, देहअहंता लई ।
राजा जिम हो रङ्क स्वप्नमें, भ्रमसें निजमति तई ॥
अमृत कठिन कुसंगतिकोंही, वुधजन कहते क्षई ।
जिसनें तजी अशेष मैलहीं, तजी अविद्या जई ॥ ६१ ॥
वल वल गिरिधर–पदरज कैसे, सुखसें आयु वितातेहम् ।
है कछु बात अनोखी अब तो, आप आपमें रातेहम् ॥
कबहुं दुशाला कवहुं नग्नहीं, कवहुं सुधारस भोजन है ।
हो उपवास कवहुं पर सवमें, परानन्दहीं भातेहम् ॥
कवहूं शय्या मखमलकीपर, कवहूं रजमैली ऊपर ।
शयन करें हैं सदा एकरस, दुख न कछु न हर्षातेहम् ॥
कवहूँ पदार्थ सकल जगत्के, विना वुलाए पांउं पडें ।
कवहूं मिले न पानीभी पर, हमको एक सुहातेहम् ॥

कबहूं राजा बडे पूज्यभी, ईश्वरसम पूजें हमकों ।
कतहुँ देत धिक्कार कुमानी, सुखदुखको नहिं पातेहम् ॥
कबहुँ पालकी हाथिनमेंभी, चढ़चढ विचरें बागनमें ।
कबहुँ पाद नहिं चलें पादहूं, सदा आप रसमातेहम् ॥
कबहुँ भूपवर पाद चांपते, कहें देहभृत दूर रहो ।
हम असंग हैं सदा एकरस, हर्ष शोक नहिं लातेहम् ॥
कबहूं उत्तम भोग जगत्के, विना बात आ मिलते हैं ।
कबहूं बन्धक रोक देत नहिं, रागद्वेष उपजातेहम् ॥
कबहुँ बडाई करें पुण्यजन, कबहुं निरादर करें बहुत ।
हमरी माया जगत् रचाया, नहिं मद क्रोध बनातेहम् ॥
हमहुं रोगसें पडे रहत हैं, कबहुं अरोग जपें प्रणवहिं ।
है कछु बात अलौकिक ऐसी, युगलमांहिं नहिं आतेहम् ॥
चौदहिंके हों लोक सैंकडे, अथवा रहे न इक बाकी ।
हैं केवलहीं लाभ कवन हैं, नहिं अल्पहुं घबरातेहम् ॥
होहुँ बडाइ सकल जगत्में, अथवा निन्दा संमुखभी ।
हो असंगको मोद कहां कब, अल्पहुं नहिं शरमातेहम् ॥
वर्त्तमानमें जो हो सो हो, माया नहीं विवेक कहां ।
पुण्य पाप कहते हैं किसकों, अल्प न मदन लजातेहम् ॥
देनेवाला देताही है, संप्रदान नहिं बनते हैं ।
श्रद्धाअनुगुण फलकों देवें, कबहुं बने नहिं दातेहम् ॥
विनजिव्हाके बोलरहे हैं, पादविनाहीं गमन करें ।
विन नयननहीं देखरहे हैं, आननविनही खातेहम् ॥
हम नहिं कछुभी बने कभीभी, ऐसारूप हमारा है ।
परके मनमें जो कछु आवे, वैसेही बनजातेहम् ॥
यदि होता दूसरभी कोई, लख हमभी इम करतेहीं ।
अमृत अब तो आप अपनमें, आपेहीं हुलसातेहम् ॥६२॥

हरिगीतछंदः ।

क्या धोत है मलमल चर्मकों, रहेगा यह चर्महीं ।
नहिं शुद्धिकी है खबर अन्धे, भए करते कर्महीं ॥
है अस्मिताहिं अशुद्धि जबलग, यह नहीं मिटजात है ।
तबलग न होवे शुद्ध लखले, वेदभी इम गात है ॥
हो अस्मितासें कर्म त्रयविध, कर्महीं मल है सही ।
होते कर्मके हो न कबहूं, शुद्ध बुध साची कही ॥
यद्यपि कर्म परंपरासें, करत हैं ध्रुव शुद्धिको ।
तौभी विदित हैं जबतलक यह, करत रहत अशुद्धिकों ॥
होवे न कोई कर्म त्रिपुटी-भान बिन ध्रुव देखले ।
है भेददृष्टि शुद्धि दुखभी, बुधजनोंसें पेखले ॥
इस निर्विकल्पसमाधिमेंभी, चित्तसत्ता रहत है ।
जहिं चित्त है तहिं है अशुद्धिहिं, चित्तसें मल बहत है ॥
जबलग न होवे बुद्धिपर तब-लग न शुद्धि दिपे कभी ।
जब आ पडेगा सन्तदरमें, समझ आवेगी तभी ॥
अब छांड झगडा कर्मका, तज संग प्राकृतका सदा ।
क्यूं बेसमझ दुखमें धसा, तुम मोद सचित् सर्वदा ॥
रचती कर्मको अस्मिता, यांकों अविद्याहीं रचे ।
जौलौं अविद्या जात नहिं, तौलौं दुखी दुखमें पचे ॥
सो ज्ञान बिन नहिं जात कबहूं, देखले निगमांतमें ।
सो मिलत नहिं बिन सन्तसेवा, मानले मनमें अचल ॥
अमृत सदा कर सन्तसेवा, सन्त साचे हैं वही ।
जिनके अविद्या यह न वह, मैं तूं न दिखनेकों रही ॥६३॥

छंदः ।

मलहीं जनक विधारक मलहीं, मलहीमें है बई ।
संगज मल क्या मलहीं काया, कबहुं न शुद्ध भई ॥
गङ्गा न्हाती यमुना न्हाती, सकल तीर्थन गई ।

वहु प्रतिमाका स्पर्शहुँ कीना, वहुत तपनसें तई ॥
गङ्गाजल वहु पान कराए, वहुत प्रदक्षिण दई ।
यज्ञशिष्टभी वहुत खुलाए, रही वही चमडई ॥
यांको क्या मल मल धोता है, कवन कुसंगति छई ।
क्यूं वहु आग्रह करता इसमें, बुद्धि अविद्या हई ॥
गङ्गादिक सव मनके शोधक, समझ न कर कठिनई ।
चित्तशुद्धिका चिन्ह यही है, मलिन वासना खई ॥
मलही है तनुकीहुँ वासना, कहते वेद न नई ।
अमृत तज अभिमान सकलका, पड सन्तन शरणई ॥६४॥

हरिगीतछंदः।

ध्रुव है अविद्या चतुःपर्वा, देहमें निजकी मती ।
अस्थायिमें नित्यत्वमति, अपवित्रमें शुचिता गती ॥
दुखमें रहे सुखवुद्धि यह सव, वपु अविद्या जानियें ।
यह अस्मितादिक चारका है, मूल दृढ पहचानियें ॥
अविवेकमेंहीं रहत हैं अविवेक यांका हेतु है ।
दृढ जानले शठमें यही दृढ, शठपनेका केतु है ॥
शठ देहकों निजरूप लख, तनु कर्मका अभिमानि हो ।
मैं तूं अविद्याकों भरे, ममता करे अतिमानि हो ॥
इम सामका कर पान पावेंगे, अमर पदकों सही ।
यह नित्यवुद्धि अनित्यमें, अविवेकसेंहीं होरही ॥
इस देहका है बीज वीर्य, ठौर गर्भाशय वना ।
हैं खंभ यांके अस्थि आदिक, सहज यह इनसें तना ॥
झरनें सदा मलकोंहिं झारें, मेरेकों न स्पर्शते ।
यदि देह शुचि शुचिता लिये, किम उदकआदिक स्पर्शते॥
इम है शरीर अशुचि सदा, अविवेकसें नहिं जानते ।
यांको पवित्र करा चहें शठ, कठिन आग्रह ठानते ॥
आग्रह करें अपनी अविद्या, सिद्ध विज्ञानमें करें ।

इनके कुसंगहीं त्यागदे, यह इक अविद्याकों भरें ॥
मत करे इनमें इष्टमति यह, इक अनिष्टहिं देत हैं ।
करके सदाहीं दीनताकों, स्वामिता हर लेत हैं ॥
सब विषयसुख हैं रजोगुणहीं, रजहीं दुखका रूप है ।
है तापकाही रूप यह सब, हेतुकाहिं स्वरूप है ॥
अमृत अविद्या तजी जिसने, राख श्रद्धा वचनपर ॥
तिसकाहिं स्वात्मरूप लखते, उमा रवि हरि गणप हर ६५
वेद पुराण सकल सज्जनमें, सिद्ध तनिक नहिं गोई ।
रज्जुसर्प सम सच है तोमें, संग न साचा कोई ॥
करे संग क्या सदा असंगहिं, हैभी मिथ्या सोइ ।
सीसछेदसें स्वप्नमांहिं मति, मृषा मृषाहीं रोई ॥
तजो संग यहहीं दुखदायक, मायाकार्य दोई ।
फिर देखो क्या प्रकट होइगी, मृषारहित निज लोई ॥
ममताहंता विन नहिं दीखे, रङ्क जगतमें कोई ।
तुमने समझ संग इनकेसें, व्यर्थ खुदाई खोई ॥
मायासंग तलक इनकाभी, संगहुं सहजे होई ।
अमृत माया बीज विश्वका, यानें विश्व विगोई ॥ ६६ ॥

हरिगीतछंदः ।

समझभानुसें जगत्कर्त्ता, है रहो अब क्या कहें ।
निकसे समझके विन्दु हम तुम, जगत् सब फिर क्या चहें ॥
हममें गई जब मैं फटी फिर, कब जुदा तिनसें रहे ।
मैंनेंहिं डोबी ईशता है, मन्द इससें सुख चहे ॥
मैं होत नहिं बिन अवर बननेके कभी पहचानले ।
सापेक्षही हैं शब्द सब अब, समझले कछु मानले ॥
इम ब्रह्म मैं हूं यह शब्दभी, सन्तके दरबारमें ।
जागे कहां अभिप्राय श्रुतिका, है सदा सुविचारमें ॥
पद सन्तका बिन मौनके है, मौनहीं दृढ जानले ।

जब शब्द कछु जागे अविद्या, है सही सच ठानले ॥
अमृत हमारा पद वही, कोई जहां आता नहीं।
हम आप निजमें रम रहे, दूजा हमें भाता नहीं ॥ ६७ ॥

छंदः।

दूजा कर्त्ता कवन जगत्में, यहहीं मिथ्या भरती है।
जो कछु होता दीखे सुनियें, मैंहीं सब कछु करती है ॥
मैंने ब्रह्मा सृष्टि लगाया, विष्णुहुं पालनमांहिं झुकाया।
हरमें लयका खेल जगाया, यहीं ईशता धरती है ॥
पण्डित मूर्ख यही बनावे, ज्ञानी अज्ञानी दरसावे।
गुरु चेला यहहीं बन आवे, यही तारती तरती है ॥
यही काम हो कर्म करावे, ध्यानीमें यह ध्यान लगावे।
स्वर्गनरकलोकन लेजावे, यही सर्व फल फरती है ॥
इसनेंहीं यह जीव बनाया, वर्णाश्रमझगडा मचवाया।
बहुतोंका है सीस मुंडाया, सकल ठौर यह अरती है ॥
इसनेंहीं मत बहुत चलाए, निजानन्दसें पकर भुलाए।
आपसमें सब शत्रु बनाए, यही झगरती लरती है ॥
कहुँ माला पहरे आती है, कहुँ तिलक लगाइ उचाती है।
कहुँ घण्टे धूम मचाती है, कहुँ वांगे देत झगरती है ॥
आचार्य हो कतहुँ सुहावे, हो अवधूत मस्त होजावे।
कतहुँ जगतमें पकड धसावे, ठगनी जग अनुसरती है ॥
बालककों यह दूध पिलावे, युवा भई विषयनकों धावे।
वृद्ध भई बहु तृषा वढावे, विगडे यही सुधरती है ॥
यही भानु हो जग उजयारे, यही चन्द्र हो पुष्टिहिं धारे।
यही भूत ग्रह सगरे तारे, बसती यही उजरती है ॥
यही इन्द्र अज बनी सुहावे, यही असुर सुर नर बन आवे।
रच विराटकों यही दिखावे, जगसें कबहुँ न टरती है ॥
मात तात सुत योपित भाई, नाम रूप जहिंलौं दरसाई।

सो सब यहमेंहीं बन आई, यही जन्मती मरती है ॥
निकसी जब मैं यही बनावट, ज्यूंकीत्यूंहीं रही सचावट ।
अमृतकीहीं सहज खिलावट, माति बैठी न उछरती है ६८
जहां नहीं है कथा कवन है, तनुसेंभी बहु भाते हैं ।
बालक सर्पहिं पकड खिलावें, मैंसेंहीं दुख पाते हैं ॥
ब्राह्मण ब्रह्मकर्मनें मारा, क्षत्रिय राजसधर्म उजारा ।
विट् वाणिज्यकर्मसें हारा, शूद्र सेव बहजाते हैं ॥
बह्मचारी विद्यामें भूला, गृही तापके झूलन झूला ।
वानप्रस्थके तपदुख-फूला, यती त्यागमद्-माते हैं ॥
मैनेंहीं दुखखेल रचाया, सब जग ममतामांहिं झुकाया ।
मेरी मेरी कर घबराया, सदा दुखनसें नाते हैं ॥
मैंनेहीं जग मृषा बनाया, जगआश्रय आपा विसराया ।
झूठाहीं व्यवहार रचाया, जम तमरत मुर्छाते हैं ॥
मैने बहुते सिर कटवाए, मैंनेहीं बहु मार सुकाए ।
सदा त्रिगुणहीं ताप जगाए, सुख न मिले घबराते हैं ॥
मैंविन दुखदाता नहिं कोई, मैंनेहीं सुखबात विगोई ।
मूलसहित जिसने मैं खोई, अमृत सुख बरसाते हैं ॥६९॥

हरिगीतछंदः ।

जीता मरे जो सन्तमतमें, वही जीता है सही ।
जीता रहा मुरदा पडा है, कालवशाता लग रही ॥
है जीवना मैंकाहिं जाना, मरणभी कहते इसे ।
जब मैं गई पद अमर पाया, धर्मके कागज खिसे ॥
असि मारता है काल सिरसें, रहनसें गलमें सदा ।
फिर कहे मैं जीता रहा, यह बात झूठी सर्वदा ॥
जब मैं गई गल है नहीं, तलवारका आत्मा भए ।
गलके विना अब अपनमें, बड असीके सब बल गए ॥
अब काट इस मैंको समझ जा, क्यूं मरणधारा बहा ।

आ जा रहेगा अमरहीं यह, सन्तमार्ग वहरहा ॥
अव मानले कछु कहा, सन्तनका निरादर मत करे ।
अम्बर टरे कालहुं टरे, पर सन्तकहना नहिं टरे ॥
सेवा करो गुरु ज्ञान दे हैं, सब अविद्या नसेगी ।
ध्रुव मिटेगी सब द्वैत फिर यह, मैं न मनमें वसेगी ॥
फिर रहोगे इक शेष तुमहीं, ठौरमैं को है कहां ।
अमृत वही है ब्रह्म साचा, मैं रही है नहिं जहां ॥ ७० ॥
है जीव वह जीता मरेकों, करे आप असंगहीं ।
कर्त्ता अकर्त्ता वने नहिं, समझे सर्व निज अङ्गही ॥
है गृही वह निजरूपगृहमें, सदाहीं वासा करे ।
निजब्रह्मविद्याशक्तिसें सव, जन्मकी तपतें हरे ॥
वह ब्रह्मचारी जो निगम पढ, देखके निजरूपकों ।
विचरे सदा निजब्रह्ममें, नाशे असुरके भूपकों ॥
वानप्रस्थ वह निर्जन-सहज-निजरूपमें रहता सदा ।
होके समष्टिस्वरूप भेद न, भासता है सर्वदा ॥
है वही संन्यासी अविद्यालौं, जगत्भ्रम त्यागके ।
सबकों लखे निजरूपहीं, निजरूपमेंहीं जागके ॥
अमृत उसे ब्राह्मण कहो, ईश्वर कहो यतिभी कहो ।
जिसकों न दीखे रूप निज विन, चहे मगहामें रहो ॥७१॥

छंदः ।

कहें वेद वुध तौभी तो तुम, नांहिं झूठसें टरतेहो ।
है कछु अवर वातही कहिये, नाक मूंद क्या करतेहो ॥
प्राणयमनसें मन तनु होवे, साची तौभी कहिये तो ।
तुम असंग सच्चित्सुख मनसें, कवन न्यूनता भरतेहो ॥
मूढ रहो विक्षिप्त क्षिप्त या, मन एकाग्र निरुद्ध लयी ।
तुम असंगमें क्या यह कर है, तुम किहिं लग आचरतेहो ॥
प्राकृतसें मिल प्राकृतहीं तुम, भए वात सब विगरी है ।

बन्धन भयो न मुक्ति कबहुँ तुम, भला डूबते तरतेहो ॥
कहो झूठहीं बन्धनमें है, यह तो यह तो मुक्त भया ।
कवन बात अब जगी एकमें, भेददृष्टि विस्तरतेहो ॥
कहो मुक्त तुम अपनेकोहीं, अवरजगत् बन्धन मैं है ।
गई अविद्या कहां व्यर्थहीं, ऐसे आप उछरते हो ॥
अमृत तव गुरु कृष्ण धन्य है, धन्य वेदमग धन्य यही ।
कैसी दुर्लभ बातें करके, अमिट अविद्या हरतेहो ॥ ७२ ॥

हरिगीतछंदः ।

वैष्णव वही जो ध्येय व्यापक, रूपहीं बनजात है ।
है ध्यान साचा वही जो निज-ध्येयरूप बनात है ॥
गति कीट भृङ्ग प्रसिद्ध सब जग, ध्यान कहते हैं इसे ।
है साच वैष्णव वही हरि बिन, दिखत नहिं कछुभी जिसे।
मै तूं सकल जग हरिहिं है, हरि बिन न होगा है भया ॥
वैष्णव सकल जग आपहींमें, आपहीं राखे दया ।
कछु तिलक माल न करें वैष्णव, जगत्का वैष्णव बना ॥
यह राख या नहिं राख लखले, विष्णुकों सबमें तना ।
वैष्णव कहेंगे साच फिर हमभी, शपथ करके कहें ॥
ते ठगे हैं ध्रुव मूढ जे इक, तिलकसें हरिपद चहें ।
हरिपद मिले है कब सहज बिन, सिरकटे मिलता नहीं ।
नहिं दीखता है विश्व सबमें, अस्मिता विन सिर कहीं ॥
अमृत विष्णुके ध्यानसें हो, विष्णुभागी अस्मिता ।
तिनका स्वरूप परेशहीं है, मुक्तिकी फैली लता ॥ ७३ ॥

छंदः ।

क्या नहिं उदर भरा है अबलौं, नाच बहुत आचरतेहो ।
किसकी बात अनोखी है अब, आंख मूंद क्या करतेहो ॥
तुम चेतन सत् सुख जगस्वामी, प्रेरक सबके तुमहीं तो ।
ध्यानविषय है मायामात्रहिं, क्यूं मिथ्यामें पडतेहो ॥

मनका गमन रहे मायालौं, बहिर कहां कब जाता है ।
तोमें कल्पितहीं जग माया, क्यूं सत् समझ पकरतेहो ॥
जगत स्वप्नसम भयो न कबहूं, नित्यमुक्त हमहीं तुमहीं ।
किसका ध्यान करो किसके हित, किसकों अब उद्धरतेहो ॥
तज कुसंग मायाका कल्पित, अमृत तुम सब संग परे ।
कहा मानलो तनिक व्यर्थहीं, इत उत भटकत मरतेहो ७४

हरिगीतछंदः ।

जगसें सकल है बात उलटी, विज्ञकी बुध कहत हैं ।
इनकी क्रिया सब लोकसें, उलटीहिं सुखसें रहत हैं ॥
हम वसत हैं उस ठौरमें जहिं, ठौर ठौर न पात है ।
नहिं देखता है किसीकों, कोई नहीं दरसात है ।
हमरा नगर है वही नहिं नहिं, नारि पुरुष न दिगरहै ।
नहिं दिवस है नहिं रात है, नहिं मैं न तूंकी रग रहै ॥
विद्या नहीं नहिं है अविद्या, अज्ञ है नहिं बुद्ध है ।
नहिं एक है नहिं द्वैत है, नहिं मलिन है नहिं शुद्ध है ॥
जग रात हमरा दिवस है, है दिवस तिसका रातहीं ।
इन्द्रिय विना हमहीं लखें, सब है अलौकिक बातहीं ॥
अमृत हमारे सरिसहीं, हमकों लखे है ध्रुव सही ।
वह कब हमें लख सकत है, जांके तनिकभी मति रही ७५

छंदः ।

जगउपदेशक तेरे पाले, कबके मार झुकाए हम् ।
सबकों भक्षण कर बैठे हैं, आप अपनमें छाए हम् ॥
माया जग सब कल्पित हममें, रज्जुभुजङ्गसमान भया ।
सबमें सत्त्व प्रकाशरूप हैं, सबकोंहीं अतिभाए हम् ॥
मूढ ढूंडते फिरें बहिरहीं, अवर नामसें हमकोंही ।
भीतरकी कछु खबर न राखें, कैसे हैं बिसराए हम् ॥
कहूं विष्णु हो कहूं शम्भु हो, कहूं गणप सुभानु उमा हो।

कहूं भूप हो उपदेशक हो, सबके पूज्य सुहाए हम् ॥
स्मृति पुराण शास्त्र सब मिलके, हमहीमें चरितार्थ हैं ।
वेदोंमें अक्षर अक्षरमें, सदा एकहीं गाए हम् ॥
अमृत यद्यपि बडे बडेभी, पण्डित बहुदिन खोज थके ।
भला कहांकी बात खोजमें, किसके कब हैं आए हम् ॥७६॥
अनहोनीका होनाहीं इक, यांकों बहुत सुहाया ।
अवर न एको कल्पक कल्पे, आप आपकों माया ॥
है विरोधहीं भूषण यांका, वेदलोकमें सिद्ध सही ।
परिणामीके सम स्वभावहीं, कार्यका श्रुति गाया ॥
मायाकार्य मृषा लखे सब, माया साची कब होगी ।
मिथ्या होत न बिन कल्पित इम, अघट सुघट अर्थाया ॥
यदि नहिं रुचि तो कहो जगत् यह, है विज्ञान क्षणिकहीं क्या ।
सत्य असत् वा उभयरूप वा, शून्य ईश-तनु भाया ॥
कहें युक्ति सब पुष्ट दीखतीं, परमतसें सब खण्डित हैं ।
बने न एको रूप जगत्का, माया वेद सुनाया ॥
इस झूठेमें आता है जो, कल्पित दुख ध्रुव पाता है ।
अमृत स्वप्न मृषानेंही ध्रुव, सबकों नाच नचाया ॥ ७७ ॥
कबहुँ कान कर तडफ रही है, श्रुति पर करले तनिक दया ।
आंख खोलके देख तनिक तो, दुखसें मिल क्यूं दुखहिं भया ॥
चक्रवर्त्तिभी कहलाते हो, पर जब पूछें तुमसें हम् ।
तब दुखकीहीं बात सुनाओ, सुखस्वरूप तब कहां गया ॥
योषित् दुखकी कबहुँ कहोहो, कबहुँ तात दुख गातेहो ।
कबहुँ प्रजादुख कबहुँ शत्रुदुख, कबहुँ कहो तनुरोग जया ॥
तुम सच्चित् सुख सब-जग-स्वामी, वेद तिहारा यश गावे ।
अब क्या भया कवन बलसें तुम, धारा मिथ्या रूप नया ॥
राजाआदिक बन बैठेहो, बहुत बनाए संबन्धी ।
स्वप्नेमें किम पडे भला अब, किसने यांका बीज बया ॥

माया बोवे बीज अहंता, मैं तूं जग सब स्वप्न है ।
महावाक्य सुन जगा वही जो, साचे गुरुकी शरण अया ॥
जिनपर हो गुरुकृपा कुपीन न, होवेभी सुख-मस्त फिरें ।
अमृत तिहिं विन सुरपतिभी हो, सदा त्रिविधदुख सहज
सया ॥ ७८ ॥

हमसें भिन्न साच यदि होता, फिर क्या नहिं आचरते हम् ।
जीतेहीं सब करते हैं यदि, जीते कछु तो करते हम् ॥
लखे दृष्टि अपनीसें यद्यपि, अविवेकी कर्त्ता हमकों ।
ऐसाहीं है रूप हमारा, कर्त्ताभी न अकर्त्ता हम् ॥
कोई निन्दा करें द्वेषसें, कोई पदरज चूम सुखी ।
जैसी मति तैसाहीं कार्य, हर्षशोक नहिं धरते हम् ॥
यद्यपि विश्वसकलकों हमहीं, भरते क्या भरतेहीं हैं ।
कहें कथा क्या बात अलौकिक, होता कछु तो भरते हम् ॥
हम अद्वैत न द्वैत अल्पभी, मृगजलका है तरणा क्या ।
जो डुबता है तरे तारबल, यदि डुबते तो तरते हम् ॥
जैसे अवर स्वप्नमें सबहीं, सहज फूलते फरते हम् ।
यदि हमकोंभी निन्द्रा आती, कबहुँ फूलते फरते हम् ॥
सुनके ऐसी बातेंभी ध्रुव, हम चुपकेही रहते हैं ।
है कछु ऐसी बात भला नहिं, कब कैसेभी टरते हम् ॥
थोडी थोडी बात लागहीं, सब जग लडता मरता है ।
एकबातहीं नहीं रही है, कैसे भला न लरते हम् ॥
जो होना सो होताहीं है, हठ न किसीमें हम करते ।
यदि अनहोनी कछुभी होती, किम नहिं भला उछरते हम् ॥
यदि होता कछु द्वैत भला फिर, कछु तो हमभी चहतेहीं ।
चाह हेतुसें करन पडे है, जगकेभी अनुसरते हम् ॥
मैंनें खाया मूर्ख है अल्पज्ञ, तुच्छ है अरता है ।
अमृतभी यदि ऐसे होते, कैसे भला न अरते हम् ॥ ७९ ॥

वैठो कछु तो पुरुष वनोभी, कहिलौं भला करोगे तुम् ।
लाखों करो उपाय समझके, संगतिविन न तरोगे तुम् ॥
जितने तरे तरत हैं तर हैं, कारण है सत्संगतिहीं ।
आप लखोगे कथा कवन जव, संतन शरण पडोगे तुम् ।
दुखनाशन लग वहु उपाय तुम, करे वहुतहीं जन्म गए ।
जौलौं श्रद्धासें न करोगे, संगतिदुख न हरोगे तुम् ॥
जौलौं हमरा कहा न मानो, साची साचीहीं कहते ।
तौलौं ऐसेहीं तो लखिये, व्यर्थहिं भटक भरोगे तुम् ॥
तौलौं कवहूं सुख अल्पहुँ नहिं, होवेगा यह साची है ।
जौलौं हमरी वात वेदहीं, मनमें नाहिं धरोगे तुम् ॥
अव अपनेकों न्यून मानते, है कुसंगफल ऐसाहीं ।
संगतिसें सवरूप वनोगे, ऐसे फूल फरोगे तुम् ॥
एकवार आके तो लखिये, संगतिमें सुख कैसा है ।
लखे विनाहीं टरते हो फिर, टारनसें न टरोगे तुम् ॥
संगप्रभाव वनोगे सवके, स्वामी श्रुतिभी पूजेगी ।
इतउतसें जैसे अव डरते, तैसे नांहिं डरोगे तुम् ॥
आप लखोगे लखो तनिक फिर, कैसी शीतलता आवे ।
पावकमांहिं परोगेभी फिर, कवहूं नांहिं जरोगे तुम् ॥
में ममतामें डूवे हैं अव, जहिं तहिं झगडे ठाने हैं ।
अमृत सन्त अविद्या नाशें, फिर इम नांहिं अरोगे तुम् ८०
जहरमहुरकी कृपा भई है, किमहूं कांहिं हरेंगे हम् ।
कैसी गुरुकी कृपा भई है, किम नहिं फूल फरेंगे हम् ॥
मायासेंहीं भेद होत है, भेदज्ञान विन चाह नहीं ।
चाह गई जव हरिगुरु विन अव, किसके पाद परेंगे हम् ॥
जगउपदेशक तेरी वातें, पहलेहीं मन धरते थे ।
अव हमरी है आंख अवरहीं, कैसे चित्त धरेंगे हम् ॥
पहले थी कछु वात अवरहीं कालादिकसें डरते थे ।

सो सब झगडा छूटगिया अब, कासों भला डरेंगे हम्॥
ममता अवर अहंताहीं सब, जगकों सहज जराती है।
अमृत यह सब होत द्वैतमें, कारण कवन जरेंगे हम्॥८१॥
अब तो पञ्चाननकोंभी दृढ, अजा प्रकृती सकल अई।
क्या कारण आ जगा तनिक लख, क्या थी क्या अब
बात भई॥
कहां असंग सत्य चित् इकहीं, कहां बन्ध दुख संग मरण।
तोरी माया तोहि भुलाया, कैसी उलटी बात छई॥
वेद पुराण सन्त पचहारे, तौभी समझ न आती है।
क्या कुसंगनें बात बिगारी, लखो अजाहीं बात नई॥
जिज्ञासाकी कथा कवनहै, ब्रह्मनाम सुन घबराते।
प्राकृतगुरुकी कृपा भईहै, त्रिविधतापसें बुद्धि तई॥
प्राकृतगुरु उपदेश करत हैं, मायामांहिं फसानेका।
इसमें हठ करके मति किसकी, मायासें हैं बहिर गई॥
तज कुसंग भज कृष्णसंग कर, अमृतहीं बन जावेगा।
माना जिसनें सन्त कहेकों, द्विविध अविद्या सहज जई ८२
क्या अनहोनी जगी देखले, कवन बात अब भाई है।
कान न करो तनिक तो सुनलो, कैसी रीति चलाई है॥
रहे एक अब द्वैत देखते, सुखहिं रहे दुख बन बैठे।
रहे असंग संगकों चाहो, कैसी मति बोराई है॥
मुक्तरूपहीं मुक्ति चहोहो, सुख इक आपहिं सुख चाहो।
सदा एक सम विषम बनोहो, कैसी कुमति सुहाई है॥
नहि विचार जहिं मायाबलहै, मायानाश विचार करे।
बिन सत्संग विचारहुँ अमृत, किसनें कब उपजाईहै॥८३॥
दयालागहीं कहें नहीं सुख, किसकों बरसावेगे हम्।
हमहींहैं सब वस्तु भला अब, किसके हित धावेंगे हम्॥
यदि होता कछु हमसें बाहर, हमभी उसकों चहतेही।

रूप लखा जब ऐसाहीं है, किसके दूर जावेंगे हम् ॥
छल होता है द्वैतबुद्धिसें, द्वैतीही बहकाते हैं ।
सदा असंग एकरस एकहिं, किसकों बहकावेंगे हम् ॥
अपना रूपहिं समझ किसीकों, कबहूं नहीं सताते हैं ।
करें दयाहीं सदा सहजहीं, किसकों नहि भावेंगे हम् ॥
हमभी मरे पडेथे जब तब, नानारूप दिखाते थे ।
अब जीते इक हमही हैं क्या, किसकों दरसावेंगे हम् ॥
कहते है कछु बिना समझहीं, ऐसीहीं कछु बातें हैं ।
अमृत एक असंग सकल वपु, मनमें किम लावेंगे हम् ॥८४॥

हरिगीतछंदः ।

इक बिन्दुसें सागर न दीखे, अंशमें सब जग सही ।
क्या देखना विद्वान्का नहिं, खेल लडकोंका वही ॥
है दृष्टि इनकी अगम अद्भुत, लोकपरतर जानियें ।
जिम जौहरीकी हीरकी, पहचानकी पहचानियें ॥
यह मिले कब किसको कहां, बिन संग इनहींके भला ।
जिम जौहरीके संग बिन है, कवन पत्थरमें खुला ॥
अतिकठिन अतिहिं दुरुह है, कछु सहज नहिं मिलजात है ।
इस दृष्टिकेहीं दानको जो, देत गुरुपद पात है ॥
यह दृष्टि नहिं हैं निकट जिनके, गुरु बने अभिमानसें ।
परकों बिगाडें आप बिगडें, झूठ अपनी बातसें ॥
अमृत निछावर होत है इस, दृष्टिपर सुखरूपपर ।
मिलती कहां हरिकृपा बिन, आनन्दही सब तापहर ॥८५॥
है बुद्धिसें पर ठौर पूजाकी, जहां हम रहत हैं ।
है राम साधन रामका, विज्ञजन सब कहत हैं ॥
हम पूजते हैं आप अपनेकों, सदा मस्ती भरे ।
बिन आपके नहिं देखना यह, पूजना सबसें परे ॥
सबकों समझ निजरूप सबपर; दया करनी सार है ।

अपराध पर मनमें न लाना, पूजना-सरदार है ॥
सबको सदा सुखदान, फसना अल्पभी कतहूं नहीं ।
है पूजना सिरमौर यह, अभिमान नहिं करना कहीं ॥
हम करतभी दीखें सदा, ध्रुव है अकर्त्तांहीं सही ।
मैंके विना नहिं बने कर्त्ता, युक्ति श्रुतिभी इम कही ॥
ध्रुव हैं अहंताऽऽभाससेंहीं, कर्म हमरे सर्वदा ।
अब हम अहंता किम करें, सब कर्म मनके हैं सदा ॥
जिनके अभेदाध्यास है, ते परवला सिरपर धरें ।
हमरे भई है हरिकृपा, अब हम अहंता किम करें ॥
जिनके अहंता उठगई, ते हैं परेश्वरहीं सही ।
हैं यही पूजनयोग्य सबके, वेदनें इमहीं कही ॥
रहना सदा निजरूपमेंहीं, मस्त अवर न देखना ।
है कहां माया जगमृषा, यह पूजना सिर पेषना ॥
अमृत हमारी सकल वातें, वेदही हैं कठिन हैं ।
वह समझता हैं बहुत जिसके, ब्रह्मकेहीं पठन हैं ॥ ८६ ॥

छंदः।

रहे राज किम भला भये जब, मन्द कृतघ्न अमात्य अनम्।
कहें भला क्या लज्जा आवे, वुद्धि वजीर वादशाह हम् ॥
है यह जड जडकोंहीं चाहे, हम इसपाछे भाग रहे ।
लुटी बाहशाही तबहींसें, मोहन छोडा दममें दम् ॥
हेतु विवेक न रहा एकहीं, विनश्रम मोहनमद पाया ।
हम अपनी क्या कहें जगत्के, छांइ गये सब आके गम् ॥
भेद अहंता करने लागे, यद्यपि सदा एकही हैं ।
तृष्णानेंभी आ वहकाए, रहा न वल असुरोंका कम् ॥
कहूं वडाई चाहमै लभी, जगी सर्पणी ममताभी ।
कहूं मांसके पुतले प्यारे, लागन लगे कुताप विषम्।
क्या क्या बातें जगीं कहें क्या, रहे वजीर वचनमेंही ।

फल कहते हो लज्जा तज सुख, देशदेश परताप विगम् ॥
जीव बनै अति दीन भए दृढ, धनके तनके जनकेभी ।
भूलगए निजब्रह्मपनेकों, रहे तापमें सुख लख रम्[1] ॥
सुनतेभी थे सकल शास्त्रकों, पढतेभी थे तौभी तो ।
उठा न पांउ मोहका अल्पहुँ, ऐसा कठिन गयाथा जम् ॥
अमृत गिरिधर-कृपाप्रवलसें, तम क्या जाने कहां गिया ।
मार वजीर मोहकों मारा, भए सहज सत् चित् सुख सम् ८७

हरिगीतछंदः ।

वक्ता नहीं जब क्या कहें, कहना झूठ सब बातका ।
यह बुद्धि क्या है साचहीं है, बीज दुखबरसातका ॥
है नीचसें उत्तम भली पर, जबतलक मति-भाव है ।
पहुंचे कहां मतिनाश निज, दरबारकाहिं स्वभाव है ॥
इन्द्रिय अहंतासें प्रवर्त्तें, जबतलक निजदेशमें ।
छूटा कहां है झूठ तबतक, फसा है बहु वेशमें ॥
हमभी वहींथे पडे जबसें, बुद्धिके निजकाजमें ।
डूबी तबहिंसें बादशाही, फसे ताप-समाजमें ॥
है फल यही इस काजका, लग कहे मन्दवजीरके ।
है रहा घर किसका भला क्या, मिला विन इक मीरके ॥
हरिकृपामहिमा को कहे, दीखे न प्रत्युपकारभी ।
अमृत विनाशी मति अविद्या, किये सुर सरदारभी ॥८८॥
जबलग हैं अविवेक सिद्ध है, तबहींतक यह भाती है ।
परघरके फोडनवारी यह, मतिहीं जीव बनाती है ॥
क्या जानें यह कवन बला है, कैसी इसकी बान भला ।
करें आप है सब कर्मनकों, हममेंहीं समझाती है ॥
स्वप्नमांहिं यह सूक्ष्म रहे हैं, जगनेमें यह स्थूल रहे ।
बने अविद्यारूप सुषुप्ती-मांहिं इसीसें आती है ॥

---

1 रमरहे ।

जनमे मरें यही है आपे, सकल कर्मफलकों भोगे ।
क्या बातें हैं इसकी लखिये, हमरेमांहिं मनातीहै ॥
यह हसती थी हसतेही थे, यह रोती थी हम् रोते थे ।
सहज स्वभाव हमारा इसका, साधक है श्रुति गाती है ॥
इसनेंहीं जग मृषा रचा है, मृषा पालती है आपे ।
आप फसे है इसमें झूठा, हमरा नाम लगाती है ॥
अमृत बहुत भुलाए इसनें, बहुतेहीं बहकाएभी ।
बलबल गिरिधर-कृपा प्रबल अब, कतहूं नहिं दरसाती है ८९
मायाहीं जब तजनयोग्य है, मायासेंहीं आते हैं ।
तीन भेद हैं मतिके तिनमें, तजनयोग्य बतलाते हैं ॥
इष्टनिरोधक दूर करनमें, शक्तिशून्यता मोह जने ।
यह तामस दुःख वर्त्तमानमें, इससें नरक बसाते हैं ॥
राग द्वेष मद हिंसा ईर्ष्या, काम क्रोध अभिमान तृषा ।
चोरी दम्भ झूठ वञ्चकता, वृद्ध निरादर खाते हैं ॥
लोकबडाई चाह आदि सब, राजस दुखहीं दान करें ।
ते दुख पा नरकोंमें जाते, जिनसें इनके नाते हैं ॥
चाह बडाई भ्रम है निश्चय, यदि होता इकमत जगमें ।
तब यह होती सबकों भाती, सो कबहूं नहिं पाते हैं ॥
रामादिककोंभी निन्दत बहु, चहें न यांको विज्ञ कभी ।
सदा स्वहित आचरें सदाहीं, सुखमय आयु विताते हैं ॥
जो इसमें आरूढ होत हैं, ईश्वरसेंभी विमुख रहें ।
इहां दुःखको भोग अन्तमें, नरकमांहिं मुर्छाते हैं ॥
अमृत तामस राजस मतिके, भेद नरकसें भाग गए ।
तेही प्रतिदिन सुखकों भोगें, सदा चित्त हुलसाते हैं ॥९०॥

हरिगीतछंदः ।

है ग्राह्य सात्त्विक भेद मतिके, प्रथम कर्म सकाम है ।
निष्कामकर्म विवेक जिज्ञा-सा भजन सुखधाम है ॥

संपत्तिषट् तामस सकल, राजस विपर्यय जानियें ।
विधिसेंहिं गुरुसेवन युगलफल-दायकहीं पहचानियें ॥
श्रवणादिकर निजब्रह्मका, विज्ञान दृढताकों लिये ।
जिसके वसें यह धर्म तिसने, सर्वकोंहीं सुख दिये ॥
अमृत धर्म यह त्रिविध मतिके, सन्तके नहिं होत हैं ।
अपने समझते सन्त नहिं, ते सन्तपनकों खोत हैं ॥ ९१ ॥
ऐसहिं तो तुम सन्तवेदकों, नहीं तनिकभी भातेहो ।
कछु तो समझो नरतनु है क्यूं, परघातोंमें आतेहो ॥
मनही रच जग फसे आपहीं, दुख पावे तव नाम नहीं ।
तुम क्यूं अपना मान सहजहीं, शोकमांहिं आजातेहो ॥
यांकों हो जब शोक साथहीं, तुमभी शोकी बन बैठो ।
हर्ष होत है यांकों तबहीं, तुमभी ध्रुव हर्षातेहो ॥
यह जब करते याद किसीकों, तबहीं तुमभी याद करो ।
किसी हेतुसें भूले जब यह, तुमभी तबहिं भुलातेहो ॥
जब यह भोगे भोग करो तुम, योग करे योगी बनते ।
रोगी हो रोगी बनजाते, सुखी बने मुसकातेहो ॥
कर्म करें कर्मी बन बैठो, ध्यान करे तुम ध्यातेहो ।
ज्ञानी हो ज्ञानी बनतेहो, भ्रमें निजहिं भरमातेहो ॥
बद्ध रहे जब बद्ध बनो तुम, मुक्त बनो जब मुक्त बने ।
चलो चले जब बैठे बैठो, खावे जब तुम खातेहो ॥
शयन करे जब शयन करोहो, जागे जब तुमभी जागो ।
बात करत जब बात करतहो, चुपहो तुमहुं चुपातेहो ॥
ब्राह्मण बने बनो ब्राह्मणहीं, क्षत्रिय हो क्षत्रिय बनते ।
वैश्य बने वैश्यहिं बन बैठो, शूद्र बने शुद्रातेहो ॥
ब्रह्मचारि हो ब्रह्मचारि तुम, बनो गृही जब गृही बने ।
वनी बने वनवासी बनते, यति हो यति कहलातेहो ॥
योषित बने बनो योषितहीं, पुरुष बनो जब पुरुष बने ।

वने नपुंसक तुमहुँ नपुंसक, क्या निजरूप छपातेहो ॥
तुम सच्चितसुख सदा एकरस, निर्गुण अक्रिय संगविना ।
द्वैतरहित अद्वैत सहजहीं, क्यूं परताप उठातेहो ॥
करे अवरहीं अपना माने, कारण है अविवेक सही ।
सो विवेकविन नसे न सो हरि, गुरुविन कवहुं न पातेहो ॥
हरिअभिमुखता सवसाधनफल, करी जिन्होंनें अमर भए।
तुमभी कर किम सहजेहीं नहिं, अमृत वने सुहालेहो॥९२॥
इनकी क्या है वात भला अव, इनसें कैसे कवन लरे ।
गुणभीतर है झगडा सगरा, सन्त सहज गुण तीन परे ॥
सन्त कहेहैं ब्रह्मरूपकों, ब्रह्म सदा निर्गुणहीं है ।
गुणी कहें जे दृष्टि नहीं है, परकी वात न चित्त धरे ॥
कल्पितधर्म रहे कल्पितमें, आप अकल्पितरूप सदा ।
साक्षीभी हो परनिमित्तसें, आप न अल्पहुँ कवहुँ करे ॥
नाम सन्तके सवहीं कल्पित, कल्पित भ्रमसें कल्पितहीं ।
रहें सदा यह सत्य एकरस, सूके कवहुँ न कवहुँ हरे ॥
परभ्रमसें आधार होत हैं, तथा अधिष्ठानहुँ वनते ।
तैसेहीं अनुमन्ता भर्त्ता, आप सकलसें सहज टरे ॥
कल्पितभी इनकी सत्तासें, सत्‌सा हो व्यवहारी हो ।
यहभी वाणी ऐसीहीं है, झूठ सकलकों सन्त तरे ॥
इनकी महिमा इनहीमें हैं, अवर कहां कव पहुँच सके ।
सर्प लखे क्या वात रज्जुकी, सत् होवे इन संग अरे ॥
अमृत है कछु वात अलौकिक, वडे पुण्यकाहीं फल है ।
इनकी कृपा होत है जिहिंपर, आग लगेभी नांहिं जरे ॥९३॥

हरिगीतछंदः ।

एकत्वमतिकों वुद्धि मतसें, वुद्धि दिखती है कहां ।
है सत्त्व उसकी ठौर वह, रहती अविद्या है जहां ॥
जव मति नहीं फिर जग कहां सव जगत् वुद्धि-विलास है ।

झगडा रहा अब कवन बाकी, कवनकी अब आस है ॥
जो होत है सबहीं भला, यह कथनभी झूठा सही ।
होना न होना नहीं है, इक देवहीं है श्रुति कही ॥
लडता रजतलग तबतलक, जबलग न सत्का ज्ञान है ।
है कवनकी अब चाह अमृत, कवनसें पहचान है ॥ ९४ ॥

छंदः ।

मिलनाहीं है कठिन खोजका, मिलनाहीं निस्तारा है ।
गुरुबिन आवे कवन भला यह, गव्हर-पन्थ हमरा है ॥
नहिं हम तनु मन इंद्रिय असुगन, द्विज नहिं शूद्र इतर-जाती ।
ब्रह्मचारि नहिं गृही वनीभी, यतिसें रूप निआरा है ॥
नहिं योगी नहिं जैन बोद्ध हम, चारवाक नहिं यूनानी ।
नहीं आर्य नहिं मुसलमानभी, सबसें सदा कनारा है ॥
चीनी नहिं इन्दुस्थानी, फारसि नहिं नहिं आरबभी ।
भूमिपतालस्वर्गके नाहीं, जहिंलौं सब-संसाराहै ॥
नहीं गगनसें अग्निसखासें, नहीं अनलजलपृथिवीसें ।
ब्रह्माकी रचनामें नाहीं, इमहीं वेद पुकारा है ॥
यद्यपि नेति नेति वच कहकह, चकित वेद नित गाते हैं ।
साक्षी अनुमन्ता भर्त्ताका, हमरे नहिं पतयारा है ॥
नहिं व्यापक अव्यापकभी हम, परे अविदितविदितसेंभी ।
ईश्वरजीवभेद नहिं हममें, रूप अतर्क्य अपारा है ॥
जिस जाने नहिं जाने हैं हम, नहिं जाने जिहिंहीं जाने ।
सुरनर बहुते ढूंडरहे हैं, किसनें रूप निहारा है ॥
अमृत प्राकृत क्या कहता हैं, बकनेदो हैं आंख कहां ।
मस्त रहे हैं खबर कहां है, कोई द्रष्य न प्यारा है ॥ ९५ ॥
पृथवीपरहीं पडे गगनकों, गहते हैं अस हमहीं हैं ।
सदा आगमें पडे रहे नहिं, दहते हैं अस हमही हैं ॥

जैसी मति प्राकृत वक्ता है, क्या जाने किसकों कहता ।
सीस कटेभी रहें अचल सब, सहते हैं अस हमहीं हैं ॥
लाखों गारी संमुख देवें, करें निरादर कितनाभी ।
हो समर्थ फिर बदलेको नहिं, चहते हैं अस हमही हैं ॥
लोकचतुर्दश बढें लाखलौं, अथवा रहे न एकोभी ।
हानि लाभ है किसकों समहीं, रहते हैं अस हमहीं हैं ॥
रलमिल कहें दिनान्ध भानु है, कहां होत यदि दिखताभी ।
ऐसी बातें सुनके कछु नहिं, कहते हैं अस हमहीं हैं ॥
सात सिन्धु मिलके हमकों दृढ, घेर वेगसें वहें सदा ।
अमृत है कछु बात भला नहिं, बहते हैं अस हमही हैं ९६
कहें भला क्या बात पाप यह, बने चित्तहीं महतेथे ।
यांकें संग फसेथे हमभी, आप अपनकों चहतेथे ॥
कारण था कछु अनिर्वचनहीं, मिथ्या कच्चा पडदा था ।
भिन्न समझतेथे ईश्वरकों, तिस पडदेमें रहते थे ॥
यद्यपि थे हम आपहिं तौभी, तिस पडदेमें आकेहीं ।
बहुत जन्म भटकतहीं बीते, तापनदीमें बहतेथे ॥
लगी चाह थी प्यारेकीहीं, सबसें नाता तोड सहज ।
खान पान सब भूल गयाथा, कृष्ण कृष्णहीं कहतेथे ॥
क्षुधा तृषा आतप अतिशीतहुं, मार निरादर निन्दाभी ।
जो जो दुख आता सुखसेंहीं, बिन श्रम सहजे सहतेथे ॥
कृपानाथ हरि पडदा नाशा, रहे शेष इक हमही तो ।
गई अस्मिता चाह रही नहिं, नहिं तजते नहिं गहतेथे ॥
अमृत अब सुख अचल भया अस, बहु दुखसेंभी नहिं डोलें ।
वह दिन थे पहलेहीं थोडी, बात लाग मन दहते थे ॥९७॥
कथन कवन है साच वही है, सुखस्वरूप सुखआगारा ।
मिलनाहीं है कठिन हमारा, पता सकल जगसें न्यारा ॥
प्राकृतकी है शक्ति भला क्या, गुरु बिन कितनों बल करले ।

वडो विरोचन मति अभिमानी, पकड अनात्मनें मारा ॥
सकल बुद्धिसें परे खोज है, वडे वडे मतिमानीभी ।
थकथकके प्रतिभूमिमांहिं रह, गए अवशहीं दोचारा ॥
कोई भूमें स्वर्गमहरमें, कोई जनतपमांहिं गिरा ।
वहुत गया तो ब्रह्मलोकलौं, आंख न सूझे किम पारा ॥
फैलाए हैं जाल वहुतहीं, मायानें क्या समझ पडे ।
प्राकृतकों क्या समझ भला जिहिं, प्राकृतहीं लागे प्यारा॥
खोजे प्राकृत वहुत जन्मलौं, सकल कर्मभी कर हारे ।
अमृत विनगुरुकृपा भला कव, कहां पता मिल है थारा ९८
यही रोकता पुरुषार्थसें, पाद् वांध चठलाता है ।
मूल जाल सव जाल अस्मिता, मायासेंहीं आता है ॥
इसने रचा शरीर जाति कुल, तात मात सुत योषितभी ।
लोकवडाई लोकचाहभी, इसमें सव फसजाता है ॥
इनसें छुटना कठिन छुटे तो, आगे वैठे मत वहुते ।
ऐसा पकड फसावें जिनसें, कवहुँ न छुटना पाता है ॥
पकड पढावें मूर्खकों इक, हमरा मतहीं साचा है ।
तेहीं मरके मुक्त होहिंगे, जिनका हमसें नाता है ॥
मूर्ख साची मान पहनके, वाना तिनका द्वेष गहे ।
इतरोंकों लख जले सहजहीं, निशदिन द्वेष बढाता है ॥
इनसे छुटे कदाचित् तौभी, ब्रह्मलोकलौं फसता है ।
सबजालोंसें मुक्त होत सो, जिसकों गिरिधर भाता है ॥
रचे अस्मिता ममता को इन, दो विन अवर न वन्धन है ।
इनकों तजा तजा दुख सगरा, अमृत बना सुहाता है ९९
तनिक लेत जो श्वास जगत्सें, उसकोंहीं खाते हैं हम् ।
जग गुरु सिरकों फोड मरेभी, जगमें कब आते हैं हम् ॥
यद्यपि हैं आधार सकलके, तौभी मायासें पर है ।
रहे एकरस कल्पितसें क्या, वदलेभी जाते हैं हम् ॥

रहें सदा सबकेहीं ढिगहीं, तौभी लाखों कोस परे ।
कितनी हो मति ऊंची गुरु विन, रूप न दरसाते हैं हम् ॥
हमरा मार्ग कठिन कठिन है, वडे वडेभी भूल गिरे ।
विन हरिकृपा भला कव किसकों, कैसेभी पाते हैं हम् ॥
भई कृपा सन्तनकी जिसपर, तिसकोंहीं हम प्यारे हैं ।
दाम चामके यार अल्प हैं, तिनकों कव भाते हैं हम् ॥
प्राकृतके हैं आंख कहां विन, समझवूझहीं वकता है ।
निज मस्तीमें मस्त रहें हैं, मनमें कव लाते हैं हम् ॥
जगविस्मारक गिरिधरजीकों, धन्यवादहीं देते हैं ।
है कछु अमल अलौकिक क्या अव, निजपदमें माते हैं हम् ॥
यद्यपि सव व्यवहार करतभी, दीखत हैं व्यवहारिनकों ।
है कछु विद्या ऐसी तिसमें, कवहूं नहीं समाते हम् ॥
है कछु वात अलौकिक अमृत, तिसहींकों यह सूझ पडे ।
जिसकी शुद्धवुद्धिमें वैठे, सुखकों वरसाते हैं हम् ॥ १०० ॥
भला कहांकी वात कहें क्या, तनिक नहीं शरमातेहो ।
तुम विन साचा अवर कवन है, क्यूं मिथ्यामें आतेहो ॥
मिथ्या वात विषय सव मिथ्या, मिथ्या करनेवारेभी ।
सुननेवारे सव हैं मिथ्या, क्यूं इनमें धसजातेहो ॥
तुमरी शक्ति अविद्यानेंही, यह सव मिथ्या सहज रचा ।
काज अविद्या मिथ्याही है, क्यूं नहिं दूर परातेहो ॥
दूरपराना मिथ्या लखना, नहिं आसक्ति कदाचित्भी ।
जो होता है सवहीं मिथ्या, समझ न क्यूं सुख पातेहो ॥
वाजीगरके रचे देव नर,-राक्षसमें क्या सत्ता है ।
जो तरङ्ग उठता है झूठा, समझ न क्यूं हुलसातेहो ॥
प्रारब्धपर फैंक देहकों, अमृत निजमें मस्त रहो ।
हानिलाभ है कहां कवनकों, क्यूं मिथ्या घवरातेहो ॥१०१

हरिगीतछंदः ।

इच्छा अनिच्छा पुनि परेच्छा, त्रिविध है प्रारब्ध जग ।
यह भोगनीही पडे है, इसमें नहीं कछु शक्ति मग ॥
इम वेद गीता कहत हैं, अनुभूतभी सबकों सही ।
अब देखले कछु समझले, अब बात बाकी क्या रही ॥
सब सिद्धि सिद्ध सुरेश पूजें, चरण जिनके सर्वदा ।
ते साथ जिनके धर्मसुतकी, रही क्या इकसम सदा ॥
इम समझके विश्वास करले, मानले धर चित्तमें ।
प्रारब्धकों कर देह अर्पण, मस्त रहिये नित्यमें ॥
जो होत है सब देहमेंहीं, देहसें तुम ध्रुव परे ।
लगती आग है पर्वतहिं जब, जहर मधुरा कब जरे ॥
अमृत त्याग सब बात जगकी, जगत्सें क्या काज है ।
तुम सहज सच्चित्सुख सदा, जग झूठकाहिं समाज है १०२

छंदः ।

उदासीन रहना मिथ्या लख, यही बडी है जीत ।
कथन भला क्या दिखे न जगकी, सबहीं उलटी रीत ॥
बैठीकों चाकी कहते हैं, चलतीकों गाडी ।
साच झूठ सब उलटा छाया, झूठमांहिं है प्रीत ॥
रहनी सब झूठी है यांकी, कथनी सब झूठी ।
निश्चयभी है सबहीं काचा, बारूकीसी भीत ॥
देना झूठा लेना झूठा, सोना जागनभी ।
मूर्खनरहीं धसे इसीमें, गए जन्म बहु वीत ॥
कारणकार्यरूप जगत्कों, जिसनें तजा तजा ।
ताप बना अमृतहीं कहते, इमहीं भगवत्गीत ॥ १०३ ॥
सो मरचुका है सहज जिसकें, तापकाहीं साज है ।
इनके विना रहता कहां इक, इनहिंके सुख राज है ॥
गुरुकृपासें निजतत्त्व लख, रहते सदा मस्तीभरे ।
दृढ तजा जग सब समझके, है झूठ ताप समाज है ॥

मद काम क्रोध विमोह तृष्णा, लोभ मत्सर ईर्ष्या ।
छल राग द्वेष समूल नहिं, स्वाराज्यका सिरताज है ॥
है ब्रह्महीं नहिं ब्रह्मवित्, मनवचनइन्द्रियसें परे ।
नित निगम नेति पुकारते, नहिं रहा काज अकाज है ॥
नहिं फिकर है अल्पहुँ कभी, जो होत है सवहीं भला ।
होनाहिं होगा परदिवसमें, सहज सोई आज है ॥
निन्दावडाईमें सरिस, संसर्गपर हैं मस्त हैं ।
क्या कछु चिडैया करसके, सुखसें चलत है वाज है ॥
नहिं फल प्रशंसासें तनिक, क्या जगप्रशंसा करसके ।
सव वेदभी पचहार वैठे, कहत आती लाज है ॥
चाहे दिगम्बरहीं रहें, चाहे दुशाला ओढलें ।
प्रारब्धसें जो होत होवे, सवहिं इनकों छाज है ॥
अमृत अवचसुखकी वडाई, कवन इनकी कर सके ।
जिसने किया था भ्रम दुखनका, गई माया भाज है ॥१०४॥

हरिगीतछंदः ।

नरदेव चाहे देवदेव, कहो चहे भूसुर कहो ।
जो कछु कहो हैं ब्रह्मवित्हीं, देत हैं निजपद अहो ॥
विश्वाससें सेवा करें इनकी युगल फल पात है ।
मन शुद्ध हो निजतत्त्व देखें, वेदमें विख्यात है ॥
यह करें दृढ संकल्प जांका, सजा है आगे खडा ।
नहिं न्यूनता तांके रही, इनके कल्पद्रु जो पडा ॥
हो जीव ईश्वर-पद लिया, इनकी वडाई को कहें ।
इनके दर्शसेवापरशसें, चार फल ले अघ दहे ॥
है धन्य हरि गुरु धन्य कुल है, धन्य इनकी क्या कहें ।
है धन्य वह भू पूज्य सवकी, जहां यह कवहूं रहें ॥
इनकी चरणरज परसती, जहिं सबहिं तीर्थ होत है ।
विश्वाससें सेवे सदा कर, शुद्ध निजतम खोत है ॥

चाहे अवुध जो भूतिकोंही, इनहिंकी सेवा करे ।
इम वेदनें भाखी न कथनी, वेदकी कबहूं टरे ॥
आदर करें जे ब्रह्मवित्का, सहज अमृत वन सजे ।
होके निरतिशय-सुख सदा, सब दुख अविद्यासह तजे१०५

छंदः ।

कोई पटतरभी जिनके नहिं, पटते आत्मवित्ही हैं ।
सकलशुद्धमें सहजशुद्ध जे, छटते आत्मवित्ही हैं ॥
मायाहीं है दृढ निश्चय है, जगमें किम अनुराग गहें ।
ब्रह्मलोकलौं सबसें सहजे, हटते आत्मवित्ही हैं ॥
भित्तीकी है कथा कवन यदि, अण्ड देहपर पड जावे ।
है कछु ऐसी बात तनिक नहिं, अटते आत्मवित्ही हैं ॥
करें उपाय लाखभी कोई, इनके कवन स्पर्श करे ।
लखें रूप निज मिले रहें नहिं, फटते आत्मवित्ही हैं ॥
जगआसक्ति तजी लख मिथ्या, त्याग दई अब बाकी क्या।
लाखों यतन किये नहिं थूका, चटते आत्मवित्ही हैं ॥
अवर भीतिकी कथा भला क्या, सिरभी यदि काटे कोई ।
निर्भय रहें अहंब्रह्महीं, रटते आत्मवित्ही हैं ॥
सकल उपद्रव आइ पडें जग, जितने होते रहते हैं ।
जिनके सुख अल्पहुं कबहूं, नहिं घटते आत्मवित्ही हैं ॥
लखतलवारें लहलहातहीं, चलें देह सब कटजावें ।
इनका कवन प्रसंग तनिक नहिं, कटते आत्मवित्ही हैं ॥
अविवेकीको जो मिलता है, तांके पाछेही लागे ।
अमृत जो भटकाएभी न, भटकते आत्मवित्ही हैं ॥१०६॥

हरिगीतछंदः।

विद्वान् सबका आत्मा जो, अल्प यांहिं निरादरे ।
अपना निरादरही करे, विद्वान् सबसें है परे ॥
विद्वान्का जो है निरादर, है सकल ब्रह्माण्डका ।

विद्वान्में अध्यस्तहीं है, रूप सगरे अण्डका ॥
विद्वान्की निन्दा करी, जिसने करी सव खण्डकी ।
गिनती कहांलौं करसकें, है वात वचनपर दण्डकी ॥
इनका निरादरसें न निन्दा-सें तनिकभी विगडता ।
इनकी परे है ठौर सव जग, जहांलौं हैं झगडता ॥
निन्दा निरादर यदि करें, गुणका करें यह प्रथमहीं ।
इनका करें हैं अल्प कव, पहुंचे रूप है विषमहीं ॥
यह हैं सदा सवरूपनहिं, कवहूं किसीसें वैर है ।
मिथ्या लखें गुणक्रियाकों, निज एककाहीं सैर है ॥
इनकों रहे क्या खवर को, किसका निरादर करत है ।
है वात इनकी सव अलौकिक, जीव मन कव परत है ॥
ध्रुव तजा जो सुखसम्पदा-नें सो निरादरकों करे ।
हो पतित दोनों लोकसें, दुखयोनिमें जन्मे मरे ॥
प्रत्यक्ष ईश्वर हैं यही, सव तीर्थनका रूप हैं ।
इसमें करें विश्वास ते, जे वेदके अनुरूप हैं ॥
अमृत करें जे वैर इनसें, कृष्णजी कव सहसकें ।
है आत्माहीं कृष्णजीके, भला किम कव रह सके ॥१०७॥
अद्वैत इक हमहीं अचल, अक्रिय अगुण चित्सुख सही ।
मायाजगत् कल्पित हमहिमें, ब्रह्मविद्या श्रुति कही ॥
यद्यपि दर्शी रामादिका है, हेतु विद्याका अचल ।
यह स्वयं विद्या होत नहिं, है वचन साचाहीं अटल ॥
यासों न जावे द्वैत तिहिं विन, भय कहां कव भागता ।
विन भय गए नहिं सुखी इसमें, सकल अनुभव जागता ॥
सो निजअविद्यानें रचा है, द्वैत निगम पुकारता ।
सो विना निजविद्या न जावे, द्वैत दुखकी भारता ॥
अमृत विना निज ज्ञानके, जे ब्रह्मविद्या कहत हैं ।
तिनका कथन अविवेकसें है, विज्ञजन कव सहत हैं॥१०८॥

छंदः ।

इनकेहीं तो संमुख जाके, दुखभी सुख दरसाते हैं ।
निजविद्यासें जीवभाव तज, शुद्ध ब्रह्म बनजाते हैं ॥
शोक न कबहूं मुख दिखलावे, तृष्णा खोज न बाकी है ।
त्रिविधतापसें परे बने चित्,-सदानन्द हुलसाते हैं ॥
चढा रहे है अमल अलौकिक, मस्ती ऐसी छाई है ।
क्या जाने जग कहां रहे है, आप अपनमें माते हैं ॥
प्रथमदशाभी देखी है अब, देख आपनी अलभदशा ।
धन्यवाद दें गिरिधरजीकों, तनुमें नांहिं समाते है ॥
यद्यपि नहिं कौपीन कमरमें, पर ऐसी संपद् छाई ।
गिने इन्द्रकों रङ्क लोक अज, गिनतीमें नहिं आते हैं ॥
चाहे करें प्रशंसा सब जग, चाहे अतिहीं निन्दाभी ।
इनके बिन निजहर्ष अवर-कछु, हर्षशोक नहिं भाते हैं ॥
सकल उपद्रव आइ सतावें, सकल रोग दुख घेरेंभी ।
कवन डुलावे इनकों कैसें, कब यह होते ताते हैं ॥
ब्रह्मलोकलौं दान करेंभी, इनकी समता को पावे ।
मायादुख अजलोकतलक सब, यह परसुखके दाते है ॥
परदुख तनुदुख पराधीनता, दुख सुर दुखका कारणभी ।
इनके सुख बिन कथा कवन है, निजानन्दमें राते हैं ॥
इनका जो उपकार कथन क्या, जहां जहां यह पग धारें ।
तहिं तहिं सहजस्वभाव दशोदिश, परानन्द बरसाते हैं ॥
कोई मनुज असुर पशु कोई, सुरभी पक्षिनामवाले ।
जीवरूप धर भला यही तो, ब्रह्मईश कहलाते हैं ॥
पालें विधिकों जी चाहे तो, नहीं शयनहीं किया करें ।
यह स्वतन्त्र हैं सबके स्वामी, किसका भला धराते हैं ॥
देह समर्पें प्रारब्धकर्मकों, आप सदाहीं मस्त रहें ।
इनका यश सुख सब जग पावन, वेद सुखीहो गाते हैं ॥

अवभी ब्रह्म तजे तनु ब्रह्महिं, बहुर न तनुकों धरते हैं।
अमृत लेखा धर्मराजका, सगरा यही मुकाते हैं॥ १०८॥

चौपाई।

शास्त्र है वेदान्त टेकहीं। कहे एक कोइक अनेकहीं।
ईश्वरको सब रूप बतावे। ईश विना नहिं अवर सुनावे॥
नामरूपकों मिथ्या कहते। अस्तिभातिप्रिय विन नहिं सहते।
मिथ्या लख तृष्णा नहिं उपजे। यथालाभ संतोषहिं गर्जे॥
ईश्वरकी तृष्णाभी जावे। अपना रूप समझ हुलसावे।
यह पदहीं वैतृष्ण्य कहावे। योगसिद्ध बुध वेदहुं गावे॥
एकरूपमें वैर कहां है। होवे तापद भेद जहां है।
सवकों हरिनिज रूपहिं पेखें। हरिविन अवर न कवहूं देखें११०

सोरठा।

हरि दर्शनकों हेत, तृष्णामूल विनाश कर।
जिनका यासों हेत, दीखें सज्जन सुखभरे॥ १११॥

चौपाई।

यह आधुनिक कहत हैं कोई। जिनकी मति कलिकालविगोई।
तत्र को मोहः यह पदहूं। सुना न मन्दबुद्धिनें कवहूं॥
यदि कछु विद्या आपहिं पण्डित। संप्रदाय गुरुकीसें खण्डित।
मन्दबुद्धिमें हरि किम भासे। भेदवादहीं सहज प्रकाशे॥
तासों तृष्णा वढते वढते। रहे शोकहीं चढते चढते।
अहमिति क्रोधद्वेपके खाए। कछु विषयननें मार मुकाए ११२

दोहा।

विषयनमें जो सत्यता, मति जनती है चाह।
तासों क्रोधहु द्वेषहूं, पापहुं वढे अथाह॥ ११३॥
धन्य धन्य वेदान्त, नाशे दुख सुखरूपकर।
मायाजगसें शान्त, एकतत्त्वकोंहीं कहे॥ ११४॥

चौपाई ।

तव मतमें यदि सत्यपदार्थ । तौभी मृषादृष्टि परमार्थ ।
कबहुं विपर्यय ज्ञानहुं देवे । सुखकों दुखकोभी हर लेवे ॥
जिम कुपथ्य स्वादूमें होवे । मति अस्वादू दुखकों खोवे ।
मृषा दृष्टिसें इनके तापा । तनुकों होहिं न मनसंतापा ॥
तव मतमेंभी हमहीं सुखिये । दिपें सही तुम दिखते दुखिये ।
छांडो हठ इनमें किम राते । व्यर्थहिं कहतेहो मतमाते११५

दोहा ।

यथालाभ संतोषकर, देखो सब हरिरूप ।
मैं तूं यह वह दिखे जो, मायामात्रस्वरूप ॥ ११६ ॥
धन्य धन्य गिरिधर सुखद, निजविद्याका दान ।
दे निजसेवककों करें, सहजे आपसमान ॥ ११७ ॥

सोरठा ।

जनके हितका दान, प्रभुकी करुणाहीं करे ।
जन नहिं चहते आन, यद्यपि अभिधाध्यान विन ॥ ११८॥

इति श्रीपूज्यपादपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिकैलासपर्वतशिष्य श्रीस्वाम्यमृतानन्दनिर्मिते श्रीकृष्णामृतग्रन्थे ब्रह्मविद्यामृतकलशस्तृतीयः ॥

श्रीकृष्णामृतम् ।

अथ प्रेमकारणामृतकलशश्चतुर्थः प्रारभ्यते ॥

हरिगीतछंदः ।

हरिप्रेम-कारण मुख्य विद्याका, सकल श्रुतिसिद्ध है ।
विन प्रेम रीझें नहिं यह, लोकवेद प्रसिद्ध है ॥
निजब्रह्मपर श्रीकृष्णहरिपद, अर्थ सुख वेथाह है ।
विन प्रेम हरिके इतर साधनसें, न हो निर्वाह है ॥
निजप्रेमसें वशहोंहिं गिरिधर, ब्रह्मसुख दूरसात हैं ।
अब रहा जावे कब कहां किम, आपभी चल आत हैं ॥
उत्कटप्रेमकी वात है यह, शिथल जिनके प्रेम है ।
तिनके लिये श्रवणादिकाभी, प्रेमके सह नेम है ॥
अमृत भला जब विश्वगुरु, श्रीकृष्णमें अनुराग है ।
फिर इतर साधनकी अपेक्षा, कहां किम कब जाग हैं ॥१॥
जिसने करी ऐसी कृपा ध्रुव, किये दुखसें मोदभी ।
तिस कृष्णके पद क्या भुलाने, योग्य हैं क्षणभी कभी ॥
भजले सदा क्षणक्षण इसीकों, मांगले अधिकारिता ।
अधिकारभी हो भजनका इम, जगत् निज उपकारिता ॥
अब देख पहली निजदशा, तुम जीवथे मिथ्या बंधे ।
मिथ्या गुणनकी आगसें निश-दिवस पचपचहीं रंधे ॥
गिरिधरकृपासें भई अब जो, दशा तनिक निहारिये ।
बन्धन कहां है गुण कहां हैं, भला कछुक विचारिये ॥
अदनादिका व्यवहार भेदा-भाससें जिम होसही ।
तिस भेदसें भज कृष्णकों, जासों अविद्या सब वही ॥
इम दोषभी न कृतघ्नताका, रहेगा यशभी वढे ।

मस्ती भजनसुखकी अलभ है, दिवसनिश दूनी चढे ॥
लीलाशरीरहिं रच भजनसुख, लेत हैं दृढ मुक्तभी ।
धर चित्तमें श्रीभाष्यकार-कृपालुका यह उक्तभी ॥
यह ब्रह्मविद्या आदि सब सुख, कृष्णसेंहीं मिलत है ।
किम छुटे सहज स्वभाव है यह, भजन अमृत झुलत है २

छंदः ।

जगकों करके बने अकर्त्ता, छजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ।
अज हर उमा गणप रवि सुर जिहिं, भजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ॥
अनिक जन्म अघ करते करते, नरकननेभी तजे दुखी ।
एकवारभी शरण गए नहीं, तजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ॥
दिशा विदिशा काल यम ग्रहभी, सिंह सर्प अतिक्रूर सहज ।
जांके सेवककें सुखकोंहीं, सजते है श्रीकृष्णहि हैं ॥
निजसेवककों आत्मविद्या, देके तथा शरीरहिंभी ।
दीखे अवर न देनेकों बहु, लजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ॥
करे सदा चित् निजसेवकहीं, अपनी आज्ञाभङ्ग सहज ।
कालकर्म सिर राख दोषकों, कजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ॥
ब्रह्मादिक जिहिं देत डरे बलि, सिद्धसिद्धि सेवें अमृत ।
जननन्दादिकसेवासें नहिं, रजते हैं श्रीकृष्णहि हैं ॥ ३ ॥

हरिगीतछंदः ।

जो विश्वका आधार इक, मायासें अधिष्ठानहुं बने ।
संकल्प जिसका जग रचन, पालन विनाशनकों तने ॥
सब सिद्धिसिद्ध सुरेश जांकी, चरणरजपरसन लिये ।
कर जोर इकटक ध्यान धरते, कोटि जप बहु तप किये ॥
कालादि डरभी डरें जासों, श्रुतिपुराण प्रसिद्ध है ।
सो जसुमतीनें पकड बांधे, सकल जगमें सिद्ध है ॥
जिसकों अजादिक डरें भेटहिं, प्रेमसें आहरत हैं ।
सो बने रथवाही धनञ्जयके, सकलविधि भरत है ॥

जो तजत निजप्रणकों न लजते, दासप्रण राखैं सदा ।
भीषम पितामह वात क्या, नहिं पडी काननमें कदा ॥
जो सकलके प्रेरक हुकम जांका, सकल सिर धरत हैं ।
सो पादुकाकों राख आगे, नन्दपईयां परत हैं ॥
जिसके चरणरजदासकों, है कवन जो ऐसे लखे ।
है सीस किसके दोसदापद, सकल ऊचाहीं दिखे ॥
जिसका भजन है परपुमर्थ, पुमर्थ चारों देत है ।
तांको न क्यूं है भजत जो, सव तापकों हरलेत है ॥
श्रीकृष्णसें जे विमुख रहते, विमुख तिनसें सुख सही ।
त्र्यतापसें भरपूर दुखिये, होत नहिं तिनकी चही ॥
जे होत हैं गिरिधरचरण, अभिमुख सहज अमृत वने ।
पर होत हैं अति अल्प जगमें, पुण्य हैं किसके घने ॥ ४ ॥

शंकरछंदः ।

क्यूं नहिं दुखकों आप तरे हैं, अवरोंकीभी तार ।
सदा मिले क्या नरतनु भजले, कृष्णनाम सुखसार ॥
वडे पुण्य मानुषतनु पाया, सव पुमर्थआगार ।
साधन पुनि फल कृष्णभजनहीं, जन्य ज्ञान है द्वार ॥
है न योग्य नरतनुमें तृष्णा, तजत न मूल विकार ।
सत्यतलक आपातरमण हैं, विश्व त्रिविध दुखभार ॥
अनिक जन्म वीते विषयनमें, सदा यही व्यवहार ।
अयलौं क्या कछु सुखभी देखा, धिग्धिग् हो न विचार ॥
हो विचार कैसे नहिं प्यारा, सन्तनका दरवार ।
लोकमांहिंहीं धसा रहे है, उदरभरणका यार ॥
किरणोंको जल समझ दौडके, पायो ताप अपार ।
मधुविष विषयमांहिंहीं डूवा, मूढनका सरदार ॥
इससें प्रेम कहांतक निव है, पान्थ सकल संसार ।
मतलवके हैं मीत सकलहीं, सुत पितु हितु भर्त्तार ॥

अमृत परसुख कृष्णभजन विन, रोग सकल आचार ।
राजा रङ्क मूढ है पण्डित, जीता है मुरदार ॥ ८ ॥
क्यूं आप दुखमें पडत है, जगनातसें दुख खात ।
मानले हित परम रखले, कृष्णसें इकनात ॥
जगके अवर संबन्ध जे ते, सहज दुखवरसात ।
तज त्याग तृष्णा तापही हैं, मानले सुखबात ॥
श्रीकृष्णसम को सुखद है, वेद जग विख्यात।
निजदासको दे ब्रह्मविद्या, आपभी चल आत ॥
अपनी तजें जनकी रखें, को अवर अस दरसात ।
माया डरे निजदाससें, अनुभूतभी श्रुति गात ॥
षड्गुण कहां हैं अवरमें कहिं, अस स्वभाव सुहात
तनुप्राणइन्द्रियबुद्धि आदिक, सहज जांकी दात ॥
तांको भजे नहिं तज सकलकों, है अविद्याघात ।
अमृत गया जब समय यह, फिर आत है कब हात ॥ ९ ॥

छंदः ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हूं, श्वपचादिक सुख छाए ।
सदासदाकी बात दासकी, रखतेहीं ध्रुव आए ॥
ब्रह्माकों दे पृथिवी मनकी, सबहीं तस विनाशी ।
दैत्य विनाश दान सुखका कर, पृथिवीताप मिटाए ॥
पिता प्रह्लाद नागसें डारे, ताते खंभन बांधे ।
करे उपाय बहुत जहिंलौं बल, दाग न लागन पाए ॥
ठगन गये बलिके परमेश्वर, उलटे आप ठगाए ।
सुरपतिकों दे स्वर्ग बलीके, चाह रही बन बैठे ॥
ग्राहग्रसा गज बडे तापसें, प्राण निकसने लागे ।
कृष्णनाम सुन वाहनवर तज, पादनसेंहीं धाए ॥
ब्राह्मणधर्म धर्मका रक्षक, धर्म सकल सुख कारण ।
राखनहित बहुवार कृपामय, क्षत्रिय मार म्रुकाए ॥

भार उतारा सब पृथिवीका, गीधकरनपर दाहा ।
सकल अयोध्यावासी सुखमय, अलभ धाम पहुंचाए ॥
बदरीखण्ड पवित्र करनकों, जगत्विघ्न नाशनकों ।
इन्द्रियदमन प्रकट करनकों, मन तप तीव्र लगाए ॥
चोरोंसें पृथिवीदुख नाशा, राखी पत द्विजकुलकी ।
क्षुधादुखी सब जीवनको दे, अन्न प्रसन्न बसाए ॥
ऋषभ अत्रिसुत गिरिधरने, संन्यासधर्मकी राखी ।
परमहंसपद अर्थ सहजहीं, सब जग प्रकट दिखाए ॥
पृथिवीभार पाप कंसादिक, मार अलभ निजधाम दिया ।
सन्तविप्रदुख नाश प्रशंसा, निजसुख कर हुलसाए ॥
गिरि नखपर धर व्रजवासिनके, ताप सहजहीं नाशे ।
दावानल कर पान आग बड, यमसें सकल बचाए ॥
चीर बढाए द्रोपदिके क्षणमें, दुर्वासा-शाप रुकाया ।
सब दुख हरे सुदामाजीके, पगजल सीस चढाए ॥
कूद यमुन कालियदुख नाशा, नाशा दोष उदकका ।
गोव्रज विषदुख मरेभये सब, अमृत वर्ष जिआए ॥
व्रजवासिनकों उभयलोक निज, दिखलाए सुखकारण ।
माततातके बन्धन काटे, परमानन्द बढाए ॥
दीना राज युधिष्ठरजीकों, दृष्टीसें रिपु मारे ।
षट्रस दुर्योधनके त्यागे, साग विदुरघर खाए ॥
यद्यपि आगेहीं रहते हैं, सबमेंहीं व्यापक हैं ।
माताकों दुख देख कृपामय, विनश्रम आप बंधाए ॥
जब जब भी उपडी भक्तनपर, तब तब ऊची राखी ।
वेदपुराणप्रसिद्ध सकल जग, छिपती नांहिं छपाए ॥
जिनके मनमें एकबारभी, बसे मनोहर मनके ।
जहिंलौं बल कर लाख यतनभी, झूले नाहिं भुलाए ॥
तिनके भाग्य वचनमनपर, अब वह किसकों चाहेंगे ।

रही कामना कवन नन्दके, जिनके चित्त समाए ॥
गिनती नहिं अपराध कहांलौं, तजे वेदने सन्तनने ।
जिन पापिनने कल्पमुकुट श्री–गिरिधरहीं विसराए ॥
अमृत कवन कभी अव लोकों, हरिदरवार पडे हैं ।
तिनके वेद रम्ययश गावें, जिनको गिरिधर भाए ॥ ७ ॥

शंकरछंदः ।

ध्रुव भरे हैं सुखकूपासेंही, करेंगेहीं पार ।
अब मानले सुखकी पडा रह, कृष्णके दरवार ॥
सब जगत्के दरवार देखे, वीते जन्म अपार ।
क्या मिला सबहीं न्यूनहीं है, तापका है भार ॥
अजलोकलौं सबका लखाए, पडे हैं मुरदार ।
मांगे अवरसें आप किनहों, अवरके आधार ॥
जब पडेगा दरवार इसमें, छुटे दुख संसार ।
सुर सिद्ध सुरपति अज करेंगे, सदा जयजयकार ॥
ध्रुव बढेगा दिनदिन धर्मशुभ, शुद्धिका अधिकार ।
श्रीकृष्ण लोचन पडेगेंहीं, बनेगा कर्त्तार ॥
माया मिटेगी मिटेगा सब, मूल विन जंजार ।
फिर सदा सुखहीं शेष रह है, सकल आगम सार ॥
नहिं मानता है बिगडनेका, भया है दृढ पार ।
तज संग हलकोंका सकल, जग हलकई आगार ॥
तृष्णा विना कोई नहीं है, हलकई दातार ।
सो भररही है सकल जगमें, देख नयन उघार ॥
श्रीकृष्ण गिरिधरजन युगलहीं, जगतसें हैं पार ।
कर संग इनका इन विना को, सुखी दुखनिस्तार ॥
जासों विषयसुख चाहता है, युगलहाथ पसार ।
श्रीकृष्णकोहीं किम न चाहे, कछुक चित्त विचार ॥
श्रीकृष्णसम है बडा को, जिहिं ध्यान धरत पुरार ।

जब इनहिका बनजाइगा, तब होइगी नहिं हार ॥
अमृत पदार्थ मृपा तजदे, इनहि लग जगरार ।
फिर सदा सुखही रहेगा, श्रीकृष्णको उरधार ॥ ८ ॥

हरिगीतछंदः ।

श्रीकृष्ण सम को प्रीतिपालक, अवर कतहूं देखले ।
फिर क्यूं नहीं इनसें लगाता, अवर सबको रेखदे ॥
अतिमृदु शक्त कृपालु सुखशुचि, सरलचित्त मिलापके ।
नहिं तनिक सेवकसें दुरावें, हाथ पकडें आतके ॥
यदुराजके होकेहुँ तिनके, हुकम सब सुखभी रखे ।
अतिअधम जातिहिं भीलनीके, बेरभी जूठे चखे ॥
फिर क्यूं नहीं होता इसीका, समझ ले विश्वासकर ।
अब मान कहनेकोंभी कछु, कथनकोंभी चित्त धर ॥
क्यूं भटकता फिरता इधर पुनि, उधर दुखमें डूबता ।
अमृत पडारह कृष्णदरशमें, कछुक है यदि सूझता ॥ ९ ॥
सामर्थ्य ऐसा है कहां, संकल्पकी है बात सब ।
बल अधिक अल्पप्रसिद्ध जग, जो कृष्ण बिन है होत कब ॥
सब शक्तिका मायाहि कारण, कृष्णचरणनसो परी ।
सो करत है रुचि देखके, जिम नर्त्तकी आज्ञा करी ॥
जिम रचत हैं ब्रह्मादि जग सब, तिमहिं तिम होवे मुदा ।
फिर त्यागके सब जग न भजता, कृष्णको है किम मुदा ॥
अबलौं बडाई लोककीसें, भई हानिहिं मानले ।
ध्रुव रहे निजप्रियकोहिं भूले, क्या मिला पहचानले ॥
जब कृष्णकों भूले भला फिर, पाप बाकी क्या रहा ।
सब तापका कारण यही है, लखें बुध श्रुतिभी कहा ॥
निन्दा करेंगे फल बढेगा, जगत् सहजे छुटेगा ।
फिर कृष्णहीं इक शेष रह है, प्रेमरसहीं लुटेगा ॥
अमृत पडा रह दूर इसीमें, अवर दूर ऐसा कहां ।

लावण्य धर्म स्वरूपमुख्य, ऐश्वर्य सब मस्ते जहां ॥ १० ॥
है तेज किसमें कृष्णसम, अनुभव निगमसें देखले ।
है सुख कथन ले मान इक, गिरिधरहिं मनमें लेखले ॥
सुर सुरप रवि शशि सिद्ध, नरपति सिद्धि भूत अहं महत् ।
जिहिं सेवते हैं खडे निशदिन, डरे जयजयरव करत ॥
जिहिं तेजसागर विन्दुसें, अजआदि ऊंचे बन रहे ।
श्रीआदि महिमा पद ग्रसे क्षण, क्षण कृपाहींकों चहे ॥
जांके कुजनसेंभी डरे यम-राज कालहु डरत है ।
फिर किम न सबकों तज सदा, श्रीकृष्णपईयां परत है ॥
इस तेजकों नहिं आदरें जे, शठ अविद्याके ग्रसे ।
तिनके अंधेरा छारहा हैं, अन्धतममेंहीं फसे ॥
अब मानले कहना अमृत रहै, कथन कबतक करेंगे ।
श्रीकृष्णके आदर करनसें, सिद्ध पईयां परेंगे ॥
अमृत अमर यह तेज है, हमभी बलईयां लेत हैं ।
यांका स्वभाव यही सदा है, जन उंचाई देत हैं ॥ ११ ॥
गिरिधरसरिस मन मृदु कहां है, खोजले दृढ जग सभी ।
सिरताज जो है मानका नहिं, वेद बात सुनी कभी ॥
कहुँ जीव आप कहां द्वार जो, आत है अतिअघीभी ।
तिहिं तनिक ताप निहार द्रवते, देशमें है मघीभी ॥
मृदुताप्रभाव कियो अजामिल, पापभी अपने सरिस ।
मम नाम तो ले है न यद्यपि, है तनिक हममें सरस ॥
निजप्रण विरुद्ध स्वप्रण तजन, कछु दुख करेगा जीव है ।
झटिती तजा निजप्रणहिं भीषम, लाग बात अतीव है ॥
मृदुता निरतिशय समझके, फिरभी न गिरिधर भात हैं ।
धिग्धिग् कुजन्म कुसंग दृढ है, पाप कब कहजात हैं ॥
अमृत करें जे वैर जनसें, आपहीं नहिं रहसकें ।
निजजन तपनकारण निरखके, कृष्णजी कब सहसकें ॥ १२ ॥

छंदः ।

दशदिश फैल रहा है आग, रीते कबहुँ न जाते हैं ।
है ऐश्वर्य अलौकिक ऐसा, कहां अवरमें पाते हैं ॥
जिस परेशके भ्रूविलाससें, ब्रह्मादिक ऐश्वर्यी हैं ।
तिनके जे ऐश्वर्य भला कब, किसके मनमें आते हैं ॥
अस ऐश्वर्य समझकेभी फिर, इतर चरण क्यूं पडतेहो ।
सब तज भज श्रीगिरिधरजीको, क्या उत्तम बतलाते हैं ॥
मान बातकों साची है हम, अतिहितकीही कहते हैं ।
सन्त कहेकों सुने न इतउत, दुखमेंही मुलाते हैं ॥
अमृत तुमरे पुण्य धन्य हैं, धन्य तिहारे जनकगुरु ।
तुमरे तो अब समझ पडे दृढ, गिरिधरसेंही नाते हैं ॥१३॥

हरिगीतछंदः ।

श्रीप्राणप्रियगिरिधरस्वभाव-सरिस स्वभाव कहां मिले ।
दृढ खोजले सब जग अहं-तासें पडे हैं तलमले ॥
हैं न्यूनता व्याप्या अहं-ताकी जगत्में देखले ।
श्रीकृष्णमें नहिं न्यूनता, किमहो अहंता पेखले ॥
जिहिं पादरजकों कल्पतरुलख, सेवते अजआदि सुर ।
निजदासके सो दासहो सुन, बात थिर किम रहे उर ॥
अबभी न आई समझ कृष्ण-स्वभावकी क्या कहें हम ।
कंसादिपदकों देखकेभी, रहे अघसें अन्ध तुम ॥
अब अवरभी लखले प्रसंग, स्वभावका अघपूतना ।
पयपानमिस मारण ठना, तांको स्वमातापद तना ॥
हम समझकेभी कृष्णपद नहिं, भजें जग छल त्यागके ।
ते पडे सागरमांहिं निशदिन, कीट जलती आगके ॥
अमृत लगारह कृष्णसेंही, सकलकों दृढ छोडके ।
सुखहीं रहेगा मिलेगाभी, पद कुबन्धन तोडके ॥ १४ ॥
इस कामकाभी काम होता, है निरख हरिरूपकों ।

ध्रुव है निसर्गिक कृष्णनेहीं, रचा अज सुरभूपकों ॥
जिसमें जहां है रूप लखले, सिन्धु विन्दु समान है ।
इससेंहिं पाया दिव्य भूषण, सकलनें सन्मान है ॥
है मधुर मृदुता रूपमें, ऐसी कहां आलोचले ।
जग खोजले अजलोकलौंभी, निपुणतासें सोचले ॥
अस रूप लखकेभी कुरूपहिं, जगत्को नहिं तजत है ।
सुन जानले ध्रुव आप आपे, तापकोंहीं भजत है ॥
अब समझकेभी भजत नहिं, श्रीकृष्णमें गुणसकलकों ।
अमृत भला तिससम कवन है, जगत्में मतिविकलको॥१५॥

छंदः ।

कभी सुनी है कान पडी है, युक्तिहुं यही सुनाती है ।
गंगादिकमें पावनता लख, भला कहांसें आती हैं ॥
है चेतन सामान्य सकलमें, दीन सकल मन मैले हैं ।
सगुणब्रह्ममेंहीं पावनता, निश्चयकों ठहराती है ॥
तिसमेंभी सामान्य-ईशमें, पावनतामें दोष वही ।
यद्यपि दोके नामध्यानसें, सकल-मलिनता जाती है ॥
जीव सदा है अघी कृष्णसं-बन्ध विना सब जग जाने ।
जीवकर्मसें भई जहांलग, भौतिकभूत विजाती है ॥
शेष रहे इक गिरिधरहीं सब, पावनताका वास सुखद ।
संसर्गीमें पावनता इन-हीकी सहज समाती है ॥
इनके नाम ध्यान सब पावन, संसर्गी सब पावन हैं ।
शत्रुनकेभी वैर योगसें, मुक्ति सहज सरसाती है ॥
नाम अजामिल ध्यानी पक्षी, संसर्गी व्रजगंगादिक ।
पूतनादि अरि सब जगपावन, महिमा वचन पराती है ॥
इम लखकेभी अमृत जे नहिं, भजते हैं गिरिधरजींकों ।
अन्त न तिनके मन्द भाग्यका, निपुण गिराभी पाती है ॥१६॥

हरिगीतछंदः ।

गिरिधरकृपाकों पूजती है, कमलजादिककी कृपा ।
निजमूल लख इस हेतुसेंभी, सकल जगमें यश दिपा ।
है कोपकी अधिकरणतासें, कृपा मैली सकलकी ।
है सकलमलनाशक कृपा इक, गिरिधरण सुख अचलकी ॥
कंसादि ऊपर कोपकों समझें, जडनकी बात क्या ।
बहुते नहीं क्या समझते हैं, तपनकी मिथ्या कथा ॥
दे कोपसें किसकों कवनकों, सकल जगमें सिद्ध है ।
कंसादिकों दीना अलभ निज-पद पुराणप्रसिद्ध है ॥
इक कृपाहीं रहती सदा है, भरी दशदिशमें झरी ।
अतिद्वेष्टा अतिपतितभी, आए तजे नहिं रुचि करी ॥
जे नास्तिक खण्डन करें, श्रीकृष्णकों नहिं मानते ।
हैं देत तिनकोंभी अहारा-दिक सकल जग जानते ॥
अब भला बाकी क्या रहा, लखले कछुक तो कान कर ।
इस कथन हमरे साच सुखका, कभी तो सन्मानकर ॥
भजले सदा श्रीकृष्णजीकों,-हीं अमर होजाइगा ।
सुर सिद्ध सब जय जय करेंगे, सदा सुखहीं पाइगा ॥
अमृत न माने जो हमारी, बातको अतिपतित है ।
घेरा कृपापोंनें सही, अतितापसेंहीं तपत है ॥ १७ ॥

सोरठा ।

हनुमत्कहा पिशाच, भाष्यमांहिं निजबोधसें ।
देव एक है साच, जांहिं देवकीसुत कहें ॥ १८ ॥
ब्रह्मा व्यास वसिष्ठ, नारद सनकादिक सकल ।
शंकर भीषम शिष्ट, सबहिं कहें हरि कृष्णकों ॥ १९ ॥

दोहा ।

वञ्चितवञ्चक होंहिं नहिं, जिनके बोध अगाध ।
परउपकारक धर्ममय, जहां आसुरीबाध ॥ २० ॥

अवहूं बोध न होइ जिहिं, धिग् धिग् है मलभाग ।
यदि सुख चाहे मानले, कर हरिसें अनुराग ॥ २१ ॥

हरिगीतछंदः ।

हरिप्रेमकारण सन्तसंगम, धर्म निज पालन सदा ।
अनुकरण प्रियका देखना, रहना धर्ममय सर्वदा ॥
श्रद्धा निजगुरुवचनमें, कर आसुरीके नाशकों ।
दैवी सकलकों धारना, जो करत चित्तप्रकाशकों ॥
सेवा सदा प्रेमीजननकी, वासभी तिनमें रहे ।
सुनना सदा हरियशहिंका, जो सकल अघतमकों दहे ॥
सात्त्विक पदार्थ सेवने, जपना सदा हरिनामका ।
मनमृदुलमेंहीं प्रेम हो, झगडा न रखना कामका ॥
रहना सदा हरितीर्थनमें, सजग बचना पतनसें ।
श्रीकृष्णजीके ध्यानकों, करना अचल हो यतनसें ॥
मनमृदुलताके करनकों, अष्टाङ्गयोग सुहात है ।
अमृत विवेक सहायताकों, करतभी दरसात है ॥ २२ ॥

शंकरछंदः ।

जगके सकलहीं पकड हठसें, देत दुखमें डार ।
अब निकल इनसें पकडले, सुखनामका आधार ॥
अघहीं अजामिल नाममिससें, भया तमसें पार ।
फलचारकेभी दानका है, नाम सुख सरदार ॥
जप नाम मुनि सुर असुर, ऋषि नर भए सुखआगार ।
जपले भला क्यूं देर करता, मत बने भूभार ॥
जिनके न मुखमें नाम है, ते जीवते मुरदार ।
तहँ नामभी अतिपापही है, संगसें बहु हार ॥
इस नामसेंहीं मिलत है, जो जो चहें अधिकार ।
तज चाह जपते नामकों, ते होत है करतार ॥
इसका प्रभाव न कहसकें, अज गिरा गणप मुरार ।

सुनले समझले देखले, क्या क्या भरे भंडार ॥
अमृत सदा जप नामकोंही, कृष्ण कर हैं प्यार ।
फिर न्यूनता किसकी रहेगी, निगम कहत पुकार ॥ २३ ॥
क्या देखे है पाप पडा है, व्यर्थ भूमिपर भार ।
लगे भयंकर भजन विना है, जीवतहीं मुरदार ॥
मानुपजन्म कर्म पितु रोवे, बुद्धिदेव महतार ।
क्या है बात शान्तियोषित्की, सुनी न जात पुकार ॥
दैवीसंपत् विषमरुदन सुन, रहे न मनका सार ।
आसुरिसंपत्लिये फिरे है, मस्त यमनकी धार ॥
चर्ममांहिं पूरे वायूकों, आयूकर्म लुहार ।
देखतहीं सज्जनबालक ध्रुव, भागें भीति अपार ॥
भूत पिशाच प्रेत सुतआदिक, करें बहुतहीं प्यार ।
ममताहंतादिक बंधुननें, दिया तृषामें जार ॥
अमृत जिस घर भजन नहीं है, मुरदोंका दरबार ।
तांको तजो पिशाचभूमिसम, यहभी भूतागार ॥ २४ ॥
दिखे नहीं क्या भूतप्रेतसा, श्रुतिसें कैसा बंक ।
अन्नमांहिं जिम घुणा भजनबिन, कुलमें भया कलंक ॥
सकल संपदा रहे सदाहीं, भजन विना है रङ्क ।
तृष्णाभरा रहे मुख मैला, लगे भयंकर भंक ॥
उदरभरनमें बडा चतुर है, विषयनमें निःशंक ।
कवन कुभाग्य न प्यारा लगे, भजन सुमतिताटंक ॥
घेरा है पापननें दशदिशा, आग लगी जिम लंक ।
भजनप्रभाव विभीषणहीं सुख, सोइ रहे पर्यंक ॥
भजनहिं है नाशे समूल जो, विधिके कठिन कुअङ्क ।
प्रायश्चित्त अवरको अमृत, धोवे पङ्कनपङ्क ॥ २५ ॥
कामक्रोधहीं जाग रहे हैं, जहिं तहिं सदा लरे ।
उत्तमथी यह बात भजनबिन, जन्मत क्यूं न मरे ॥

माताकों दे ताप पापभी, नरक संवार धरे ।
ऐसा भया दशोदिश तनुसें, निशदिन ताप झरे ॥
क्याहि कुसंग कुकर्म जगे हैं, भए नयन अंधरे ।
प्रेम वहुत है झूठतापसें, साच सुखहिं विसरे ॥
अमृत सन्त सुकृत गिरिधरभी, तजके दूर टरे ।
जीवत मुरदा पडा भयंकर, दर्शनहूं सुख हरे ॥ २६ ॥
शान्ति कहां है रही दिखत नहिं, मूलसहित हैहूई ।
दुखका दिपे नशान भजनविन, बात मोदकी गई ॥
भजन नहीं जहिं सुमति कहां है, कुमति दशोदिश छई ।
पापकर्मकी व्याप्य कुमति है, फल अतिदुख सरसई ॥
तृषासर्पनी डसे दिवसनिश, कामक्रोध वहकई ।
रागद्वेष वञ्चक बहु मस्ते, मदलुब्धक हुलसई ॥
मस्त फिरे यमधारपिशाचन-के मनकी सब भई ।
नरकनकीभी आइ बनी है, हो प्रसन्नता नई ॥
संबन्धी इतउत भटकावें, मतलबकीहीं ठई ।
बिन विवेक मूर्खनें तिन हित, अपनी जान तई ॥
भजन बिना दुखग्रन्थि अस्मिता, खुलनेमें कठिनई ।
अमृत मर मर जन्म लेत हैं, त्रिविधताप बरसई ॥ २७ ॥
दोष भला है अवर कवनका, है मलसंग बडाई ।
सावधान किम होइ भजन विन, कैसी मति बौराई ॥
स्वार्थमीतहिं मीत लखे पच, मरे पाप वहुताई ।
कुटिलोंसें है ऋजुता ध्रुव ऋजु-सन्तनसें कुटिलाई ॥
भयो अन्ध मतिहीन न सूझे, लगी मुकरमें झाई ।
मैं ममताहीं झूले निशदिन, सकल अविद्या छाई ॥
विषय मन्दसुख क्षणिक लाग नित, भोगे दुख समुदाई ।
जो जो उद्यम करत सुखनके, सब होते दुखदाई ॥
अमृत मन्द कुभाग्य जगे हैं, छाइ रही मलिनाई ।

त्रिविधतापकी झरी लगी है, नरकहुं धूम मचाई ॥ २८ ॥
जगत्सिद्ध बुधसिद्ध वेदनें, सुखसें यही सुनाए ।
मधुर दिपें नहिं छिपें भजनसें, सकल पुण्य सुख छाए ॥
भजन जहां सुख धर्म तहांहीं, अनुभव-मान[1] सुहाए ।
सकल पुराण स्मृति भारतभी, इमहिं कहत समझाए ॥
सुख अब जांहिं कहां तज यांको, लख मन अति हुलसाए ।
शोधन भयो विवेक विरागहुं, उपारामभी आए ॥
गुरुमिलाप गुरुकरुणाभी हरि, तत्त्वस्वरूप दिखाए ।
दिव्य अलौकिक तेज छएहैं, दुर्लभ परपद पाए ॥
सकलधर्म रहिं दशादिश छाए, भजन मनोज्ञ लुभाए ।
सब तीर्थके तीर्थ अमृत, भए वेदमें गाए ॥ २९ ॥
निरावर्णता आइ छई है, तम भ्रम सकल गरे ।
अधम ऊच हो कोई नहिं कब, कवन भजनसें तरे ॥
गजगणिकाभी गीध अजामिल, अवर मन्द मलभरे ।
नामप्रभाव तरे भव सहजे, संकट सगरे टरे ॥
नारदादि सनकादिक ऋषि मुनि, जिनसें काल डरे ।
नामप्रभाव ब्रह्मसुख भोगें, सकल मोहतम हरे ॥
नाम भरोस सोच सबही तज, पाद पसार परे ।
रहे मस्त जनु नरपति सुरपति, इन्द्रहुं यश विस्तरे ॥
नाममहत्त्व अमरपद पाया, मृषा अहं मम जरे ।
अमृत पगकों जहिं जहिं धारें, दशादिश मोद झरे ॥ ३० ॥
क्याहिं अलौकिक तेज दिपे है, क्याहिं मधुरपन छाया ।
क्या निर्मलता भई भजनसें, परानन्दपद पाया ॥
कलशअविद्यानेंहिं गगनमें, मृषा भेद दिखलाया ।
विनशी जबहि उपाधि भेदकी, गगनहिं गगन समाया ॥
भेद हेतु भयशोकतृषाका, अनुभव वेद सुनाया ।

---

1 अनुभवप्रमाणे ।

भजनप्रभाव नशा सो नाशक, परानन्द हुलसाया ॥
रागद्वेषको ठौर कहां है, है खपुष्प जगमाया ।
एक अभेदतत्त्व है निश्चल, नहिं अपना न पराया ॥
धन्य भजन है धन्य भजन है, धन्य भजन श्रुतिगाया ।
भजत भयो ध्रुव सोभी अमृत, जो न नरकको भाया ३१
जाति जन्म कुल सकल पापमय, सुनी न क्या शवरी ।
पावनता सुखप्रभा भजनसें, विगरी सब सुधरी ॥
कहां अज्ञ थे भेदीभी थी, हन्ता ममता भरी ।
भजनप्रभाव तज्ज्ञ नहिं अज्ञहुँ, माया हन्ता गरी ॥
राग द्वेष मद लोभ ईर्ष्या, कामक्रोधकी झरी ।
पहलेहीं थी अबहिं भजननें, हेतु अविद्या हरी ॥
कहां जीव दुखिये थे अब निज, ब्रह्मबेलि सुखफरी ।
कहां सफल संतोष विराजे, कहां तृषाकी लरी ॥
कहां शोकहीं घेर रहाथा, अब मायाभी तरी ।
कहां गई क्या जाने अमृत, सदा तापकी घरी ॥ ३२ ॥
सकल दिशामें छई दिपे है, निपुण वेदकी नीत ।
गिनती परकी कवन भजनसें, हरि करते हैं प्रीत ॥
सन्त सिद्ध सब देवसिद्धभी, बने रहें दृढ मीत ।
अब है कवन न्यूनता तांके, बनी ठनी है जीत ॥
गुरु अनुकूल इसीके भाषें, आत्मविद्या रीत ।
लखा ब्रह्म निजरूप एकला, अचल भई परतीत ॥
लखें रूप निज सबको जो है, होगा मृषा अतीत ।
पहली बातें स्मरण होत है, जिम स्वप्नेके गीत ॥
छकेरहें अमृतसें सहजे, विनशी सकल अनीत ।
शोकतापकी कथा कवन है, गई अविद्या वीत ॥ ३३ ॥
कहें कहांलौं महिमा यांकी, क्या क्या फल वरसए ।
कह भला नरकहीं भजनसें, देवपूज्यभी भए ॥

अवरनकी गिनती क्या है अब, अजभी नमन दए ।
सिद्ध देव सब करहिं प्रशंसा, दशादिश सुखहिं छए ॥
ईश्वर रहें सहायक निशदिन, सन्तप्रेम नित नए ।
दैवीसंपत् बसे प्रेमसें, आसुरिकारण हए ॥
राजादिक कर जोड खडे हैं, भजन तेज हुलसए ।
कंससरिस अघरूप एक दो, द्वेष करत घटगए ॥
अमृत भए भजनकी महिमा, मोहजाल सब जए ।
गिरिधरकृपा भेद सब काटा, अपने रङ्ग रए ॥ ३४ ॥
पहलीही थी बात सदाही, भूकों लगते भार ।
अब तो सबजगपूज्य भजनसें, भए विश्व सरदार ॥
भजनप्रभाव द्रवें गुरुईश्वर, खोलें निज भंडार ।
खुली आंख अब दीखन लागा, निजविवर्त्त संसार ॥
सबमें निजसुखतत्त्वप्रभाको, देखें खुले किवार ।
भये तत्त्व जो सबका आश्रय, सकल दीनता टार ॥
निशदिन वेद प्रशंसा चाहें, होत न माने हार ।
करन करावन झगडा छूटा, सोए पांउं पसार ॥
आप तमाशा लखें आपना, मनके नयन उघार ।
जगी ईशता सोती अमृत, भजन किये करतार ॥ ३५ ॥
शत्रु काल यमभी अब तो हो, ब्रह्मरूप अनुसरें ।
भए कालके काल भजनसें, कबहूं नाहिं मरें ॥
भजनकृपासें श्रीसद्गुरुभी, मनसें प्यार करें ।
तत्त्वप्रकाशें महावाक्यसें, कठिन अविद्या हरें ॥
भजनप्रभाव अखण्डितपदहीं, भए कालयम डरें ।
रहें अचल नहिं कबहूं डोलें, द्वैत न मनमें धरें ॥
द्वैताभाव सुमतिसें कबहूं, शोक न भयसें जरें ।
हसें देख तिनको जे व्यर्थहिं, मिथ्या जगहित लरें ॥
अमृत परअमृतपद पाया, दिनदिन सुखहिं फरें ।

दृढसंकल्प होत होतभी, टारे नाहिं टरें ॥ ३६ ॥
कभी याद तो आतीही है, प्रथम जानजो तई ।
क्या जागे हैं पुण्य भजनसें, मुदिता छाइ गई ॥
जहिं देखें तहिं सुखहीं दीखे, दशादिश सुखसें छई ।
तृष्णाशोक दृष्टि नहिं पडते, अब क्या बात भई ॥
भयकी बात कहां सब भागी, छेई द्वैत विसरई ।
अहो भजनकी महिमा माहिमा, छाइ रही नित नई ॥
ऐसी वृत्ति अखण्डित जागी, महाअविद्या हई ।
क्या अब भए एकरस सगरी, ममताहंता जई ॥
अमृत क्या मन शुद्ध भया है, विनशी सगरी बई ।
बोया हरा न होवे अद्भुत, आई ऊषरतई ॥ ३७ ॥
क्या जाने यह कैसी आई, परमपुण्यकी घरी ।
अमित कृपाहीं भई भजननें, कैसी विपता हरी ॥
माया भेदहुं रागद्वेषसें, फैली थी दुखलरी ।
जीव बनेथे दीन सदा थे, रही शोककी झरी ॥
ममताहंताचिन्तासेंभी, कबहूं नींद न परी ।
कामक्रोधकी आग जलाती, मनको अबलौं जरी ॥
तृष्णामेंहीं डूबरहे थे, थी सुखबेलि गरी ।
सदा रहे था वदन मलिनही, द्वैतवुद्धि थी फरी ॥
अमृत भजन कृपासें सद्गुरु, भेटे माया तरी ।
क्या जाने वह उक्त स्वप्नकी, बात कहां है धरी ॥ ३८ ॥

हरिगीतछंदः ।

आभासता है यही इसमें, बहिर्मुखताहीं रहे ।
है पडा मिथ्यामें सदाहीं, तापमें सुखकों चहे ॥
सब दुख मृषाही आबने हैं, भोगभी मिथ्या बना ।
है भोक्ता मिथ्या मृषाहीं, स्वप्न जाग्रत है तना ॥

१ द्वैतविस्मृति छाय रही है ।

सब वुध जगत्के पूछले, इम समझले गुरुवचनसें ।
फिर सदाहीं वचाहीं रहेगा, मृषा धूली अटनसें ॥
विविदिषाके विनसा न मिल है, सो न मिलत विवेक विन।
अमृत शुद्धि विन मिले सो नहिं, सो न मिलती भजन विन३९
अब क्या जीतन शेष रहा है, कालतलकभी मधुर जयो ।
विगड रहा था वहुत भजनसें, अवही तो भव सफल भयो ॥
फल नरजन्म ब्रह्महीं होना, महावाक्य विन सो न अयो ।
सो न होत विन गुरु रीझे सो, भजन विना किहिं पास गयो ॥
तृष्णा चिन्ता शोक विनाशन, क्या अवहीं आ भयो नयो ।
क्या जाने डर कहें कवनकों, द्वैत न भयो न है न लयो ॥
अमृत भजनप्रभाव कहे को, सदा सकलसुखदान ठयो ।
तिहिंको दुर्लभ कवन कहां किम, कृष्णभजन जिहिं वीज वयो ॥ ४० ॥

रजतमकी नहिं वात सुहावे, ऐसे भए सचेत ।
अहो पुण्य क्या दिपे भजनसें, शुद्ध भए कुल प्रेत ॥
कुलके भूत पिशाच प्रेत जे, पीडाहीकों देत ।
निजकुलीनके भजनभावसें, करें वहुतहीं हेत ॥
भजनीकुलसंवन्धहेतुसें, भए धर्मका खेत ।
गई क्रूरता मृदुता छाई, भई सात्त्विकी जेत ॥
भई भूतगति ऐसी जव को, कुलकी कहे सुनेत ।
भजनभावसंवन्धी पावन, इमहीं श्रुतिसंकेत ॥
भजनप्रभाव भूतकुल पायो, उत्तम देवनिकेत ।
धिग् धिग् अमृत पापरूप है, जो न नाम हरि लेत ॥४१॥
सव जगमें है सिद्ध छिपी कव, वेदमांहिंभी गाई ।
जासों परे न ऊच भजनसें, कैसी भई उचाई ॥
तुच्छ सत् जड दुखमय जगकी, थी कुदीनता छाई ।
जगकी इच्छाहीं निमित्त थी, जहिं तहिं रही लडाई ॥

रसस्पर्शरवरूप गन्धहित, परकी करी बडाई ।
सदा दीनता करभी जोरे, बहुत करी सिवकाई ॥
कहें भला क्या बात शरमकी, कही न जात सुनाई ।
स्वतःसिद्ध ईशत्व भूलके, दीन भए मति ताई ॥
भजनप्रभाव जातिकों सुमरा, अजा मारहीं खाई ।
भए सिंहके सिंह अचलहीं, अमृत निज-प्रभुताई ॥ ४२ ॥
कैसा है पद अहो बने अब, सकल जगत्की जान ।
छयो दशोदिश मोद भजनसें, भए सकल सुखखान ॥
पाया पद वह दुर्लभ जांका, करते वेद बखान ।
जिहिं सुखलवसें सुरपतिकोंभी, आनन्दी अभिमान ॥
सुखाभास जांकेसें विषयन-सें हो सुखी जहान ।
भजनप्रभाव भए अब सोई, नशा मृषा अज्ञान ॥
देखा खोज न कोई दाता, सुखका भजनसमान ।
सुख हैं आप करें सुखहींको, सदा सकलसुखदान ॥
भजन बिना जो सुखकों चाहे, विषमें अमृतभान ।
बुद्धि कहां है मलिन भया है, कहां रही पहचान ॥ ४३ ॥
क्या अब एकवारहीं उतरा, सिरसें जगश्रुतिभार ।
कैसी है यह बात भजनसें, गिया सकल अंधयार ॥
था अंधयार असतहीं जिसनें, रचा मृषा संसार ।
मृषा त्रिविधदुख भोग रहे कछु, सूझ न पार उरार ॥
दीन भए दुख मिथ्या परको, चहें न तनिक विचार ।
निजस्वरूपसुख तजा खुला है, जहिं तहिं दुखभंडार ॥
जासों मलिन शोकचिन्तातुर, तृष्णा बढी अपार ।
चाहे परसें मिले कहां सुख, उलटा ताप उदार ॥
भजनकृपा अद्वैत प्रकाशा, जो प्रकाश श्रुतिसार ।
क्या जाने वह क्या था अमृत, मिथ्याका सरदार ॥ ४४ ॥
दुखके मूल मूलकी जडभी, खोदखोदके खनी ।

दुखकी बात न एक भजनसें, सकलमोदहीं बनी ॥
इस वपुके गुणसें विरोध क्या, नहिं इसकेहीं धनी ।
जगत् सकल जगक्रिया हमहिमें, हमरी माया तनी ॥
जो गुण चाहे सहज प्रकाशे, हमरे रोक न अनी ।
किस बुधने है रोकी कबहूं, रज्जुसर्पकी जनी ॥
इसभी सुख है तिसभी सुखहीं, सकल बात सुखसनी ।
सदा रहें गुण अथवा विनशों, सदा मौज है घनी ॥
अमृत तहां विना सुख क्या है, जहां अविद्या हनी ।
सदा एकरस मस्त दिवाने, सुने न लौकिक भनी ॥ ४५ ॥
क्यूं भटकत है इतउत ऐसी, कवन करत है दात ।
क्या क्या मिले न देख भजनसें, सदा मोद बरसात ॥
शुचिमन भूमि भजनकारीरी, ईशकृपा शुभवात ।
महावाक्य गर्जन गुरु अम्बुद, तेज तडित हुलसात ॥
चिदानन्द जल तृषानाशसें, अचल शीतता आत ।
भय नहिं रहा अकालद्वैतका, दशदिश सुख न समात ॥
जहिं देखें तहिं अवर वस्तु नहिं, निजानन्द दरसात ।
सर्पादिक सब ठीक जेवडी, सदा अभेद सहात ॥
है अविवेकी अन्ध मन्द है, किम सूझे यह बात ।
अमृत जगगुरुकी क्या गाथा, उलटे हैं दिनरात ॥ ४६ ॥
ऐसा भला कवन है जगमें, चहे न कछु सुखदाई ।
निकट रहतभी अलभभजनसें, सकलधर्म मति छाई ॥
रागद्वेष नहिं चिन्ता तृष्णा, हिंसा सकल विलाई ।
नसी अविद्या अहो वेदमें, पापमूल जो गाई ॥
गई अहंता ममता विनशी, जगकी मरी सचाई ।
मनकोमल सबका सुखदायक, वचन छई मृदुताई ॥
मान गिया अभिमान मरा नहिं, चाह न लोकवडाई ।
मैं तूं यह वह तेरमेरकी, मति नहिं जगे जगाई ॥

अमृत भजनप्रभाव कथा क्या, किसके मनमें आई ।
कहँ कहांलौं दिखे न क्या अब, गई ईशता पाई ॥ ४७ ॥

दोहा ।

अर्पण तनुसर्वस्वका, प्रेमनामका जाप ।
हरिहीं है सर्वस्व नहिं, पर हरिको संताप ॥ ४८ ॥
सेवा हरिगुरुसन्तकी, ध्यान बचन अनुसार ।
अष्ट भजन तनु धर्मवपु, सुख परसुख दातार ॥ ४९ ॥

छंदः ।

लगतेहोंगे कथा कवन है, जगगुरुकों हम तीत ।
है कछु ऐसी बात भजनसें, भए जगत् विपरीत ॥
जगत्निशा है दिवस हमारा, इक अद्वैत प्रतीत ।
जगदिन निशा हमारी जिसमें, सोए हम अनचीत ॥
मैं तूं भेदभावसें निकसे, जागी वैदिक रीत ।
भए प्रसन्न शोक डर चिन्ता, गए सकारण वीत ॥
रहें मस्त परसुखनिजहींसें, उठी जगत्सें प्रीत ।
मिथ्याभी दुखहीं जगमाया, जिम स्वप्नेकी ईत ॥
अमृत सदा अचल नहिं डोले, आप आपने मीत ।
भजन खड्गले माया मारी, पाई निर्मल जीत ॥ ५० ॥
पिछली बातें याद होतहीं, आती है क्या हसी ।
जगगुरुकी थी बात भजनसें, कैसी सुमति बसी ॥
परको सत् लखती दुखहीं था, स्वप्न कुमति विनसी ।
निज बिन अबतो नजर न आवे, क्या शुभदृष्टि लसी ॥
भजनप्रभाव जगी क्या शीतल, दृष्टि न पटतर ससी ।
उष्ण न होवे आग लगेभी, गुरुविद्या बरसी ॥
धन्य भजन गुरु धन्य धन्य है, विद्या चितिदरसी ।
क्या जाने अब द्वैत कहां है, कहां कुमति तरसी ॥
अमृत राग न द्वेष गुणनमें, मति प्रारब्ध फसी ।

वन्ध्यासुतके मारनहित को, बुध ले करमें असी ॥ ५१ ॥
भरे न घाव धरो तुम चाहे, ब्रह्मलोकलौं फहे ।
देत यहीं संतोष भजनसें, सब सुख साथ रहे ॥
रहे न यमका कतहूंभी डर, आज्ञा यमहुँ वहे ।
सकल शक्तिमय शेष शक्ति क्या, भजन महत्त्व कहे ॥
बहुत पुण्यभागीहीं कोई, भजन प्रमोद लहे ।
जाके मस्तक भाग न सो विन, भजन कुताप सहे ॥
भजन विना सुख चाहे जो सो, वन्ध्यासुतहिं गहे ।
सुखहीं आप देत सुख अमृत, को सम भजन अहे ॥५२॥
विना बुलाएहीं आके अब, कैसे सुखसें धसे ।
धर्माकर्षण भजनमन्त्रसें, सकल धर्म आ वसे ॥
भजनमूल है सब धर्मनका, बुधवेदनमें लसे ।
अङ्गहीनभी सकल कर्मशुभ, निजनिजफलको कसे ॥
गिरिधरजी अनुकूल भए हैं, सकल विघ्नहूं नसे ।
भयो धर्ममय तनु मन सबहीं, सुखहिं दशोदिश रसे ॥
भयो जन्मफल सकल न बाकी, गिरिधरजीसें फसे ।
छयो प्रकाश ब्रह्मयुगका दृढ, त्रिविधताप भय ग्रसे ॥
भजन विना सब दुखहीं पावें, जिम मृगतृष्णा ससे ।
भजनहीनकोही ध्रुव अमृत, कालसर्पभी डसे ॥ ५३ ॥
सकल पापका नाश शुद्धिकों, करते हैं हरिनामहि हैं ।
जिसके आनेसें अरिमनभी, मरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
गिरिधरकों कर अभिमुख साचे, गुरुकोंभी अनुकूल करें ।
महावाक्य दे कठिन अविद्या, हरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
अजामेलअघ पुत्रनाममिस, नारायणपद वास करें ।
व्याजी होकेभी यमभटसें, लरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
उत्तरअयन विना निजप्राण न, तजे सिद्ध है भीषमने ।
कालबलीसेंभी मन भावत, अरते हैं हरिनामहिं हैं ॥

जन्मपाप है जांका धिग् धिग्, सकल जगत्में होती है ।
शवरीकाभी यश पावन वि-स्तरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
चाहे लौकिकमोद भजनसुख, चाहे ब्रह्मलोकसुख ले ।
चाहे सिद्धि मुक्ति ले सव फल, फरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
चाहे द्विज हो शूद्र श्वपच हो, भील यवन हो कोई हो ।
मित्र वने सव जातीके अनु-सरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
डूवें आप अवरकों वोरें, साच स्वभाव जगत् जाने ।
निजस्वभाव तज पाहनभी ध्रुव, तरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
जिनकों कतहुँ न पूछे कोई, सदा निरादर होता था ।
जिहिं वलसें सुरपतिसेंभी उ-च्छरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
वहुत पुरुष व्रत करें दानहूं, ब्रह्मचर्य तप पाठ करें ।
जिहिं लग सव यज्ञादिकर्म आ-चरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
त्रिविधताप भय चिन्ता तृष्णा, शोकादिकसें पूररहा ।
इस दुस्तर भवसागरसें उ-द्धरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
जीव कदापि अनादिकालसें, पूर्णताकों नहिं पहुंचा ।
अनिक जन्मके भूखेकों दृढ, भरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
दे अद्वैततत्त्वविज्ञानहिं, भयसमूलकों दूर करें ।
जिहिं वलसें सव कर्म शुभाशुभ, जरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
अवर किसीकी कथा कवन है, अवभी क्या नहिं समझ पडी ।
जांके जपसें कालादिकभी, डरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
कटिमें नहिं कौपीन जांहिं वल, मस्ती ऐसी छाई है ।
सुरपतिकोंभी मनमें सन्त न, धरते हैं हरिनामहिं हैं ॥
अति पामर जे तजे नरकके, श्रद्धासें नित जाप करें ।
अमृत होवें कवहुँ न जन्मे, मरते हैं हरिनामहिं हैं ॥ ५४ ॥
श्रवणादिक नहिं साङ्ग वने हैं, निष्फलताई छाई ।
सकल क्रियामें इसी हेतुसें, केवल भजन वडाई ॥
यज्ञादिकमें ताप वहुत हैं, ताप विषय फल ताई ।

सुखहीं भजन करें सुखरूपहिं, भ्रम जीवता मिटाई ॥
मुक्ति मोद सुख भजनमांहिं वड, छोटहुँ कहत बुराई ।
मुक्त चहें सुख भजन कहें श्री-भाष्यकार सुखदाई ॥
भाष्यकार हैं सदा मुक्त यह, व्यास कृपालु सुनाई ।
पृथिवीभार उतारनहित शिव, शंकर देह बनाई ॥
भाष्यकारवच मृषा न होवे, लखले तज जडताई ।
अमृत भजिये सदा नामकों, तज कुतर्क समुदाई ॥ ५५ ॥

हरिगीतछंदः ।

जपले भला यदि नामकों, तज दम्भ हिंसा कपटकों ।
अवभी न दीखे संगवलसें, देख माया झपटकों ॥
तज काम क्रोध विमोह तृष्णा, लोभ मद जगशोककों ।
दुख मान तजदे मानले दुख, है चहे मत लोककों ॥
निन्दा न कर अव किसीकी, सव ब्रह्म है श्रुतिवचनमें ।
विश्वास कर है तारतम्य, मृषा गुणनकी रचनमें ॥
कोई तज्ज्ञ है स्वप्नमें, कोई विषयमें लिप्त है ।
कोई जडी हो सो रहा सव, मृषा केवल दिप्त है ॥
लख हानि लाभ समानहीं है, स्वप्नकी सव वात है ।
बुध पूछले श्रुति देखले, जग स्वप्नकीहीं जात है ॥
तनुमें न रख कछु प्रेम जव हो, रोग सहज निवारले ।
यदि है असाध्य न यत्न कर, जड मृषा हैं दृढ धारले ॥
मत जगवडाई चाह भ्रममें, फसे जलती आग दे ।
रख द्विविधशौच कृपा सकलपर, संग जगसें भाग दे ॥
तज रागद्वेष न राख मत्सर, ईर्ष्याकोंही छोडदे ।
साचेहिं गुरुकों सेवले दृढ, कृष्णमें मन जोडदे ॥
आहार अल्प न नींद बहुती, नाम है या ध्यान है ।
इम भजत हरि नहिं मिलें अमृत, शपथ भाष जमान है ५६
साच कहदे साच कहदे, है छलनके ग्रामका ।

कछु समझ देख निहार सुनरे, दम्भ मत कर नामका ॥
है नाममें क्या कमी मत बन, दास मिथ्या कामका ।
इस नामसेंहीं किम न मांगे, फिकर यदि धनधामका ॥
मत बेच जगमें नामकों, क्यूं खात अन्न हरामका ।
क्या आंख फूटी कछु न दीखे, घिरा है सर सामका ॥
जा कल्पतरुढिग चहे विषसें, मोद दग्धा घासका ।
क्या मति भई है देखले फल, है विधाता वामका ॥
अमृत प्रकट हरिदासता कर, दास बनता दासका ।
क्या रखा है इस जगत्में है, मरा पुतला चामका ॥ ९७ ॥

शंकरछंदः ।

मीत जगके दिखनकोंहीं, मधु रहें हैं तीत ।
भजले मिले हैं मिलें फिर क्या, नाम जैसे मीत ॥
जगतापमेंहीं फसरहा है, गए बहुभव वीत ।
क्या संगबलसें भया निश्चय, सकलहीं विपरीत ॥
सुखकों चहे क्षणक्षण जगत्सें, सकल दुखकी रीत ।
सुख रहे क्या जाने कहां, नित तापके हैं गीत ॥
विन नामके नहिं सुख मिले, को सके माया जीत ।
ध्रुव पूछले बुधसकल जगके, निर्खले श्रुतिनीत ॥
सब मीत जगके मीत अपने, अर्थकी परतीत ।
अमृत सकल बहजात इम जिम, उदक बारूभीत ॥ ९८ ॥
सुख जपीकेकों देखके मन, होत कैसा दंग ।
तज भटकनाकों मान करले, नामका सुखसंग ॥
जब पडेगा नहिं कबहुँ सुखनिधि, भजनमें कछु भंग ।
फिर आपहीं नामी बनोंगे, बढे मोद उमंग ॥
फिर उठेंगे मैं ब्रह्महींहूं, अचल क्षेमतरङ्ग ।
फिर नामध्यान तिहारहों, जिम पतित पावन गङ्ग ॥
फिर नसेंगे तबसें सहजहीं, मोह क्रोध अनङ्ग ।

फिर अहं ममता रागद्वेषहुं, तजेंगे निज अङ्ग ॥
फिर निजखुदाई दिपेगी ध्रुव, चढेगा निजरङ्ग ।
फिर शोक तृष्णा ताप चिंता, मरेंगे तज जंग ॥
कर ईशअभिमुख हरे माया, जीवमति उत्तंग ।
अमृत विना हरिनामके हैं, कवन ऐसा ढंग ॥ ५९ ॥
कवतक रहेगा देहमेंही, दिखे नांहिं त्रिशूल ।
लखवार सुनले कहेंगेहीं, भजन है सुखमूल ॥
अघपुण्यजल है नदी वहती, मकर फलत्रयशूल ।
वडभ्रमर शोकतरङ्ग तृष्णा, अहंममता कूल ॥
ध्रुव है डुवाती पकड वलनिधि, शत्रु अपनी भूल ।
गोत कुटुम्भ कुमोह मुर्छा, पडत जहिं तहिं हूल ॥
दैशिक मलाह सुवाक्य नौका, वात हरि अनुकूल ।
कारण भजनसें पार मिल है, जहां मूल न तूल ॥
अमृत मृषाकों तज गए, इक रही मस्ती झूल ।
जगमृषामेंभी तिम रहें जिम, उदक पङ्कजफूल ॥ ६० ॥
वुधभी कहेंहैं वेदभी तो, सत्यवचन सुहात ।
हमभी कहेंहैं सदा रखले, भजनकीहीं वात ॥
सव वात जगकी तापदायक, करत है निज घात ।
भय काम क्रोध विमोह तृष्णा, शोक मद फैलात ॥
भयआदि फैले जव भला फिर, सुख कहां दरसात ।
सुखवुद्धि भ्रमसें मूढ जगमें, पचत हैं दिनरात ॥
यदि होत सुख जगमें भला फिर, कतहुँ तो हुलसात ।
जिसकों पूछें क्या सुखी है सव, दुखहिंकी वतलात ॥
दृढनियमसें सुखभजनराते, जगत् दूर परात ।
कुछ है न दुखका हेतु रहती, सुखहींकी वरसात ॥
अमृत भजन विन सुख कहां, अनुभूत श्रुति वुध गात ।
सो सन्तपदरजसेवने विन, कहां कव है आत ॥ ६१ ॥

दोहा ।

संतसंगसें हरिकथा, तासों हरिमें प्रेम ।
तासों हरिअनुकूलता, तासों निजसुख क्षेम ॥ ६२ ॥
जगत्के द्रवार सवहीं, पाप हैं या भार ।
कवतक सहे दुख मानले, भज सन्तका द्रवार ॥
है सेवनेके योग्य सुखवपु, यही जगत् मझार ।
फिर अवरके द्रवारकी, नहिं जगे आस असार ॥
आके तनिक तो देखले, क्या क्या भरे भंडार ।
मम वचनकों फिर पूजहो, वहु धन्यवाद उचार ॥
फिर तजोगे द्रवार कव, यह कहकही दीवार ।
तज दीनताकों वनोंगे, सब जगत्का आधार ॥
अव मानले सुखकथनकों, तज मृषा जगकी रार ।
अमृत सन्तद्रवारहीं, जग परे दुखसें पार ॥ ६३ ॥

हरिगीतछंदः ।

अवर कवन है ऐसा जगमें, यही नशेसें माती है ।
बडे भाग्यका फल है सेवा, भाग्यविना नहिं आती है ॥
बडे पुण्य हैं जांके तांको, संतसेवना भाती है ।
अल्प पुण्यसें भला कहां कब, किसकों मुख दिखलाती है ॥
सुरमणि कामधेनु कामद्तरु, इनकीभी दुखजाती है ।
यह देते हैं विषयतापकों, यह परसुखकी दाती है ॥
है बल ऐसा ब्रह्मलोकलौं, नीचेहीं दिखलाती है ।
साची वात हमारी किसकों, विन शुभतेज सुहाती है ॥
मिटे न जगकी सेवा जौलौं, यह नहिं दृढ हुलसाती है ।
अमृत जब यह लसे शीघ्र मति, परमानन्द समाती है ६४

छंदः ।

इस विन भला कब मिटत है यह, कठिनमनकी जीवजरणी॥
श्रुति जगत्मेंभी सिद्ध है, है सन्तसेवा मोदकरणी ॥
दुखत्रिविध भवके तरणकों यह, वनी सबकों सहजतरणी ।

सब जग अविद्या पञ्चपर्वा, शोकचिन्ताकामहरणी ॥
शुभबीज अविचल ब्रह्मविद्याका, सदा सुखफूलफरणी ।
इससेंहि मन हो दैवीसंपत्, उपजनेके योग्य धरणी ॥
आसुरीसंपत् तापवल्ली, काटनेको है कतरणी ।
सब पाप नाशे शान्तितरुको, यही मोदद उदकभरणी ॥
निजतेजपावक प्रकटनेको, परमनिर्मल सुखद अरणी ।
अमृत यही है कर्मगति अति, कठिन विनश्रमहि हरणी ६७
हैं सन्त ब्रह्मस्वरूप नहिं, अज्ञान ज्ञान प्रसंग है ।
करते स्वजनको ब्रह्मही जिम, सकल जलको गंग है ॥
नहिं उठित तनिक तरङ्ग जग, अध्यस्तका सुख प्राण है ।
चित्सदानन्द न भेद माया, द्वैत नहिं अभिमान हैं ॥
मनवचन इन्द्रियगति जहांलौं, तिस मृपासें पार हैं ।
तमहेतुसें ध्रुव सकल जगके, इनहिसें अवतार हैं ॥
नहिं गुण क्रिया नहिं जाति नाहिं, उपाधि अल्प विकार है।
सब श्रुति अतद्व्यावृत्तिसेंही, डरी करत पुकार है ॥
सब जगत्को विषयादिमें दें, निजाभास प्रमोदको ।
हैं आप सहजस्वरूप सुखही, मूल जगत्विनोदको ॥
सब द्वैतजगको स्वप्नजगसें, अल्प अधिक न देखते ।
सुखरूप निज विन अवरको, नहि कबहुँ कतहूं पेखते ॥
इम रागद्वेष न होत सहज-स्वभावसें कतहूं तनिक ।
नहिं हेतु पुण्य न पाप है कछु, एक हैं नहिं हैं अनिक ॥
मानस न इन्द्रिय देहधर्महुं, पहुंचते हैं परे हैं ।
झगडे जगत्के स्वप्नके सब, ताकमेंही धरे हैं ॥
नहिं चाह मान निषेध निन्दामें, सदा समहीं रहें ।
प्रारब्धफलके आतहीं न, विकारमें कबहूं बहें ॥
नहिं दम्भ माया शोक भय कछु, सदा इकरसहीं बने ।
निज विन सकल मिथ्या लखें, कतहूं न कछु आग्रह तने॥

नहिं हर्ष शोक विवाद मत्सर, ईर्ष्या हिंसा नहीं ।
प्रियसत्यवादी दयानिधि नहिं, डोलते कवहूं कहीं ॥
शम दम मृदुलता शील उत्तम, शत्रुकाभी हित करें ।
परकी बडाईकों न कवहूं, अल्पभी मनसें धरें ॥
जिस भजनसें यह दृढ मिलाहै, सो स्वभाव न टरत है ।
जो हेतु भोजनआदिमें सो, भजनको आहरत है ॥
श्रीकृष्णगुरुकों पूजते हैं, वृद्धका आदर करें ।
हों बाह्य कवहूं कवहुँ भीतर, सरलतासें आचरें ॥
सुखवपु भरेहैं शिष्टतासें, दयासें जनतम हरें ।
अमृत सदा बलिहार इनके, जो चहें सोही करें ॥ ६६ ॥

दोहा ।

सन्तोसेंहीं मिलत है, योग सकलसुखखान ।
मनही कोमल प्रेम हो, हरिमें हरिका ज्ञान ॥ ६७ ॥

हरिगीतछंदः ।

मलहर मुटाईको हरे ध्रुव, करे भवकों अणु सही ।
मनकों करेहिं विवेकयोग्यहुँ, प्राणदमन निगम कही ॥
है प्राणअनुग स्वभाव मनका, प्राण अणु जब अणु मती ।
हो योग्यता हरिमें धसनकी, होत शुभ तन्वी गती ॥
कुम्भकशक्ति जिम बढे तिम, मन चञ्चलत्व सहज तजे ।
लघुता करे तनुमें हरे कफ, प्राण दमन सुमति सजे ॥
तासों जगे संयम अचल, अभिलषित अपने रूपसें ।
मल कटे इम होवे विरागहुँ, सकल जग दुखकूपसें ॥
आसन नियम यम अवर प्रत्या-हार आठों अङ्ग हैं ।
सुखयोग संप्रज्ञातके, अमृत सुखद जिम गंग हैं ॥ ६८ ॥

छंदः ।

परम्परासें ब्रह्मज्ञानमें, कारण वेद सुनाए ।
बडे पुण्यकाही फल प्राणा-याम चार सुखछाए ॥

श्वासहिंकर होवे गतिछेदन, सो पूरक मन भाए ।
कर प्रश्वासहिं छेदन गतिका, सो रेचक हुलसाए ॥
सकृतयतनसें सहजश्वासप्र-श्वास रहन नहिं पाए ।
कुम्भकसों जिम तप्तलोहमें, बिन्दु प्राण सकुचाए ॥
यह नहिं देखे युगके संख्या, कालादिक विलगाए ।
चौथा देख होतहै तिनके, संख्यादिक जो गाए ॥
युगलअभावरूपही चौथे, भूमीजय क्रमताए ।
गुरु विन अमृत भेद कठिन है, किसके मनमें आए ॥६९॥

जाने बुध जे निपुणबुद्धिके, पातञ्जल दरसाए ।
प्रथम तीन हैं त्रिवपु सुखालय, पुष्कलसत्व सुहाए ॥
है मात्रा छत्तीसहिं मृदुकी, मध्यमकी द्विगुणाए ।
त्रिगुण तीव्रकी इम दिन पक्षहुँ, मास वर्ष सुख छाए ॥
देश वितस्ति हस्तआदिकही, तूलकादि बतलाए ।
भीतर चींटीस्पर्शतुल्यही, देशबोधकों जाए ॥
प्राणायाम चतुर्विध अमृत, जिनके मनमें भाए ।
मिटे प्रकाशावर्ण धारणा, जगे मोद बरसाए ॥ ७० ॥

प्राण छेडना सर्प छेडना, अग्निपानसें डरियें ।
दे अविवेक तापको गुरुविन, प्राणायाम न करिये ॥
जीवनमें है हेतु प्राणही, बिगडनसेंहीं मरिये ।
गुरुविन किये न मिले तनिक फल, रोगआगमें जरिये ॥
गुरुभी हो साचा अभिज्ञहीं, कच्चेगुरुसें टरिये ।
आप न जाने राह अन्ध है, तासों किम निस्तरिये ॥
खोज समझके साचेगुरुकों, तांके पईयां परिये ।
तासों मार्ग सीख प्राणका, निर्भय हो आचरिये ॥
प्राणायामजन्य गरमीकों, गुरु मार्गसें हरिये ।
अमृत शीतल प्राणदमन विन, तांकों किम उद्धरिये ॥७१॥

हरिगीतछंदः ।

हिंसा त्रिविधहीं तजे तनुमन, वचनकीकों यतनसें ।
जब यह तजी सबहीं तजा अघ, अब न शंका पतनसें ॥
कहते अहिंसा इसीको हैं, हेतु मैत्रीका यही ।
सब जीव सन्निधिके सहजही, वैरकों त्यागें सही ॥
मृगसिंह आदिक निकटवर्त्ती, परस्पर मैत्री भजें ।
सब संगहीं विचरें न कबहूं, प्रेम मधुसुखकों तजें ॥
सर्पादि मैत्रीको भजें, सुखहीं चहें ध्रुव सर्वदा ।
कारण कवन है फिर भला अब, ताप किम होवे कदा ॥
नहिं आधिदैविकदुख रहा, नहिं आधिभौतिक लागता ।
इक रहा द्विविध शरीरका, सो ज्ञान विन नहिं भागता ॥
जब ज्ञान होता है अहंता, देहसें मिटजात है ।
दुख है न साक्षीकों कहीं, अमृत जगत्श्रुति गात है ॥७२॥
जिम दृष्ट श्रुत अनुमित परीक्षित, तिमहिं मनवाणी लसें ।
कतहूं न कबहूं किमहुँ उलटे, होइ अल्पहुँभी वसें ॥
नहिं वञ्चिता भ्रान्ता नहीं, प्रतिपत्ति वन्ध्यावागजो ।
नहिं वञ्चिका मधुरा प्रियाहीं, सुखद सत्य विभागसो ॥
वाणी प्रवृत्ता भूतहित नहिं, भूतके उपघातकों ।
जो सत्यभी उपघातकारण, पापकीहीं बात सो ॥
नहिं पुण्य है आभासहीं, यासों नरकतमहीं मिले ।
सब सुकृत अपने क्षीणहों, सुविवेकशक्ति सकल टले ॥
वचसिद्धि होवे सत्यसें जिम, कहे तिमहीं हो दिपे ।
कीना नहीं कर देखले क्युं, सन्तमार्गसें छिपे ॥
अमृत सत्य है यही जो हो, सत्य सबमें सुख भरे ।
जो भूतदुखकर सत्यभी, श्रेयस्काम तासों टरे ॥ ७३ ॥
अस्तेय विधि विन वस्तु परका, ग्रहण नहिं श्रुति कहत है ।
विधि विन ग्रहण जो करत है, सो पापनदमें बहत है ॥
डर रहे स्वामीराजआदिक-का सदा भयभीत है ।

निन्दा रहे जहिं तहिं सदा, मन मलिन यांकी रीत है ॥
परपीडनेसें वस्तुहरणेसें-हिं पापधारा वही ।
जासों पडे है अन्धतममें, शोकचिन्ता ग्रासही ॥
है मन्दमति नहिं समझता निजदुखसरिस दुख अवरका ।
जीता कहां है मन्त्र जागा, ठीक मुरदा कवरका ॥
है भार धरणीपर पडा, परतापलगहीं यतन है ।
डरशोकचिन्ताग्रसा इंहां, वहां तममें पतन है ॥
अस्तेयसें नहि ताप एको, उक्त निकटहुँ आत है ।
मन अभय निर्मल सदा शोभत, धर्मकी वरसात है ॥
अस्तेयसें सच रत्न भूतल, छिपेभी भासें सदा ।
दे दानकों अमृत भरे वहु, पुण्यसेंभी सर्वदा ॥ ७४ ॥
दर्शन श्रवण चिन्तन वडाई, रहःसंग प्रियत्वधी ।
आलाप संगी संगरति, नवरीति मैथुनकी कही ॥
यांको तजन है ब्रह्मचर्य, प्रतापनिधि मति पुण्य अति ।
मिलता कहां है सन्तहरिगुरु-कृपा विन है कठिन गति ॥
इससें वढे सुविवेकका वल, तेज जिम दिनकर दिपे ।
दीनता चिन्ता शोक जावे, मन सवल डरभी छिपे ॥
केवल इसीसें मिले अजका, लोक सुरसिरताज जो ।
है जगतमें इससरिस लखले, अवर सुखका काज को ॥
कवहूं न विन्दु तनिकहुँ जिनका, गिरे नैष्ठिक नाम है ।
फिर सन्तहरिगुरुका सहज, दृढ प्यारसेंही काम है ॥
अणिमादिका उपचय करे, तारादि आठों आ वसें ।
हो ब्रह्मचर्यप्रभावसें गुरु, अमर अमृत दुखनसें ॥ ७५ ॥
अणिमा शिलाआवेशवल, लघिमा किरणसेंभी गमन ।
महिमा महान् होना वशित्वहि, भूतभौतिक वश करन ॥
शशिआदि परसें अङ्गुलीसें, प्राप्ति परसे जव चहे ।
प्राकाम्य इच्छाका न मिटना, उदक जिम भूमें रहे ॥

ईशत्व रचना भूतभौतिक-की सत्यसंकल्पता ।
अध्यात्मविद्याकाहिं गुरुसें, पठन तार अकल्पता ॥
फिर अर्थज्ञान सुतार यह दो, श्रवणभी कहलात हैं ।
फिरतार तार सुमननसें, सन्देह सब मिट जात हैं ॥
संवादकोंकी प्राप्ति रम्यक, सदा मुदित विवेककी ।
अति शुद्धि मुदित प्रमोद, अवरहुं मोदमाना आठही ॥
षोडश सिद्धिहि ब्रह्मचर्य, प्रभावसें जागे सही ।
अमृत भला हो कवन इस सम, सिद्ध श्रुति बुधभी कही७६
अर्जनहुं रक्षा क्षयहुं हिंसा, संग दोष निहारके ।
अस्वीकरण सब वस्तुका, कहते अपरिग्रह पारके ॥
हो संगसेंहीं राग फिर हो, चाह भोगहुं आजगे ।
इन्द्रिय कुशलता अघ बढे, सब स्वस्थता मनकी भगे ॥
बिन भूतपीडाके न होवे, भोग सब जग जानता ।
हो अन्धतम तासों बढे, मनमें सदाहि मलिनता ॥
श्रीहरिस्मरण सुख विमुखता का, व्याप्यविषय कुरस सही ।
फिर बसत होगा कहूं सुख, इसके पाप धारावही ॥
विषयीसंगसें राग हो, फिर काम होहिं सारवरी ।
संताप होभी क्रोध हो, फिर मोह हो विपतापरी ॥
फिर होत रक्षाजन्य दुख, परिणामसें प्रतिदिन विरस ।
डर चोर नृपग्रह आग आदिकका, रहे दृढ सदावस ॥
संयोग व्याप्य वियोगका है, होत सो जब प्राणभी ।
चलने लगें हो ताप बहुतहि, सकल शोक निदानही ॥
फिर विषयसुखके संस्कारहुं, जगें तिनसें फिर चहे ।
इक इक विषयसें पापआशय, आठकी धारा वहे ॥
फिर अन्धतममें भोग दुखको, फिर विषयदुखमें पडे ।
हैं पूज्य तेही सुखी जिनके, मुखविषयसें दृढ मुडे ॥
अमृत अपरिग्रहसें कथंता, जन्म सबकी भान हो ।

हम यह भए जैसे कवन, होंगे सकलही ज्ञानहो ॥ ७७ ॥
मन आतही हरि भिन्नमें, ईश्वर धर्म सब भूलते ।
अब रहा बाकी क्या अधर्महि, निडर सुखसें झूलते ॥
दृढ सब अनीतिहि छा रही, दुख त्रिविध सहजे आवसे ।
छल शोक चिन्ता मोह हिंसा, काम मद्रूह सजलसे ॥
बडचक्रवर्त्ति भया भला, क्या शोकचिन्ताने दहा ।
इक राख केवल ताज सिरपै, दम्भसेंही सुख रहा ॥
होना पडे है दीन बहुका, अन्तमें तमही मिले ।
अमृत पदार्थ चाहसें निश-दिवस दुखमेंही पिले ॥ ७८ ॥
योषित् चाह जब जगे, सब दुखभी गणेश मनात हैं ।
सुन चाह मलका नामही, निज ब्रह्मतेज परात हैं ॥
बहु दीनतादिक तापसेंभी, नहीं मिले दुखही जगें ।
आभा गई चिन्ता रही, श्रम व्यर्थ जडतासें पगें ॥
यदि यतनसें निर्यतनसें, योषित् मिले दुखही बढे ।
यदि है कुरूप कुचाल कटु वच, सदा पतिके सिर चढे ॥
है अति भयंकर खातही है, बोल निकसें आगसें ।
नहिं वचन माने मलिन है, को भयो मोद सुहागसें ॥
यदि है सुरूप सुवचन मधु, आज्ञा करी सेवापरा ।
पतिनिज खिलौनेको विमुख, कर सकल घर अघसें भरा ॥
जब रोग कोई जगे देह स्वभाव, है तब सकल घर ।
भय शोक चिन्ता तापघर, चाहें न निकसें प्राणपर ॥
बहु यतनसेंभी सो न उबरे, मरे मरही जात हैं ।
क्या भया जीते दिखें भस्त्रा, सरिस प्राण दिखात हैं ॥
निष्पीडना कर ईखको, जिम सकल सार निकालके ।
फैंके फोक जिम खींच बलहिं, विवेक शक्तिहिं जारके ॥
अब रोग आ व्यापें अबलमें, निशादिवस तपता रहे ।
फिर हरिविमुखही मरचले, कर पापसंग्रह दुख गहे ॥

सब पापकारण हरिविमुख-ताका यही फल होत है ।
बहुकाल अन्धे नरकमें पड, आयु दुखमें खोत है ॥
जिम पुरुषकों दे नरक योषित्, पुरुष तिमहीं नारकों ।
है चतुर वह जो भजे हरिकों, तजे सब व्यवहारकों ॥
अमृत विवेक न अन्ध वश, इक सुखाभासहिंके भए ।
ध्रुव भोग बहु दुख जन्मभर, फिर नरककों सूधे गए॥७९॥
पुन्नरकत्राता पुत्र है यह, वाक्य तिनपरहीं दुरा ।
जिनके विवेक न कर्मरत, नहिं जानते अच्छा बुरा ॥
ऋण पितरका कर दूर, पितुकी नरकरसें रक्षा करें ।
सोभी पुत्र यदि धर्ममय, नहिं नरककों दूना भरें ॥
अब अल्पहित संभावनासें, पुत्रलग दुख अनिकहीं ।
भोगे वही जिसके विवेक न, भयो कबहूं तनिकभी ॥
यदि पुत्रसें उत्कृष्टगति, मिलती तदा वाचस्पती ।
किम ग्राम्यधर्महिं त्यागते-थी अधिक योषित्की रती ॥
करते विवाहहिं किम न भीषम, पुत्रसें यदि बहुत फल ।
नैष्ठिक न जागता नाम कबहूं, पुत्रमें यदि होत बल ॥
नरजन्म है हरिप्रेम सब सुख-मूल निजसुखके लिये ।
नहिं सुखाभास कुरोग लग, वह चहें जिनके मल हिये ॥
उत्पादना सुतआदिकी, बहुजन्ममें बहुती करी ।
नरजन्म पाभी करे सो दे, रत्न जाहिं कौडी खरी ॥
सब तजन किम हरिकों भजे, किम जन्मलाभ न लेत है ।
जिसकों तरसते देव सो, नरजन्म दुखकों देत है ॥
पुत्रादि सब हैं तापहीं तज, सकलकों हरिकों भजें ।
अमृत चतुर हैं मिले विद्या, ब्रह्म हो माया तजें ॥ ८० ॥
योषित् विना नहिं पुत्र होवे, पुत्रके संकल्पसें ।
दुख सकल योषितकेहुं भोगन, पडत हैं अविकल्पसें ॥
क्या समक्ष होगा गर्भ कब, किम होत नहिं क्या बात हैं ।

बहुते उपाय करे न अबलौं, सफल इक दरसात है ॥
कोरी चमारहुं पूज बैठे, हा कर्म अब क्या करें ।
हमको रखे को जगत्में, अब कवन पईयां जा परें ॥
हम तसहीं निशदिन रहें, यदि गर्भहो सन्देहज्वर ।
लागारहे क्या समझ कन्या, या कुमर है मोदकर ॥
डर रहें आवविपातका नित, भूत प्रेत मनात हैं ।
नहिं रोग कोई होइ योपित्-कों सदा यह ध्यात हैं ॥
यदि आब हो मरनेलगें, कन्या भई तो मुख मरे ।
यदि सुत भया क्षणएक फूले, धन लुटाए घरघरे ॥
माता जगी खसरा उठा, खरके चरण पूजन लगे ।
शुभकर्म दानस्नानआदिक, सकल घरसें डर भगे ॥
इस रोगसें पर सुत मरण, कर स्मरण सुस्ती छारही ।
नहिं खान पान सुहावता, चिन्ताहिं केवल भारही ॥
यदि मरगिया तो मरेसमहीं, बचा तो कछु सुख भया ।
अब ज्वर भया कफ व्रण भया, इम सदा तापहिं नित नया ॥
जो मिले उत्तम वस्तु सुतको, देत आप न खात हैं ।
पालनलिये परपीडनादिक, पाप बहुत कुमात हैं ॥
यदि भोग बहुदुख पला, पाठनकी कल्पना दुख जगा ।
फिर करा ताप विवाह अपना, मोद सगराहीं भगा ॥
यदि है कुचाल स्वभाग ले, कर वैर पितुसें हो जुदा ।
निशदिवस दुखके दानकोंहीं, समझता है मन मुदा ॥
सुन सुतकुचाल कुतापहीं, निन्दाजनित पुनि तापहीं ।
इम भोग दुख जापडें तममें, जगा पुत्रप्रतापहीं ॥
यदि हो सुचाल मृदुलवचन-मधु मातपितुसेवा करे ।
कर विनति आदर पाल आज्ञा, युगलके मनकों हरे ॥
फिर मातपितु सुतकी, बडाईहीं करें आसक्त हैं ।
गुरु ईश धर्महु भया:सुतहीं, इक इसीके भक्त हैं ॥

इम सदा गुरुहरिनिजविमुखता, बहु अनीति अधर्महीं ।
छारहे सुतहित पाप बहुते, करें कठिन कुकर्महीं ॥
हो भ्रष्ट श्रुतिमगसें सकल-दुख भोग जा तमसें पडे ।
नहिं संग कोईभी गिया, जिहिं लाग अघ बहुते जुडे ॥
सुत नम्रसें सुत मन्द उत्तम, रागकों नहिं जनत है ।
इम नारिभी जो मन्द सहज, विरागकोंही तनत है ॥
है नर वही वह चतुर पण्डित, वही है सच जानले ।
अमृत सकल तज जो भजे, हरिकों निजहिं पहचानले ८१
धनकी न करिये चाह सब, दुखमूल धन पहचानले ।
इसकेहिं होते नारि सुत, दुखभी बढे सच मानले ॥
धनको पुमर्थकथन सन्तमग-बाह्य मन्दनके लिये ।
जिनने न कबहूं सन्तसंगति, हरिवचन श्रवणहु किये ॥
जब चाह धनकी जगी चिंता, साथहीं ध्रुव आवती ।
क्या करें किम धन मिलेगा मति, हरिभजन तज ध्यावती ॥
बहु धनमदान्धक पुरुषकी, अतिदीन हो सेवा करें ।
नितहीं निरादर सहें क्रोधहुँ, मार आज्ञा आचरें ॥
हा दैव हमकों धन न दीना, बोल कैसे सहत हैं ।
हम सबहिं आज्ञा आचरें, कटुवचन तौभी कहत हैं ॥
कर वणज देशहुँ तजें भूख, पियास नींद सहारते ।
[1]कर सन्त कैसे कर्मभी फल, ताप नरक निहारते ॥
तज जन्मफल हरिभजन, नानाकर्म धनलग करत हैं ।
वच मृषा हिंसा दम्भ चोरी, पाप बहु आचरत हैं ॥
मिलना कठिन यदि कर्मसें, मिलजाइ मिलता मद करे ।
कर वेदमगसें विमुख सहजे, नरकके रस्ते धरे ॥
धनअन्ध कब हरिसन्त आदर, करत हैं जग जान है ।
यदि करतहैंहिं विवेकमहिमा, नहीं धन अभिमान है ॥

1 संतोके समान कर्म करकेभी वासनाभेदसें फल विपरीत हो जावे है ।

ध्रुव है विवेकहिं कठिन धनिकों, लाखमें कहुँ होत है ।
माने अपनको अधिक सबसें, मदहिमें दिन खोत है ॥
मैं चहूं जिसकों जिम करूं, तैसेहि मोसम कवन है ।
अब अन्धकों कब दीखता है, वेद जो सुखभवन है ॥
विश्वास जावे सबहिंका, अभिमानका खाया पडा ।
परपीडनादिक कर्मसें घर, पापका छाया पडा ॥
धनकीहिं चिन्ता छा रही है, चोर अरिका भय रहे ।
रक्षालिये अपराध विन, बहु जीवका तनुमन दहे ॥
इम पापसंग्रह करतभी, कारण मिले धन नष्ट हो ।
तब प्राणसाथहिं जात हैं, उन्माद या ध्रुव पुष्टहो ॥
फिर हरिविमुखता पाप बहुसें, नरकमेंहीं जा पचे ।
पा अर्थकों दुख नरकसें, कतहूं भला कब को बचे ॥
इम अर्थके रक्षा विनाशहुँ, अर्जनहुं दुखके भरे ।
जो चतुर है तज सकलकों, भज कृष्णकों भवकों तरे ॥
यह अर्थकाहिं स्वभाव है, मन सकलमें दूषण धरे ।
ध्रुव सुना होगा सज्जनोंसें, इन्द्रफलने जो करे ॥
अमृत भला जब हुकमभी, धनसाथ आके मिलत है ।
को है जनक विन पापसें जो, नरकमें नहिं पिलत है॥८२॥
ध्रुव कछु अलौकिक वस्तुका, तम नाशतेहैं अंशसें ।
न्यायादिको इस हेतुसेंहीं, कहत विद्यावंशसें ॥
जब निपुणतासें देखिये यह, सब अविद्याहीं दिखें ।
संसारके आरूढ करनेकों, कमर बांधेंहीं दिपें ॥
विद्या वही जो ईशकों, निजरूपसें दरसात है ।
झगडा सकल जगका अविद्या-सहित सहज मुकात है ॥
यह करें दृढ अभिमानकों, हरियोग्यताकों दूर कर ।
दुख त्रिविधकोंहीं पालते हैं, दृढ अविद्या पूर कर ॥
नहिं शिष्टताभी रहे बहु, अपमान वृद्धोंका करे ।

विद्वान् इनका तापकेहीं, साज सजके बहु धरे ॥
इक वृद्धके अपमानसें, सब पुण्य जन्मोंके हरे ।
जिनकी न गणना है कभीभी, पापसंग्रह कर धरे ॥
नहिं आस्था कतहूं रहे मन, भराहैहिं कुतर्कसें ।
संशय रहे सबमें नहीं हरि, मिलत कबहूं तर्कसें ॥
नहिं तर्क ठह रहैं कदाचित्, तर्कसें संशय बढे ।
हरि मिलत हैं तब जब सकल, तज शिष्टमार्गमें पढे ॥
यदि तर्क होवे वेदसुखकों, देखकेहीं उचित है ।
हो वेदसें यदि बाह्य तासों, हरिविमुखता झुकत है ॥
इससें अधर्महुं जगे सब फल, तापमेंहीं तलमले ।
ईहां सदा वादी विजयलग, तापमेंहीं जलबले ॥
जे हैं चतुर ते न्याय आदिक, सुनतभी नहिं कानसें ।
यदि पढेभी तो पढत हैं, अभिप्राय मनकें आनसें ॥
यह उभयलोक बिगाडते हैं, लोकसें मैत्री गई ।
अभिमानसें नहिं वृद्धसेवा, लोकपरमें नरकई ॥
अमृत वही विद्या उपजती है, जगत्भ्रमकों हरे ।
कर तम सकलकों दूर जो थे, सो बनाकेहीं धरे ॥ ८३ ॥
सुखवपु अहिंसाआदि पांच यम, योगमें विख्यात हैं ।
संकेत वेला जाति दिग्के, नियमसें न सुहात हैं ॥
सब नियम तज यह सर्वथा, सब अङ्गसें जब दिपत हैं ।
तब महाव्रत हो आतहीं भव, सकलके अघ मिटत हैं ॥
फिर धर्म व्यापक बढत है, निशादिवस अङ्गनकों लिये ।
फिर तेज अद्भुत दिपत है, जनु यज्ञ हैं कोटिन किये ॥
गुरु सन्त ईश्वर देख सुनके, प्यार बहुतहिं करत हैं ।
सब विघ्नगणभी नाम सुनतेहीं, सहजहीं टरत हैं ॥
ब्राह्मण अर्थहीं करेंगे हिंसा-समय इसकों कहें ।
संक्रमणआदिकमें किसीकों, कालनियमी नहिं दहें ॥

इक अज विना नहिं अवरकी, हिंसा नियम है जातिका ।
दिग्नियम है व्रजआदिमें, हिंसा तजन हित ख्यातिका ॥
इस रीतिसेंहीं सत्यआदिक, चारको पहिचानियें ।
अमृत मिलें बहुपुण्य हरिगुरु-सन्तसेंहीं मानियें ॥ ८४ ॥
मृदुउदकसें क्षालन मलोंका, बाह्य शौच कहात है ।
रागादि आसुर सकल अघका, नाश आन्तर भात है ॥
अघ ज्ञान कर्म न उपजना, यह शौच इन्द्रियका रहा ।
मन शौचके आधीन है सो, अलग यासों नहिं कहा ॥
ध्रुव हो जुगुप्सा देहमनमें, शौचसें लख दोपकों ।
संसर्गनिन्दाभी परोंकी, तजत लख समलोककों ॥
जिम मम शरीर भरा मलोंसें, तिमहिं दूजेका सही ।
यह दृष्टि जिसमें भई तिसनें, परमिलनकी कब चही ॥
मम मनसरिस मन सकलकेहीं, दोप सबके खेत हैं ।
मनका स्वभाव यही मृपाहीं, दोष परकों देत हैं ॥
मम मन यतनसें प्रथम जिम था, तिमहिं दूजेका भला ।
जो यतनकों कर है न हो किम, ममसरिस वह निर्मला ॥
जो हेतु हमरे यतनका यदि, अवरमेंभी जाग है ।
फिर है कवन जो यतन करनेसें, विमुख हो भाग है ॥
इम समझके निन्दा न परकी, करे शौच स्वभाव है ।
इम जगे अद्भुत तेज जांका, तमविनाश प्रभाव है ॥
आसुरी जात विचारसेंहीं, पाप सब हरिनामसें ।
हरिनाम प्रायश्चित्त सबका, शून्य हो जब कामसें ॥
मनशौच जिज्ञासा रचे गुरु, मिलन होत समाधि हो ।
हो महावाक्यविचारसें, अमृत न फिर जगव्याधि हो ८५
निर्वाह यात्रा प्राणकीसें, अधिककी नहिं चाह है ।
संतोष कहते हैं इसीकों, साच सुख बेथाह है ॥
नहिं चाह है निजप्राणकीभी, रहो या अवहीं वहो ।

है मुख्य यह संतोष होता, है सही विद्वान्कों ॥
ध्रुव अधिक चहता है वही, जिसके विवेक न शुद्धि है ।
है उदरभरहीं क्या समझ क्या, कहां रहती बुद्धि है ॥
अव मान बैठा सुखहिं दुखकों, यद्पि सुख इक आपहीं ।
खाया पडा है सर्पतृष्णा-का जगे हैं पापहीं ॥
प्यारी कुसंगति क्या लगी, सत्संगसें क्या मुख फिरा ।
क्या ऊंचपदकों पाइकेभी, नीचसें नीचे गिरा ॥
क्षण हो कभी सत्संग मारे, बात बैठ विवेककी ।
आवे सहितअभिमान रख, निजमूढताके टेककी ॥
अतिमन्द है चाहे अधिककों, आपहीं दुख रचत है ।
इस लोकमें दुख भोग परमें, नरकमेंहीं पचत हैं ॥
सुख ब्रह्मसें सुख अवर जे, अजलोकलौं विख्यात हैं ।
संतोष तृष्णाक्षय मोदकी, कलाकों नहिं पात हैं ॥
अमृत रहे संतोष नहिं, कौपीन तौभी राज है ।
संतोष विन क्या राज कर है, तापकाहिं समाज है ॥८३॥
आकारकाष्ठहुं मौन प्यासहुं, क्षुधाशीतहुं उष्णता ।
निजठाम आसन द्वन्द्वका है, सहन तप सुखकी लता ॥
व्रत कृच्छ्रचान्द्रायण सुसांतप-नादिकोंभी तप कहे ।
आवरण तामसमल अधर्मा-दिक अशुद्धीको दहे ॥
अव दिपे सत्त्व प्रकाशमय कछु, रजोगुणभी अनल हो ।
फिर काय इन्द्रिय-सिद्धि मन, अनुगामितासें अचल हों ॥
अणिमादि तनुकी दूरदर्शन, आदि इन्द्रियकी कही ।
युगसिद्धि होत न मल रहा, अव देहइन्द्रिय हैं सही ॥
अव भया भास्वरतेज मनका, सकल जगत् प्रकाशता ।
तनु भया ऐसा मृदुल जिम, जव चहें तिम हो भासता ॥
अव योग होगा सफलहीं, प्रतिवन्ध मल नहिं अल्पभी ।
विन तप न होवे योग कवहूं, पच मरे वहु कल्पभी ॥

विषयी उदरम्भर नाम तपका, सुनतहीं घबरात है ।
वहु पापका पहरा लगा है, धर्म निकट न आत है ॥
यह समझ नहिं मनचल कहांलौं, बृहत् है किम गया वह ।
खाया पडा है विषयका किम, सके रोगी द्वन्द्व सह ॥
ब्रह्मादिकाभी मन वही, प्रतिबन्धके अब नाशसें ।
सर्वज्ञ सिद्धहुँ बनगया है, योगके अभ्याससें ॥
तप बिन न मनकी शुद्धि तिहिं, बिन योग कबहुँ न आत है ।
विक्षेप नहिं नहिं बिन नशे, तिहिं बिन न अमृत पात है ८७
श्रद्धासहित जप प्रणवका, अध्ययन मुक्तीग्रन्थका ।
स्वाध्याय करना है वही, जो कृष्णके है पन्थका ॥
है प्रणवनाम परेश सिद्ध, सुरेश पालक मृदुलका ।
सब पतितपावन तमनसावन, सकलगुरु-गुरु अचलका ॥
सुखवपु कृपानिधि भक्तवत्सल, दाम उदर विहारका ।
जासों डरें अज काल देवें, भेट तिहिं सब सारका ॥
पद-शौच जांका लोकत्रयके, पापकों हर मुक्ति दे ।
यदि चाह होवे भोगकी तो, मोद वपुहीं भुक्ति दे ॥
सब सिद्धि सेवत चरणरज, अभिमानशून्य प्रधानका ।
सेवा करन नहिं लजें सेवक-की अमाया मानका ॥
जो भिक्षु आवे निजतलकभी, प्रण रहे है दानका ।
श्रीकृष्ण गिरिधर नन्दनन्दन, चक्रकर अज ज्ञानका ॥
है नाम इनका इनसरिस सुख, मधुर अघतमकों हने ।
कर कृष्णकों अनुकूल सब-सुरकी स्ववशताकों तने ॥
जो चहे काज करें सकल सुर, इष्ट ध्रुव मिलजात है ।
इस नामकेहिं प्रभावसें, नरजन्म दिस सुहात है ॥
है कृष्णका निज लक्ष्यरूप,-मिलाप मुक्तिस्वरूपहीं ।
है मुक्तिग्रन्थनका विषय, वहहीं सदा सुखरूपहीं ॥
लखग्रन्थसें वह लक्ष्य तिसमें, योगसंयम करत है ।

विपरीतभावनकों हरतहीं, सकल-माया हरत हैं ॥
अध्ययन इसका सविध, नाशक पापका पावन सही ।
आज्ञाभरणसें कृष्ण हों, अनुकूल कमती क्या रही ॥
सव देव वश हों इष्टभी हों, सिद्ध संयम योग हों ।
विपरीतभावन नशे अमृत, फिर न जग तम रोगहों॥८८॥
शुभकर्म सवका ईशमें, अर्पणहिं श्रद्धाप्रेमसें ।
प्रणिधान कहते हैं इसे, फलचाह नहिं इस नेमसें ॥
हरि जगत्कारण जनककी, आज्ञाहिं केवल शक्ति सम ।
कर कर्मको पाळूं चहूं क्या, वस्तु हैं सव तुच्छ अधम ॥
धनदेह-संवन्धी कर्ममें, गेह सवहीं उसीके ।
जो भया होगा होत है सव, कृपासें इक तिसीके ॥
स्वामी वही है विश्वसवके, विश्व आपे साच है ।
यह समझभी है कृपा उनकी, जीव मनका काच है ॥
जो करें अच्छा है सभी पर, इस समझकों नहिं हने ।
अर्पण कहत हैं इसीकों, हो कृपा जिसपर सो तने ॥
है हेतु संप्रज्ञातका, प्रणिधानहीं सच ठानले ।
नहिं व्यर्थ सवहीं अङ्ग मिलके, जने यांको मानले ॥
सम विषय संयमयोगका, सो अन्तरङ्ग कहात है ।
प्रणिधान है वहिरङ्ग पर, फलदानमें यह भात है ॥
प्रणिधानसें हरि द्रवें आपे, मिलें विघ्नहुं दूर हों ।
फिर आपहीं अमृत वने, सव जगत्केहीं नूर हों ॥८९॥
शौचादि पांचों नियम हैं, इनके नियमकों को करे ।
विन सन्तहरिगुरुकृपाके, को विघ्नगणकों दृढ दरे ॥
जिनके भए यह भला फिर, अव कमी तिनके क्या रही ।
विन चहे परमानन्दकी, आके नदी दशदिश वही ॥
जहिं पग धरें जापर करें, सुखकृपा तेभी धन्य हैं ।
इस वचनकों थोथा लखें, ते मूढ पण्डितमन्य हैं ॥

इसमें पडा प्रणिधान तासों, देखले क्या होत है ।
रच योगकों वा अन्यथा कर, ब्रह्म माया खोत है ॥
नहिं कृष्णका मन अन्यथा हो, वेद सब जग जान है ।
जांपर करें जैसी कृपा वह, तिमहिं तिम अधिकान है ॥
बिन अधिक पुण्य न यमनियम, मिलते किसीकों कठिन है ।
जिसकों मिलें तिसकोंहिं श्रुतिमें, पुरुषपदका पठन है ॥
ध्रुव अन्य हैं पद प्राणिमेंहीं, पशुनके सरदार हैं ।
पुरुषत्व रहता हैं नहीं इक, उदरकेहीं यार हैं ॥
पशुसें विलक्षणता यही, पशु वेसमझहीं करत हैं ।
इनके समझ है करें तिनके, काज उदरहिं भरत हैं ॥
करलेत हैं मैथुन सुतोंको, पालभी यह लेत हैं ।
अवलोकके सब सिद्ध पशु-कुलकों बडाई देत हैं ॥
यमनियम साधनहीनहीं, अब कथन क्या पहचानका ।
आकार नरका छल सही लख, होत भ्रम है ज्ञानका ॥
भूभारहीं आकार नर है, पापकाहीं खेत है ।
उभयत्र दुखकों भोगता है, सकलकों दुख देत है ॥
जननी भली थी बांझ या यह, जन्मतेहीं जातमर ।
क्या फल लिया नरजन्मका, सब जगत्के उत्पात कर ॥
इनकी कृपासें बहुतहीं दुख, पारहें तनुमन जरे ।
लख इनहिनें खाली पडेभी, नरक सब शिरतक भरे ॥
हां बना इनकी कृपासें अघ, नरक दुखका काज है ।
क्यूं व्यर्थ हो नरजन्म है, सब जन्मका सिरताज है ॥
संगति न करते कबहुँ इनकी, उदासीन रहें भले ।
जे संग इनका करत हैं, निशदिवस तपहींमें तले ॥
अमृत पुरुष है ब्रह्महीं सो, नहिं असंप्रज्ञात बिन ।
सो बिन संप्रज्ञात सो नहिं, नियमयमत्रय सात बिन॥९०॥
यमनियममें जिसका विपर्यय, हो वितर्कस्वरूप जब ।

ब्राह्मण गहे दृढ झटितिहीं, प्रतिपक्ष भावनरूप तव ॥
संसारताप अंगारमें, वहुजन्मसें पचरहा मैं ।
हा किमहुँ बहु अतियत्नसें, इस योगकों अब गहा मैं ॥
मिलता कहां है योग कब किम, कवनकों किससें भला ।
जासों अशुक्लाकृष्णहीं शुभ, धर्म दृढ सुखसें खुला ॥
सो जीवकों कर ब्रह्म तम, जगदुख सकल हरलेत है ।
हो पितरगणभी तृप्त जासों, सुखहिं आशीर्देत है ॥
योगी भए जिहिं कुल प्रकट, सो कुलहु सुख आहरत है ।
यह योग किसका कर पकड, दुखसिंधुसें न उद्धृत है ॥
सब दीनता मिटजात है, अजभी बडाई करत हैं ।
ते धन्य हैं जगपूज्य हैं, जे योगकों आचरत हैं ।
इस अलभकोंभी पाइ किमहूं, फिर वितर्क जगनलगे ।
अब भए निश्चय झूठ क्या है, श्वानकेहीं हम सगे ॥
नरजन्म दुर्लभ कब मिलेगा, योगभी फिर कब मिले ।
धिग्धिग् बहुर धिग्धिगहिं मोकों, सुधा तज विषकों चले ॥
अब योगका सुखभी भगेगा, दुख वितर्कोंका जगे ।
सब सिद्धभी धिग्धिग् कहेंगे, तेजभी सगरा भगे ॥
यदि अब गिया यह योग फिर तो, गियाहीं लखलीजिये ।
दुख जगा फिरतो जगाहीं दुख, सदा सहज पतीजिये ॥
यह है वितर्क त्रिविधहिं कारित, कृतहुँ अनुमोदित सही ।
है लोभक्रोधविमोहपूर्वक, मध्य मृदु अतिमात्रहीं ॥
मृदुआदिके पुनि जोडनेसें, एकअस्सी भेदहीं ।
होते वितर्कोंके सही यह, करत हैं मन छेदही ॥
पुनि हों अनन्त नियम समुच्चय, पुनि विकल्पहु भेदसें ।
प्राणी अनन्त न नियम है, को बचा इनके छेदसें ॥
यह सब जने हैं तमहिंकों, अज्ञान तमसें दृढ जमें ।
फिर दुखनकी को अवधि इम, सब जीव दुखहींमें भ्रमें ॥

प्रतिपक्षभावन कहैं इसहिं, विचारकों जे करत हैं ।
ते रहैं योगारूढ अमृत, कबहुँभी नहिं गिरत है ॥ ९१ ॥
स्वस्तिक भद्र पर्य्यङ्क पद्महुं, वीर गज पुनि सिद्ध हैं ।
गरुडादि आसन चार अस्सी, योगमांहिं प्रसिद्ध हैं ॥
है सर्वमें उत्तम सुखासन, शेषजी इमहीं कहें ।
यह है वही जिम सुख रहे, तिम सकलअङ्ग अचल रहें ॥
है हेतु इसका शेषध्यान, यतनशिथिलताभी कही ।
शीतादिद्वन्द्वनसें न अभिभव, होत है यह फल सही ॥
आसन अचल हो जबहि अमृत, मन अचल होजात है ।
इम योगअङ्गनमें अचलहीं, अङ्ग यह विख्यात है ॥ ९२ ॥
जिम मक्षिराज–अधीन मक्षी, बैठती पुनि उडत हैं ।
तिम चित्तके अनुकार इन्द्रिय, चित्त जहिं तहिं जुडत हैं॥
अतिपुण्यजनित विवेक शुभ, अभ्याससें जब मन रुका ।
अनुकारतासें सकल इन्द्रिय, रुकगई झगडा मुका ॥
इसकोहिं प्रत्याहार कहते, सिद्ध प्रभु योगेशजी ।
भू कंज जिम सिरपैं विराजे, जगतआश्रय शेषजी ॥
फल इन्द्रियोंकी परमवशता, योगअङ्गहुँ इम भए ।
अधिकार अबहीं योगके, सुखदानलग सुखसें छए ॥
शब्दादिमें नहिं सक्ति विहितहिं, भोगना अघ रोग ना ।
या भोगमांहिं स्वतन्त्रता, मध्यस्तने या भोगना ॥
यह चारभी ध्रुव इन्द्रियोंकी, वश्यता कहलात हैं ।
है परमता इनमें यही मन, रुकनसें रुकजात हैं ॥
इससम न तप नहिं पुण्यभी, कोई निपुण पहचानले ।
यह आत जिसके ढिग तिसीपैं, कृपा हरिकी जानले ॥
यह अलभ जिसकों मिले जब, आधी खुदाई आगई ।
निज तन्त्रताहीं ईशता सो, अर्द्ध इसमें छागई ॥
इक विषयहीं आधीन इसको, करत है जग जान है ।

अब इन्द्रियोंकी वश्यतासें, रहा कहां निदान है ॥
अब कछुक दिनमें बनाचाहे, ईश पूरा आपहीं ।
है धन्य प्रत्याहार लखले, कटें सगरे पापहीं ॥
जिज्ञासुकाहिं कारण यह, प्रारब्धकी शंका नहीं ।
प्रारब्धपर बैठा विना बुध, अवर देखा है कहीं ॥
उद्यमहिं करना योग्य है, जिज्ञासुकों नहिं शिथिलता ।
सर्वत्रहीं यदि कर्म मुख्य, न शास्त्रकों हो सफलता ॥
बुधके नहीं उद्यम नहीं, कर्त्तव्य बाकी है रहा ।
आलसहिं सगरा छारहा, सब शास्त्रभी जगसम बहा ॥
सब इन्द्रियोंसें झडे दुर्लभ, तेज ब्राह्मणका सदा ।
जब रुकगई अमृत भए, फिर रहे किम हरिसें जुदा ॥९३॥
है धारण सात्त्विकी राजसी, तामसी मनबन्ध है ।
सब त्रिविध हैं गुण त्रिविध सब, जग त्रिविध मन संबन्ध है ॥
परतरा निर्गुणधारणा है, मुक्तिके सन्निहित है ।
है परा सात्त्विकी राजसी, मध्यम निषिद्ध न विहित है ॥
हैं तामसी बहु मन्द विहित, न विषयकेहिं स्वभावसें ।
है भेद संज्ञाका सफल फल, ध्यानकेहिं प्रभावसें ॥
फिर बाह्यआन्तर भेदसेंभी, धारणा द्विविधा भई ।
इम ध्यानयोगसमाधिकेभी, भेदकी समता छई ॥
यदि सुख चहे कर प्रथम, सात्त्विकी धारण फिर परतरा ।
फिर ध्यान बहुर समाधि दो-विध योगभी कर क्रम भरा ॥
इम बनेगा फिर आपहीं सब, जगत् आश्रय जान ले ।
कबहुं हमारे वचन साचे, कछुक दिन तो मान ले ॥
क्या फिरे मदिरामोहकों, कर पान मदसें मत्त है ।
अब कछुक तो ले मान जड, क्यूं भया अस उन्मत्त है ॥
हम राह सुखका कहें तोको, ताप प्याराहीं लगा ।
क्या मन्द मस्तक जग पडा, सुखरूपसेंभी सुख भगा ॥

संयम योग दो प्रथम कर, श्रीकृष्णमें मन हरणकों ।
मन शुद्ध होके योग्य हो फिर, अगुणमेंभी करणकों ॥
फिर अगुणमें यह पांच होवेंगे, सहज शुभ अङ्गसें ।
फिर निजखुदाई सकल आवे, घरहिमें निजरङ्गसें ॥
केचित् कहें है धारण शुभ, गगनमण्डलमें सही ।
फिर ज्योति अनहत विष्णु, कमलज गणप चक्रहुंमें कही ॥
जिह्वाग्र पुनि नासाग्र आदिकमें, परा है सुखभरी ।
इम करत सात्त्विकीधारणा-कों सात्त्विकी वरसे झरी ॥
फिर अगुणमेंभी पहुंचते, हैं सत्त्वके उद्रेकसें ।
अणु वेधनेके योग्य सो जो, वृहत् वेधे टेकसें ॥
राजस न तामस धारणा, करिये कवहुँ दुखरूपहीं ।
इनकों करें जे करत हैं, अपने लिये दुखकूपहीं ॥
अमृत प्रथम कर कृष्णमें फिर, निजअखण्ड स्वरूपमें ।
फिर देखले है कवन उत्तम, तवसरिस सुरभूपमें ॥ ९४ ॥
विन अन्य अनवच्छिन्न प्रत्यय, एकतानक ध्यान है ।
है धारणा इक हेतु यांका, अचल मोद-निदान है ॥
वहुकाल आदरसें भया जव, पक्व यह तव जानले ।
फिर खडी सांग समाधिभी, आगेहिं निश्चय ठानले ॥
है पुण्य वड फल सही जव, यह कृष्णमेंहीं होत है ।
ध्रुव सकल जन्म कुकर्मजन्य, कुवासना अघ खोत है ॥
फिर शुद्ध हो निजतेज दिपता, जनु सुरेश विराज हैं ।
फिर मोहकी आसुरी सेना, सकल पति ले भाज हैं ॥
फिर गुण अलौकिक ब्रह्मचर्य, विरागफलक विवेकभी ।
संतोषहूं धृति विविदिषादिक, वसें पलती टेकभी ॥
फिर हो समाधिहुँ कृष्णमें लख, क्या झलक सुखकी दिपे ।
अमृत कृष्णसुखध्यानमहिमा, किम छिपाएभी छिपे ॥९५॥
हो भान त्रिपुटी ध्यानमें कछु, ध्येयमात्र समाधिमें ।

जब आगई यह सचा खरभर, सहज सब जग व्याधिमें ॥
जब यह भई तब योग पहला, भयाहीं ध्रुव जानियें ।
फिर हो असंप्रज्ञात फिर सुख, छया दृशादिश मानियें ॥
कर कृष्णमें इसको भला, फिर देखले क्या होत है ।
गिरिधरहुं वश होजांहिंगे, जिहिं नाम तमभ्रम खोत है ॥
फिर जगेंगे क्या भाग्य अद्भुत, लोकमें जो नहिं दिखें ।
यमराजका है वल कहां अब, भला वह क्या फल लिखें ॥
अमृत भला जब कृष्ण हों, अनुकूल फलकों को कहें ।
हैं चितवतेहीं शेष अजभी, कहें क्या चुपके रहें ॥ ९३ ॥
त्रय धारणादिक एकमें, संयम यही कहलात है ।
संयमजपेसें योग प्रज्ञालोक मनमें आत है ॥
विनियोग इसका भूमिमें, श्रीशेषजी बतलात हैं ।
नहिं अजित अधर सुभूमिके, उत्कृष्टमांहिं समात हैं ॥
उत्कृष्ट अधर सुभूमिमें है, योगहीं गुरु जानले ।
उत्कृष्ट गत फिर अधरमें, कब आत हैं पहचानले ॥
संयम इतरसें अन्तरङ्ग, सबीजमें सविचार है ।
निर्बीजमें वहिरङ्ग अमृत, इक सबीजहिं सार है ॥
हैं चार संप्रज्ञात बृहत्, विराट्मांहिं वितर्क है ।
है सूक्ष्मांहिं विचार लख, आनन्द ईश अतर्क है ॥
अस्मिता चेतनमांहिं करते, मुक्ति दुर्लभ पात है ।
फिर आपहीं हो ब्रह्मवपु; सब रूपहीं बनजात हैं ॥
केचित् वितर्क स्थूल भौतिक, भूतमें कहते सही ।
तनु पञ्चमात्रादिकहिंमेंहुं, विचारभी तिनने कही ॥
यह ग्राह्यविषयक योग हैं, पुनि ग्रहणविषयक करणमें ।
आनन्द इन्द्रियमें कहें तनु-सत्त्व सुख व्यवहरणमें ॥
है हेतु इनके अस्मितामें, इक गृहीताहीं विषय ।
यह चार संप्रज्ञात हैं हो, मिलतहीं ध्रुव सुख उदय ॥

हमरी सुने तो प्रथम कर, श्रीकृष्णसुखसुरभूपमें ।
सिद्रूप समर्थ कृपा भरेमें, मोद मृदुल अनूपमें ॥
फिर आपहीं निजसुख अखण्डित, अचलमें होजाइगा ।
यह योग संप्रज्ञात कबहुँ, न गर्भमें फिर आइगा ॥
नहिं सकलरूपसमाधिमें, हो भान संप्रज्ञातमें ।
यह भेद है इनमें समझले, भ्रम न हो विज्ञातमें ॥
अमृत चहे यदि सुख सकल, दुख नाशकों तो मानले ।
कर कृष्णमें शुभयोगकों फिर, आपकों पहचानले ॥ ९७ ॥
जिसमें न ध्याता ध्यान भासे, ध्येय सगरा भासता ।
सो है असंप्रज्ञात त्रिपुटी, प्रथम योग प्रकाशता ॥
यह होत है जिस पुण्यसें, तिस अलभकी उपमा नहीं ।
कब भानुके पटतर कहत हैं, कवन दीपककों कहीं ॥
इसकों करत श्रीकृष्णमें, श्रीकृष्ण सगरे भासते ।
फिर आप अभिमुख होइके, निजतत्त्व शुद्ध प्रकाशते ॥
अब इम भई सुविवेकख्याति, अचल सकल सुखकी भरी।
फिर धर्ममेघ भई सुसंप्र-ज्ञात चित्में सुख लरी ॥
इक संस्कारहिं रहे प्रत्यय, सकलहीं दृढ सो गिया ।
जब होत चेतनमें असंप्र-ज्ञात मल सब धोगिया ॥
नहिं तम रहा नहिं जग रहा, आपहीं सुख रहगए ।
अब क्या समझ दुख त्रिविध, किम कब कहां किसको थे भए ॥

अब आपनी जो ईशता, सो आपमेंहीं छागई ।
अब आपकों अपनीहिं महिमा, आपमेंहीं भागई ॥
अब है न संशय भ्रम तनिकभी, रूप अपना आपहीं ।
भासे अपनमें सकलतासें, दिपे अचल प्रतापहीं ॥
अब द्वैतबिन हो भ्रम कवनकों, सदा अभय विराजते ।
नहिं मैं रहा नहिं तूं रहा, नहिं साज कछुभी साजते ॥

प्रारब्धके अनुसार परकों, करत कछु दरसात हैं ।
पर आप नहिं करते कराते, वेद यश नित गात हैं ॥
इनकी बडाई करनकों अज, शेषभी शरमात हैं ।
अमृत भला अब क्या कहें जहिं, मनहुँ तनिक न जात है ९८
श्रीकृष्णमें प्रणिधान संप्र-ज्ञातकोंभी करत हैं ।
फिर कर असंप्रज्ञातकों तिहिं, कृपासें भ्रम हरत हैं ॥
इनकी कृपाबिन योगकेभी, तत्त्वको दरसावती ।
सब विघ्नको कर दूर परमा-नन्द सहज बनावती ॥
संकल्प जांका करे जग, उत्पत्ति पालन संहरण ।
है वेद जांका श्वासआज्ञा, फलवती अजभी करण ॥
कालादि जिसको सेवते, भयभीत हो निशदिन खरे ।
अज सिद्धि सिद्ध सुरेशआदिक, कृपा चहते पग परे ॥
जिसको चहें तिहिं अन्यथा, कर सके को सब जान हैं ।
वन्दी निगम तमहन् विमलयश, सदा करत बखान हैं ॥
अज हृदयमें कर कृपा जिसनें, सकल वेद प्रकाशाया ।
वेदार्थ है अतिकठिन तांका, तमहुँ सकल विनाशया ॥
श्रीकृष्णकी निजकृपासें फिर, को अलभ रहजात है ।
यदि चहे भोग सुरेशदुर्लभ, मधुर सब सज आत है ॥
कैवल्यकों यदि चहे बिनश्रम, तत्त्व अद्वय भासता ।
यदि युगलकों चाहे निरतिशय, युगल मधुर प्रकाशता ॥
अमृत सदा कर कृष्णमें, प्रणिधान अज होजाइगा ।
भ्रम तम मिटेगा क्लेश इकभी, कतहुँ रहन न पाइगा ॥९९
हैं क्लेश पांच प्रथम अविद्या-चारकी ध्रुव मात है ।
यह जहिं भई तहिं दिवसनिश, दुखत्रिविधकी बरसात है ॥
दुखअसत् अशुचि अनात्ममें, सुखनित्यशुचि आतम मती ।
यह है अविद्या जहिं रहे क्या, समझ कहिं रहती गती ॥
लख संस्कार परिणाम ताप, कुतापसें सब ताप है ।

दुखविषयमें सुख मानता है, मूढताका बाप है ॥
अब सोम पीवेंगे अमर, होजांइगे इम कहत हैं।
जे सदा राजसचित्त श्रुतिके, अर्थसेंभी रहत हैं ॥
निस्सरण बीज कुनिधन खंभ, कुठामसें तनु मलिन है।
जे शुद्धि इसकी चहें तिनके, मूढताका चलन है ॥
निर्गुण असंग अखण्ड अक्रिय, आत्मा इक श्रुति कहे।
जो अन्ध श्रुतिमगबाह्य तनुकों, लख विषय दुखकों सहे ॥
चितिचित्तकी एकात्मता, इव अस्मिता कहलात है।
सुखबुद्धिसें हो राग दुखमति, ताप द्वेष बनात है ॥
शास्त्रज्ञकोंभी स्वरसवाही, मरणत्रास दिखात है।
मुनि अभिनिवेश कहें इसीकों, तज्ज्ञ ढिग नहिं जात है ॥
अमृत सदा भज कृष्णकोंही, मधुरसुख दरसाइगा।
फिर क्लेशकी गिनती कवन है, तमहूँ रहन न पाइगा १००
सत्संग बिन नहिं हरिकथा, तिहिं बिन न हरिमें प्रेम है।
तिहिं बिन अलभ प्रणिधानका, कब कहां किसके नेम है ॥
सत्का मिलाप करे सहज, सत्संगपदकों देखले।
बहुजन्म बीते सुख चहत, सत्संगबिन सो कब मिले ॥
गति मति भलाई भूति यश सुख, जहां देखें जहिं सुने।
सत्संगकाहीं स्वभाव है इम, वेद बुध अनुभव भने ॥
सत्संग करले समझले कछु, मानले क्या मूढ है।
क्यूं नित लजावे जन्मकों, दुखपापमें आरूढ है ॥
अब देह कबलौं पलेगा है, पाप जडता छोड दे।
मरणा न दीखे मान ले, सत्संगमें मुख जोड दे ॥
सत्संगसेवासें सहज, श्रीकृष्णकों लख जाइगा।
झगडा जगत्का मुकेगा फिर, ताप निकट न आइगा ॥
फिर जगेगा श्रीकृष्णहीमें, प्रेम सब सुखसें छया।
अनुकूल गिरिधर होंहिंगे, फिर देख मस्तक क्या भया ॥

फिर कटैं सबहीं ताप पाप, न एकभी रहजाइगा ।
फिर बिम्बकों प्रतिबिम्ब लखके, बिम्बमांहिं समाइगा ॥
अब भ्रम अविद्या जग गिया, इक आपहीं सुख रहगए ।
अब हेतुके मिटतेहिं कागद्, धर्मके सब वहगए ॥
अब मरणका खटका मिटा, पद् अमर सत्चित्हीं भए ।
अमृत अस्मिता मिटगई, दशादिश अलौकिक सुख छए १०१

शंकरछंदः ।

जितने उपाय विदित जगत्में, सकलका सरदार ।
जगमें प्रकट है वेद्मेंभी, संत साधनसार ॥
सत्संगसें सब पाप मिटते, छुटे जगजंजार ।
हरिभजनसुख श्रीकृष्णसुख, निजमोद् मिलत अपार ॥
निजज्ञानभानु प्रकाशतेहीं, मिटे क्लेश तुषार ।
तम भ्रम मिटे जडता मिटे, सब दिखे पारावार ॥
आसुरीसंपत् मिटे सब, मल भेद्भीति असार ।
जागे उदासी सर्वसें दृढ, तृप्ति आपमझार ॥
अमृत मिटे है कालडर, अद्वैतरूप निहार ।
अब आपहीं बनगए सब, जग कालके कर्त्तार ॥ १०२ ॥

हरिगीतछंदः ।

यदि कान रखता है कानकर, वेद्मतका गान ले ।
यदि कान नहिं तो कानले, सत्संग करले मान ले ॥
कब मिलेगा दुर्लभ भला, नरजन्मकों पहचान ले ।
जिसकों तरसते देवभी, वेसमझ कछु तो जान ले ॥
सत्संगसेंहीं मिलेगा नर-जन्मफल निजज्ञान ले ।
कर देख क्या सुख भररहा है, सन्तकीहीं बान ले ॥
बहुजन्म बीते पच मरा है, अवर मट्टी छान ले ।
विन संग सुख नहिं मिलेगा, कितनाहिं बलकों तान ले ॥
हम रेख करके कहत है, विन संग सुख नहिं ठान ले ।

संशय न करिये वचन अमृत, मांहिं सन्तनिशान ले १०३
भरता कहां है अवरसें, परसें तृषाकों को तरे।
संतोष मिलता है कहां, सत्संग विन नहिं मन भरे॥
अजलोकलौं सव भोग भोगे, यतनभी वहुते करे।
कहते कवनकों तृप्ति उलटी, द्विगुण तृष्णाहीं फरे॥
यह भोग क्या हैं तापही हैं, तापमें पच पच मरे।
इस पापकेहिं प्रभावसें, सत्संगमगभी नहिं परे॥
रहते सदाहीं दीन दुखिये, कवहुँभी सुख नहिं खिरे।
डर शोक चिन्ता काम मुर्छा, दिवसनिश दूने खरे॥
भ्रम ज्ञान विन नहिं नसे तिहिं, विन पग न संतोषहु धरे।
संतोष विन नहिं तृप्ति अमृत, संग विन नहिं तम टरे१०४

जूलनाछंदः।

धिक्कार धिक्कार भव अलभकों पाइ तज,
संगकों विषविषयमांहिं लिपटा।
कर होश वेहोश कछु देख ले समझ ले,
क्या फिरे सदाहीं काल झपटा॥
क्या मन्दसें मन्द मल कर्मने देख ले,
कृष्णसें हटक दुखमांहिं पटका।
नहिं समझ है कवन हम काज आए त्याग,
भजन-सुख जगत्दुखमांहि भटका॥
क्या मूढ़ है क्रूर है पापहीं है त्याग,
कृष्णकों अल्पसुखमांहिं अटका।
है वुद्धि इक मेरिहीं मानता है,
नहिं दिखत है आप जगताप झटका॥
अव समझरे समझरे भजन कर भजन,
क्यूं वने है कालवडवाज चटका।
विन भजन नहिं मोद अमृत नहिं,

तोप नहिं मिटत है मरण खटका ॥ १०५ ॥
तज जगत् जे कृष्णके वनगए वनगये,
परम आनन्द जो वेद प्यारा ।
नहिं राग नहिं द्वेष नहिं काम नहिं क्रोध नहिं,
लोभ नहिं दम्भ तम सकल टारा ॥
नहिं शोक नहिं हर्ष मद भेद मन छेद नहिं,
मान नहिं हानि जग लाभ जारा ।
अब आपहीं आप है ठीक अमृत,
ताप भेद भ्रम कृष्णनें आप मारा ॥ १०६ ॥
हरिभजन कर भजन कर भजन कर,
बावरे छांड सब जगत् आराम आवे ।
नरजन्म है अलभ कब मिले नहिं मिले,
या तापहींमांहिं क्युं व्यर्थ जावे ॥
नहिं पशुनकों समझ कछु कवन जगहेतु है,
समझभी तनिक नहिं चित्त लावे ।
सब पशुनसें अधिक मलकर्मकों करत हैं,
उदर भर विषयविषताप खावे ॥
अब समझ ले देख ले परखले जगतकों,
ताप बिन अवर को लाभ पावे ।
नहिं सुनत है सदा हित भजत है कानकर,
वेद सर्वज्ञ नित क्या सुनावे ॥
तज वेदमग मोदकों चहत है मूढ है,
क्रूर है पाप है दुख सुहावे ।
मग वेदके भजनसें भए अमृत,
परानन्द चित्रूपहीं वेद गावे ॥ १०७ ॥
सुत मात पुनि तात हितु भ्रात जग नातजे,
सकल निजकाजके सदा प्यारे ।

मतिमन्द मन समझ मम मांहिं है प्रेम,
हित एकका छांड लख होत क्यारे ॥
विन काजके एक नहिं निकट आवे देख,
देव अजलोकलों मूढ भारे ।
सव आपहीं तजेंगे तोहिकों जिनलिये,
पाप दुखसाज गिरिधर विसारे ॥
घर [1]प्यारके कृपाके सिद्धिके शक्तिके,
वेदके सार जिहिं नाम तारे ।
तरुकल्पको रचत है दास दुख दलत हैं,
कृष्णकों तजा सुख भए कारे ॥
हरिभजनकों तजा जिहिं तजा सुख,
सकलहीं आपहीं आप नरजन्म हारे ।
शठ पाप है ताप है मूढ अमृत तजा,
पुण्यका मलिन है नरक पारे ॥ १०८ ॥
अव वैठ रे वैठ संतोप कर कव तलक,
फिरेगा मक्षिकासरिस भ्रमता ।
कर वंदगी वैठ एकान्तमाहीं पाप,
तापही है जगत्मांहिं रमता ॥
तज कपट पाखण्ड मद झूठ चोरी साज,
भजन जो सकलकों सदा थमता ।
मत पीड डर आपने सरिस सवकी देख,
मोद पुनि तापकी परमसमता ॥
क्या जगे हैं मन्दहीं भाग्य नहिं कभीभी छेद,
छिद्र वेदवचमांहिं जमता ।
नहिं कृष्णका ध्यान नहिं नाम नहिं गान है,

---

१ प्यारआदिके घर नाम आश्रय और वेदके साररूप जिसका नाम है सोई तारनेवाला है.

कथा नहिं मान नहिं सीस नमता ॥
क्या भया आराम है देखले अवतलक,
क्यूं नहीं चित्तकों मूढ दमता ।
भज कृष्णकों वनेगा सहज अमृत पकड,
सत्य संतोष वैराग्य समता ॥ १०९ ॥
क्यूं पापदुख जगत्-संवन्धकों निशदिवस,
करत है द्विगुणसें द्विगुण वारे ।
क्या दिखत नहिं तुल्यहीं भाल तीखे गडे,
छेदते भेदते क्रूर भारे ॥
है जगत् सव अर्थका नांहिं तव एकभी,
देखले पूछले जग पुकारे ।
इक रहेंगे कृष्णहीं साथ तेरे अवर,
सकलकों काल क्षणमांहिं मारे ॥
सत्सखा धर्मज्ञ सर्वज्ञ चित्सत्य,
सुखरूप वलशक्तिनिधि पाप तारे ।
तज तांहिंको झूठकों मीत कीना भया,
अन्धका अन्ध निजतेज जारे ॥
सत्सखा तज झूठ कर सखा हा कहत है,
तजे किम जात हैं प्राण प्यारे ।
था कृष्ण जो सदाका सखा अमृत-हेतु,
कवनसें तजा नहिं सखा क्या रे ॥ ११० ॥

हरिगीतछंदः ।

निशदिवस दुखमेंहीं पचे नहिं, समझ तनिकहुं आवती ।
वुधवेद सव कह कह थके हैं, तोहि सुमति न भावती ॥
कवलौं अघनकों पाल धर है, काल दिखत न झूलता ।
अजरावणादिन न रहे तूं, क्या फिरत है मदफूलता ॥
क्षणमें मरेगा गलेगा नहिं, राखभी रहजाइगी ।

यह बात तेरी मदभरी, क्षणएकमें वहजाइगी ॥
मद करत है किहिं हेतुसें, को थिर रहेगा जानले ।
श्रीकृष्णबिन नहिं साथ चल है, मानले श्रुतिमान ले ॥
श्रीकृष्णकोंही भज निरन्तर, कृष्णहीं बनजाइगा ।
सुखयश बढे श्रुति मन रहे, बलतेजभी उच्छाइगा ॥
अजआदिभी फिर मान देहै, वेदभी आदर करे ।
प्रीती करेंगे धर्मभी अमृत, सहजहीं पग परे ॥ १११ ॥

जूलनाछंदः ।

श्रीकृष्णकी कृपा जब होत है जाहिंपर,
देत हैं भजनसुख तेजरासी ।
फिर बढत है मोद तप शोक सब मिटत है,
कटित है कठिन अति कालफांसी ॥
ध्रुव आत हैं सिद्धिभी पूछता कवन है,
प्रेमहीं बढत है जग उदासी ।
डर शोक दुख तृषा नहिं निकट आवे रहे,
एक सुखभजनकी सुखहुलासी ॥
नहिं भूख नहिं प्यास कछु बाधकों करत है,
शीत नहिं उष्ण हरिरूपवासी ।
रस एकहीं रहें नहिं गहें कछु विषमता,
मोद सर्वज्ञता सकलभासी ॥
सर्वस्व श्रीकृष्णकी अलभसुखकृपासें,
रहित है सदाहीं बुद्धिदासी ।
जो चहतहैं करतहैं निपुण अमृत रोक,
टोक बलभजनने सकल नासी ॥ ११२ ॥
ध्रुव शोध अवकाशकों गृही हरिभजनकों,
नेम अतिप्रेमसें सदा करते ।
गुरुवचनविश्वास गुरुवृद्धकी सेवना,

वेदमग प्रेमसें ताप हरते ॥
धन धर्म विन चहैं नहिं धर्मरत तनिकभी,
सदाहीं पापसें बहुत डरते ।
निजसरिसहीं समझ सब लोककों किसीकी,
करत नहिं पीडना धर्म भरते ॥
मृदु करत हैं सदाहीं दया सब जीवपर,
द्वेष नहिं किसीसें नाहिं लरते ।
धन धान्य घर सकलकों समझते कृष्णका,
नांहिं अभिमानमग भूल परते ॥
प्रियसत्यका वदन सब भोग श्रुतिविहितहीं,
शिष्टता मधुर मृदु तेज धरते ।
गृही तम टारके सकल अमृत सहित,
सकलपरिवारके सहज तरते ॥ ११३ ॥
हो गृही या वनी हरिभजनहीं सार है,
समझले देखले वेद चारे ।
विन भजन नहिं जात है तस जीकी कदा,
करत हैं यतन हैं निपुण भारे ॥
नहिं योग नहिं यज्ञ नहिं दान नहिं कर्मसें,
एक सुख भजनसे कृष्ण हारे ।
जगदीश जब भए वश सकल जग अनुग है,
कवन अब न्यूनता भजन धारे ॥
विन भजन नहिं चित्ततनु खिलत है खिलत यदि,
होत हैं क्षणकमें शुष्क कारे ।
सुख भजनके राहमें आइके देखले,
चित्त क्या खिले मुख क्या उजारे ॥
अब मानले समझ अमृत भया,
वेदभी थकत कहकह पुकारे ।

विन भजनके देख तो कवनको सुख भया,
देख सब लोकको पक्ष टारे ॥ ११४ ॥
इक पक्ष है भजनका अमर सब,
अवरजे पक्ष सब पक्षको सहज करते ।
जड काट सब पुण्यकी तेजको दूर कर,
पापको पुष्ट कर नरक भरते ॥
जे करत हैं पक्ष हरिभजनका कालभी,
देखके तेजको बहुत डरते ।
हरि रहत हैं सदा रखवार निजकृपासें,
भजनको देख दुख पाप जरते ॥
शिव उमा रवि गणपभी पक्षको भजत हैं,
नाम न जिहिं जपतहीं सकल भरते ॥
है भजनका तेजही तेज अमृतजांहिं,
देख तम पाप भ्रम सकल मरते ॥ ११५ ॥

हरिगीतछंदः ।

पूरा चहे यदि नामसें, फल तेज तो लख लीजिये ।
हित सत्य है विश्वास कर, मम वचनमांहीं पतीजिये ॥
सत्पुरुष ध्रुव हरिरूपकी, निन्दा न कबहूँ कीजिये ।
निन्दा बुरी है सकलकी, परदोष लखिये पीजिये ॥
निर्दोष है हरिरूप निश्चय, सकल ठौर विराजता ।
माया गहेहै दोषगुणको, हरिहिं यांहिं प्रकाशता ॥
है नामनामी हरिहिं निन्दा, हरिहिंकी हो जानियें ।
दुखदानहीं है पापकरण, बात हठ तज मानियें ॥
जिम धर्म जावे आपना, निजकथनसें विख्यात है ।
तिम पाप लागे दोष परकी, करत जब यह बात है ॥
सत्पुरुष निन्दा आयुधनयश, धर्म सुख कुल नाशकर ।
दृढ रोक साधन सकलको, दे नरक दुस्तर शापकर ॥

कहिये न नास्तिककों, कभीभी, नामकी महिमा परा ।
खण्डन करेगा दोष होगा, क्रोध होगा तम भरा ॥
शिवकृष्णमें यदि भेद देखें, एककों हो न्यूनता ।
सो पाप दुर्गम कर करे, निजतेजकीभी ऊनता ॥
श्रुति-शास्त्र-देशिक-वचनमें, श्रद्धा नहीं तो मानले ।
सब क्रिया निष्फल होत है, मर भूत हो सच ठान ले ॥
यदि नाम महिमामें विपर्यय, होइ या संशय रहे ।
नहिं सकल फल हो नामका, जिम उदक ऊषरमें बहे ॥
हरिनामके अवलम्बसें श्रुति-विहित सबके तजनसें ।
आगमनिषिद्धाचरणसें, फल हो न पूरा भजनसें ॥
हरि भानु गणप महेश दुर्गा, नाममें समता लखे ।
घटआदि नामनकी न कबहूं, नामफल पूरा दिपे ॥
दश नाममें अपराध इनमें, एकभी यदि जागता ।
मन मलिन हो नहिं तेज सगरा, नामका हूं आजता ॥
जिम मलिन दर्पणमें न रवि हो, सफल तिम मनमलिनमें ।
नहिं नाम जनता तेजका जिम, चन्द्र मलजल चलनमें ॥
हरिनाम जपता तजे कर्म, निषिद्धकों पहचानके ।
नहिं पापकों अवकाश देवे, नामरस ले तानके ॥
जब होत नहिं मल कर्म पाप, न उपजता मन शुद्ध हो ।
फिर नामरविके उदयसें, तम दूर हो जन बुद्ध हो ॥
अमृत कहें किम नाम साधन, मुकुटकी महिमा परा ।
श्रीशेष चिन्तन करतहीं हैं, अबतलक नहिं मन भरा ११६
पढ वेदकों चितब्रह्मगुरुसें, अर्थसहित विचारके ।
जागना ऊषामांहिं उद्यम, राखिये हठ धारके ॥
कर प्रथम हरिगुरुवृद्धचिन्तन, पादरज सिर धारिये ।
अतिप्रेम श्रद्धासहित करिये, वन्दना अघ जारिये ॥
शौचादिकर्म स्नान सन्ध्या, अग्निहोत्रादिक करे ।

पढ वेद गुरुसें मांग आज्ञा, अन्न भिक्षा आहरे ॥
पुनि पाइ आज्ञा अदन कर, गुरुप्रेममें तत्पर रहे ।
नहिं कबहुँ किंचित् दोषकों, गुरुमांहिं तर्क नहिं कहे ॥
पाले सदा गुरुवचनकों, कर जोरके हरिरूप हैं ॥
गुरुकी कृपासें सहजहीं, अतिपापभी सुरभूप हैं ॥
शुभशयनभूमें मुकुरकों, नहिं लखे अञ्जन नहि करे ।
त्रयकाल संध्या तर्पणादिक, कालकों नहिं विस्मरे ॥
पढ वेदकों अधिकार निजसें, कर्म श्रुतिके आचरे ।
हरिभजनकों विश्वास अविरल, प्रेमसें निशदिन भरे ॥
फिर समझ नश्वर पाप दुख, तप झूठ जगकों छोड दे ।
भिक्षाहिं औषध अदन नित, गुरुचरणमें मन जोड दे ॥
श्रवणादि कर लख तत्त्वकों गुरुचरणसेवा सुखभरी ।
हो ब्रह्महीं व्यवहारमें, श्रीकृष्णरति सब सुखकरी ॥
उन्मत्तावत् जडवत् न एको, लिङ्ग नहिं पहचान है ।
नहि भेद देते किसीकों, नहिं जाति आश्रममान है ॥
विद्या न गुणकों प्रकटते, डरते बहुत पहचानसें ।
गुणकथनसें जिम कीर बांधे, जगत् स्वार्थवानसें ॥
नहिं ठौर इकमें रहत यदि है, रहतभी इक ग्राममें ।
निशदिन रहत है कृष्णके, निजरूप युग आराममें ॥
कोई कहे है रङ्क है, कोई कहे है मकर है ।
कोई कहे उन्माद है, कोई कहे है फकर है ॥
नहिं आप बनते एकभी, गुणतीनसें आगे गए ।
निजकृष्ण आत्मसुख अलौकिक, दिखें दशदिशमें छए ॥
नहिं खबर है कछु जगत्की, नहिं देहकी क्या होत है ।
प्रारब्ध जिम तिमहीं भला, यह ज्ञान तृष्णा खोत है ॥
अब कबहुँ तत्त्व समाधि सुखकों, लेत हैं नहिं डोलते ।
माधुरीमूर्त्ति कृष्णकी कर, पान मत्त न बोलते ॥

श्रीकृष्णका सुखनाम कबहूं, जपत हैं सुखसें भेर ।
कबहूं मधुर उपकारकों, कर याद सुखविन्दू झरे ॥
सब योगक्षेम सदाहिं निर्मल, कृष्णजीहीं करत हैं ।
ध्रुव होत पृथिवी पापनाशक, जहां सुखपग धरत हैं ॥
पूरा जन्मफल इनहिने ध्रुव, लिया सब जग जान है ।
अमृत कहे क्या पादपङ्कज, मधुपसमहीं वान है ॥ ११७ ॥
मधुर नाम है भी पतितशोधक, पतितपावन नामफल ।
जप नामकों कर ध्यानकों, संबन्धसें निर्मल सकल ॥
निजगुण निरतिशयसुख, अलौकिकसें अमल जनकों खिचें।
जय कृष्ण लमभ्रम दूर कर, सुख आपहीं मनमें दिपें ॥
जय परमदैशिक सकलदैशिक, आपहीं जनतम हरें ।
जिसने दिये मनसेंहिं अजकों, वेद सचित् सुख करें ॥
जय कल्प-विटपनिदान ईश्वर, सकलदान सदा जगे ।
जिहिं नाम सुनताहिं तापअघ सब, भानु लख जिम तम भगे॥
जे छोड प्रभुकों अवर साधन, करत हैं श्रम भरत हैं।
जब मुख्य साधन गिया फिर क्या, व्यर्थ पच पच मरत हैं॥
जिसने दिये तनुप्राण परम-समर्थ जो सब कछु करें ।
अजआदि सबकों रचें जो, अज कालभी आज्ञा भरें ॥
जो पतितपावन कामदायक, वेद जांका श्वास है ।
जो सकलवपु हो आपमेंहीं, आपवासी वास है ॥
जो सर्ववित् सर्वज्ञ क्षणमें, करें जिसकों जिम चहें ।
अजआदिकों जिम राखते हैं, सहज सबहीं तिम रहें ॥
कालादि जिससें डरें बलि, आहरत हैं कर जोरके ।
जिहिं सिद्धि सबहीं सेवती हैं, अवरसें मुख मोरके ॥
शोधक सकलके मूल जो, मृदुमधुर सुन्दरता भरे ।
परसुख शरण्य भरे कृपाके, भक्तकों निजसम करे ॥
अस प्रभुहिं तज जो आस परकी, करत है अतिमूढ है ।

है पापही क्या कहूं वांको, तापमें आरूढ है ॥
जय प्राणनाथ परेश शेष, सुरेश परसेंभी परे ।
गोविंदगिरिधर चक्रकर, श्रीकृष्ण दामोदर हरे ॥
जय सगुण निर्गुण सकल, जगवपु सकलसें निजसें टरे ।
जिहिं सत्त्वसें माया मृपाहीं, पाल जगको संहरे ॥
जिहिं वेद कहते लजत हैं, जो वचनमें नहिं आत हैं ।
सब मृपाकोंहीं कहत हैं, जितनीहिं श्रुतिजगबात हैं ॥
तव रूप अमन अवच सदा, जहिं जाति गुण नहिं कर्म है ।
नहिं है विशेषण नहिं अखण्ड, सखण्ड वपुभी धर्म है ॥
नहिं चित्त उपलक्षण दिपे, इक शब्दशक्ति विचित्रसें ।
महिमा अपनमें दिपत पर, अरि उदासीनहुँ मित्रसें ॥
अमृत अर्पे ता रूप निज अब, सकल तनु मन वारके ।
प्रभुकी कृपा सुखभरीसें, सब जगत् भ्रम तम टारके॥११८॥
माया त्रिगुण है आपकी, रच पाल जगकों संहरे ।
प्रभुसत्त्वसें साची भई, आज्ञा उलंघन किम करे ॥
है आपकाहीं महान् तासों, जन्यअहमिति आपकी ।
तासों भई तन्मात्र सोभी, आपकी जगवापकी ॥
तासों भए जे भूत सोभी, आपके निजगुणनसें ।
हो चतुर्विधके देह अण्डहुँ, आपकेहीं तननसें ॥
प्रभु आपकाहीं सूत्र वैश्वानर-चिदाभासादि सब ।
सब कर्म गुणभी आपके हैं, जहांतक है जगत् ढब ॥
श्रुतिकर्मभी सब आपके हैं, आपकाही नामजप ।
प्रभु आपकाहीं ध्यान सब है, आपकाहीं सकल तप ॥
यह आपकाहीं मधुर सुखमय, परमसुखकर प्रेम है ।
यह आपकाहीं जन्मका फल, प्रेमके सहनेम है ॥
यह आपकाहीं योग है, सब आपकाहीं अङ्ग है ।
यह आपकेहीं सन्त हैं, सब आपका सत्संग है ॥

यह आपकाहिं विवेक है, ध्रुव आपकाहिं विराग है ।
यह आपकी संपत्ति षट्हुँ, मुमुक्षुता वडभाग है ॥
श्रवणादिभी सब आपके हैं, आपकाहीं ज्ञान है ।
यह आपका तमहरणभी है, आपका विज्ञान है ॥
यह आपके ज्ञानी सकल हैं, अचल विज्ञानी सकल ।
यह आपकी वाणी सकल, पुनि वेद जांका फल अचल ॥
परिछेदत्रयसें शून्य प्रभुका, रूप सहज अखण्ड है ।
सुखसत्यचित् जिसमेंहिं, कल्पित अमित चलब्रह्मण्ड है ॥
अमृत सदा वलिहार प्रभुकी, सुख अलौकिक चालपर ।
क्या मुकुट झोकें लेरहा है, श्यामसुन्दर भालपर ॥ ११९ ॥
जय सुखद प्रेमद वाञ्छितद, सब दान सबहीं पात हैं ।
जे आत हैं कैसेहि हों नहिं, कबहुँ रीते जात हैं ॥
दर खुला रहिता है सदा नहिं, रोक टोक सुनी गई ।
जो धार मनमें द्वार आए, चौगुनी तिनकी भई ॥
सर्वज्ञ हो अब कथन क्या हैं, समझ मनकी करोगे ।
करचुके हो अब शेष क्या, निजभृत्य मन अनुसरोगे ॥
अमृत पुष्पवच अर्पते हैं, आपके पद मृदुलपर ।
जय कृष्ण निजजनमनविहर, निजदान तम भ्रम ताप-
हर ॥ १२० ॥

सोरठा ।

पावन कामद ग्रन्थ, कृष्णामृत तमतापहर ।
कृष्णप्रेम सुखपन्थ, इसमें सह निजफल दिपे ॥ १२१ ॥
पढे सुने जे यांहिं, प्रेमी गुरुसें प्रेमसें ।
सगरे ताप नसाहिं, युगल ब्रह्मसुखकों लखें ॥ १२२ ॥
प्रेम उपज है द्वार, परमपुमर्थस्वरूपहीं ।
जासु महत्त्व अपार, वेदगिरा अजभी कहें ॥ १२३ ॥
पूजे रख मनप्रेम, कल्पविटपसम फल फरे ।

पावे वाञ्छितक्षेम, कृष्णामृत हरिरूपहीं ॥ १२४ ॥
मनमें भयो हुलास, ठाकुरजीकी प्रेरणा ।
नन्दग्राम सुखराम, पावन तट रचना रची ॥ १२५ ॥
भूतभूतरसब्रह्म, संवतमें पूरा भया ।
काटे सबहीं जिह्व, कारणसहित सचेत है ॥ १२६ ॥

दोहा ।

पूज्यपाद परिव्राट्मणि, श्रीपर्वतकैलास ।
कृपामोदविद्याभरे, वन्दों गुरु सुखरास ॥ १२७ ॥
जिहिं पदरज सुखकृपासें, सोते जगे अजान ।
गरलहुँ अमृत हो गए, धन्य गुरू सुखखान ॥ १२८ ॥

इति श्रीपूज्यपादपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिकैलासपर्वतशिष्य-
श्रीस्वाम्यमृतानन्दनिर्मिते श्रीकृष्णामृतग्रन्थे
प्रेमहेतुः कलशश्चतुर्थः ॥

शिवारार्तिका ।

वन्दे श्रुतिसारं वन्दे श्रुतिसारम् भवभव विभव पराभव
भवनं भवभवभावविभवपारम् ॥
सच्चिदखण्डं खण्डनसिद्धिं खण्डनसत्साक्षिणमवधिम् ।
परमानन्द निरुपाधिक सुप्रेम-
विषयमखिलाकारम् ॥ वन्दे० ॥ १ ॥
सकलागोचरमेकमनेकं, जनिमज्जनकाधिष्ठानम् ।
महावाक्यजनिविमलपुण्यफल,
वृत्तिविषयमुद्धर्तारम् ॥ वन्दे० ॥ २ ॥

विश्वविराट्सूत्रतैजससर्वज्ञविशेषामात्रफलम् ।
सर्वोपाधिविवर्तमशेषं शेषं
सदानुमन्तारम् ॥ वन्दे० ॥ ३ ॥

हरिगिरिजाजगणेशादिवसमणिचरजडसुखसत्तास्फूर्तिम् ।
जनयेदिदं कथं मायापीशमृते
भवन्तं स्वाधारम् ॥ वन्दे० ॥ ४ ॥

गणपतिपितरमम्बिकापतिमिव मायेशं मृडममरेशम् ।
सदा निरतिशयकृपा मृदुलता,
पावनता सुखदागारम् ॥ वन्दे० ॥ ५ ॥

चन्द्रशेखरं शम्महेश्वरं फणिविभूषणं तमहरम् ।
परविज्ञानविरागयशःश्री
धर्मैश्वर्यविभर्तारम् ॥ वन्दे० ॥ ६ ॥

कैवल्यदकामदमलमायातिमिरविनाशकरव्यभिधम् ।
चकितमजादिध्येयपदाम्बुज-
मृद्धिसिद्धिसुखकर्तारम् ॥ वन्दे० ॥ ७ ॥

पवनासन्नं जगत्पवित्रं गङ्गाधरमगुणं सगुणम् ।
अमृतकरं परमामृतमेकं,
भक्ततापभवहर्त्तारम् ॥ वन्दे० ॥ ८ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वाम्यमृतानन्दगिरिनिर्मिता
श्रीशिवारार्तिका समाप्ता ॥

अथ टीकानियमसूचनम् ।

"इस गूढार्थप्रकाशिकानाम टीकाके यह नियम हैं की-जिस कलशके जिस छन्दकी टीका कही जावेगी उस कलशका चिन्ह प्रथमका **प्र०** द्वितीयका **द्वि०** तृतीयका **तृ०** चतुर्थका **च०** इन अक्षरोंसें दियाजावेगा, और तिस छन्दकी संख्या लिखी जावेगी, पश्चात् उस छन्दमेंसें जिस शब्दकी टीका अभिमत होवेगी उसको लिखके और जिस छन्दमेंसें बहुत शब्दोंकी टीका करनी होवेगी तहां **इत्यादि०** ऐसे लिखके टीका करी जावेगी, और जहां समग्र छन्दमात्रका तात्पर्य कथन करना होवेगा तहां केवल छन्दकी संख्या मात्र लिखके तात्पर्य कहा जावेगा ॥ इत्यलमधिकेन सर्वज्ञेष्विति शिवम् ॥ इति टीकानियमाः ॥

श्रीगणाधिपतये नमोनमः ।

अथ श्रीगूढार्थप्रकाशिका प्रारभ्यते ।

सोरठा ।

जहां नजैं परिछेद, तीनो मायिक जूठही ।
कहैं जांहिंही वेद, वन्दों अद्वय गिरिधरण ॥ १ ॥

हरिगीत छंदः ।

इस ग्रन्थके कछु देशमें हैं, गूढशब्द मनोहरा ।
तिनके प्रकाशनके लिये, बहुसज्जनोंका मन खरा ॥
इस हेतुसें टीका करत हूं, गूढ-अर्थ-प्रकाशिका ।
अमृत पढैं जे सुने जे, तिनके विवेक हुलासता ॥ २ ॥

प्र०८ "क्या स्वाद है" इत्यादि । इहां क्याशब्द प्रणामके स्वादमें अद्भुतताकों सूचन करे है तिस अद्भुतताका ज्ञापक ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंका जाग्रतसें स्वप्नमें आना है। प्रणमता प्रणाम प्रणमनीय, ध्याता

ध्यान ध्येन, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, प्रमाता प्रमाण प्रमेय, इत्यादि त्रिपुटी-भानको विद्वान् स्वप्नावस्था कहते हैं । अरु ज्ञानी पुरुष अविद्यारूप निद्राकी निवृत्तिद्वारा त्रिपुटीको निवृत्त करके केवल ब्रह्मरूपमें स्थित होनेको जाग्रत् कहते हैं । इस जाग्रत्अवस्थावाले श्रीब्रह्मा सनकादिक नारद वसिष्ठ श्रीव्यासदेव शुकदेव जडभरत श्रीशंकराचार्य आदि पूर्णब्रह्मवेत्ता पुरुषभी श्रीकृष्णमहाराजजीके चरणारविन्दमें प्रणामको करते हैं । अर्थात् तिस प्रणामके लिये उलटे मार्गमें प्रियत्वबुद्धिसें जाग्रत्-अवस्थाकों त्यागके स्वप्नावस्थाकों ग्रहण करते हैं । यद्यपि विद्वान् पुरुषोंकी शरीरयात्राके निर्वाहक व्यवहाररूप स्वप्नमेंभी प्रवृत्ति होती है । तथापि अन्नत्वादि धर्मके अभावसें प्रणाममें अधिक रसकी प्रतीतिके विना प्रवृत्ति संभवे नहीं । इसीप्रकारको आगेभी समझें । सिरनाम अहंकाररूप अस्मिताका है । अन्तःकरण और चेतन इन दोनोके तादात्म्य अध्यासकों अस्मिता कहते हैं । जबतक यह रहती है तबतक सिरभी रहता है । इसी निमित्तसें मरता जन्मता हुआ नानासिरोंकों प्राप्त होता रहता है । जब अस्मिता निवृत्त होजाती है तब सिरआदिके अभावसें केवल ब्रह्मरूप होके स्थित होता है । इहां सिर यह नाम कार्यका कारणमें गौण है । अब श्रीकृष्णमहाराजजीमें जो आकर्षणशक्ति है उसके निरतिशयबलकों देखना चाहिये । जिस शक्तिसें अस्मितासें रहित पुरुषभी आकृष्ट हुये अस्मिताकों ग्रहण करके मैं आपका हूं आपके चरणकमलोंमें प्रणामकों करता हूं इत्यादि व्यवहारकों करते हैं । यह व्यवहारभी श्रीकृष्णमहाराजजीके पादपंकजमें प्रणामादिरसकी अद्भुतताको सूचन करे है । और गतअसु प्राणइन्द्रियोंसें रहित अर्थात् सर्व क्रियासें शून्य अक्रिय ब्रह्मस्वरूपभी श्रीकृष्णमहाराजजीके नामकों निर्विकल्पसमाधिकालमेंभी श्रवण करके वहिर्मुख होके नामीके उपकारकों स्मरण करते हुये अश्रुपातपूर्वक नाममें परमप्यारकों करते हैं । और जो इस पाप दम्भ आलस्य दुःखरूप कलियुगमें कोई कोई पुरुष अपनेमें ब्रह्मवेत्तृत्वके अभिमानमात्रसें अन्ध हुये हमही सर्वरूप हैं । भेदके

अभाव होनेसें हम किसकों प्रणामादि करें ऐसे कहते हैं। और ऐसाही आचरण करते हैं। सो पुरुष खाना पीना जाना आना खण्डन मण्डन इत्यादि व्यवहारमें भेदबुद्धिको इष्ट करते हैं जिनकीं कृपासे ब्रह्मविद्याआदि सर्व पदार्थ प्राप्त होते हैं। तिनके प्रणामादि व्यवहारमें भेदबुद्धिको इष्ट नहीं करते हैं। इसी हेतुसें जाना जाता है ते पुरुष ब्रह्मके अपरोक्षज्ञानसें हीन हैं। क्यूंके जिनकी कृपासें ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है ते भुलानेसेंभी नहीं भूलते हैं। मुख्य गुरु श्रीपरमेश्वरजीही है। तिस तिस आचार्यके हृदयमें निवास करते हुये तिस तिस विद्याके अधिकारी पुरुषकों तिस तिस आचार्यकों प्रेरते हुये तिस तिस विद्याका उपदेश किया करते हैं। इसी हेतुसें शिष्यकी अपेक्षासें आचार्यकों ईश्वररूपसें शास्त्रमें प्रतिपादन किया है। और जो संन्यासीको लक्ष्य करके निःस्वधाकार निःस्वाहाकार शब्द शास्त्रमें कहे हैं सो केवल पितृक्रिया श्राद्धादि तथा देवक्रिया यज्ञादिकी निवृत्तिके लिये कहे हैं। क्यूंके प्रणामादिव्यवहारमें किसी शास्त्रमेंभी स्वाहास्वधाशब्दका योग नहीं कहा है। और जो निर्नमस्कारशब्दभी शास्त्रमें कहा है सो केवल अवधूत संन्यासीकों लक्ष्य करके अवधूतत्वकी रक्षाके लिये कहा है। सगुण निर्गुण उभयानन्द लेनेके लिये अवधूत महात्मा अपनेको छपानेके लिये बाह्य व्यवहारकों नहीं करें किन्तु चित्तसें गुप्त नमस्कारादिकों करें इसमें शास्त्रका तात्पर्य है। और जो हरिभक्ति शमदम आदि जिज्ञासुको ज्ञानके साधन शास्त्रमें कहे हैं ते सब ब्रह्मवेत्ताके स्वभावभूत हो जाते हैं यहभी शास्त्रका वचन है। इससें यह सिद्ध हुआ जे यथार्थ ब्रह्मवेत्ता हैं ते कभी निर्विकल्पसमाधिके सुखको लेते हैं। और कभी बहिर्मुख हुये जिस भेदाभाससें अन्नादनादि व्यवहारको करते हैं तिसी भेदाभाससें श्रीपरमेश्वरजीके ब्रह्मविद्याप्रदान आदि उपकारकों स्मरण करते हुये प्रेमभजनादि सुखको लेते हैं।

ग्रन्थकर्ता अपने शब्दोंके अभिप्रायकी गूढताकों सूचन करते हुये कहते हैं। **हमारी बात** अर्थात् शब्द साधारण वात मात्र नहीं हैं, किन्तु

अतिगूढ हैं इति । इस छन्दमें परशब्द भाषा और संस्कृत भेदसे दो प्रकारका है । संस्कृत परशब्दके उत्कृष्ट असङ्ग भिन्न दैशिक परत्व कालिकपरत्वादि अर्थ हैं । और भाषापरशब्दका परन्तु अर्थ है । इति ॥

प्र० ९ शास्त्रमें शर्मापद ब्राह्मणकों दियागया है । शर्मा नाम हिंसा करनेवालेका है । सो प्राणवियोगानुकूलव्यापाररूप हिंसा तो ब्राह्मणपदके योग्य नहीं किन्तु सर्व अनात्मपदार्थमें मिथ्यात्वबुद्धिरूपहीं हिंसा ब्राह्मणपदके योग्य है । सो हिंसा कोमल तथा मीठी है । इसी हेतुसें सो ब्राह्मण सर्व जगत्कों प्यारा लगता है । इस छन्दमें प्राणनाम सत्ताका है । साहंकारताहीं जीना है । अहंकारकी निवृत्ति मरना है । ब्रह्मरूपसें स्थिति पुनः जीना है । इति ॥

प्र० १३ "आभासिसम" इत्यादि । ईश्वर जीवके स्वरूपमें आचार्योंके मत भिन्न भिन्न हैं । कोई श्रीविद्यारण्यस्वामी आदि आचार्य ब्रह्म और शुद्धसत्वप्रधानमायामें ब्रह्मका आभास और माया इन तीनोंकों ईश्वरपदका वाच्य अर्थ कहते हैं । और श्रीविवरणाचार्यादि कोई मायामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब और माया और ब्रह्म यह तीनों ईश्वरपदका वाच्य अर्थ तथा अविद्यामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब और ब्रह्म तथा अविद्या यह तीनों जीवपदका वाच्य अर्थ कहते हैं । और उक्त दोनों मतमें अविद्याशब्दसें अन्तःकरणकाभी ग्रहण करते हैं । उक्त दोनों मतमें यह भेद है । आभासवादी दर्पणमें मुखाभासको मुखरूपबिम्बसें भिन्न पदार्थ मानते हैं । और प्रतिबिम्बवादी दर्पणके संमुख हुई नेत्रकी रश्मि दर्पणरूप उपाधिके प्रभावसें प्रतिहत होके लौटके ग्रीवास्थमुखकोंही विषय करती हैं । दर्पणमें प्रतिबिम्बका भ्रम है । दर्पणमें बिम्बसें पृथक् प्रतिबिम्ब नहीं है । किन्तु एक ग्रीवास्थमुखमेंहीं दर्पणरूप उपाधिसें बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्वधर्म हैं । तथा कोई एकदेशी मायावच्छिन्नब्रह्म कोई ईश्वरपदका वाच्य अर्थ, तथा अविद्या अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्मको जीवपदका वाच्य अर्थ कहते हैं । ईहां यह विचार है जो सखा होते हैं वे परस्पर समान धर्मवाले होते हैं । सो समान धर्म

दिखलाते हैं। यद्यपि शुद्ध तथा मलिन उपाधिके भेदसें ईश्वर जीवमें सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि असमान धर्म वहुत हैं, तथापि श्रीकृष्णमहाराजजी स्वकीय लक्ष्य अर्थ विम्बरूप ब्रह्मकोंही सदा निरावरण होनेसें अपना स्वरूप समझते हैं। आभास तथा प्रतिविम्बकों श्रीकृष्णकाहीं होनेसं तथा अन्तःकरणावच्छिन्नभी श्रीकृष्णहीं हैं। इस रीतिसें श्रीकृष्णजीकी समताकों प्राप्त हुआ जीव ईश्वरका सखा वेदमें कहा है। इति॥

प्र० १८ **"सुननेसेंभी"** इति। अनेक जन्ममें वैदिक धर्मके आचरणसें जब जीवमें भगवत्प्रीतिके योग्य धर्म उत्पन्न होता है तब प्रथम श्रीभगवत्कों जीवमें अपने मिलापका हेतु अनुराग होता है। पश्चात् जीवकों श्रीभगवत्में अनुराग उपजता है। इति॥ प्र० प्रथम कलशके वीसकें छन्दसें इस कलशके ११९ छन्दतक वियोगकालमें साचे आकृष्टकी जैसी दशा तथा उद्गार होते हैं, सो दिखलाए गए हैं। इति॥

प्र० ३३ **"हैसे"** इस शब्दका अर्थ विद्यमानके सदृश है। है शब्द विद्यमानका वाचक है। और से शब्द उपमाका वाचक है। वियोगकालमें अति क्षीणता तथा वलशून्यता और शारीरिक क्रियाके अभावकों देखके यह विद्यमानकी अर्थात् सत्कीं न्याई प्रतीत होते हैं। वस्तुगत्या इनमें सत्ता कुछभी नहीं है। मृतके तुल्य हैं। ऐसे लोक कहते हैं। इति॥

प्र० ३४ **"सोचनिथारी"** इत्यादि। इसका यह अभिप्राय है जबतक प्रीतिके सर्व धर्मोंसें पूर्ण होके जीव स्थिर नहीं होता है, तबतक श्रीपरमेश्वरजीका प्रादुर्भाव दुर्घट है। परन्तु परम कृपालुताके निमित्तसें अपने भक्तकी वियोगजन्य दुःखरूप दशाको देखके द्रवीभूत हुये श्रीपरमेश्वरजी कब यह पूर्ण दशाकों प्राप्त होके हमारे मिलापके योग्य होवेगा ऐसे चिन्तनको कर रहे हैं। यह कल्पना यद्यपि आकृष्ट कीं है तथापि साची है। यद्यपि श्रीपरमेश्वरजी सर्ववित् तथा सर्वज्ञ हैं,

परंतु प्राकृत पुरुषोंसें प्राकृत व्यवहारकोंभी करते हैं। उक्त पूर्णदशाके कालकोभी जानतेही हैं । इति ॥

प्र० ५१ "भला इति" इस शब्दका केवल वाक्यकी शोभा अर्थ है । इति ॥

प्र० ५२ "मायालौं गति थारी" इति। यद्यपि ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानसेंही मायाका नाश होता है तथापि कालकों जन्य वस्तुमात्रका साधारण कारण होनेसें कालमेंभी मायानाशकी कारणता है। इति ॥

प्र० ५३ त्रेपन आदि तीन छन्दोंमें प्रणयाक्षेप हैं । इति ॥

प्र० ७२ "अपना माने" इत्यादि । श्रीकृष्णमहाराजजी हमकों अपना मानलें इस मनानेमें हमरा कौन बल है । अर्थात् बलात्कारसें अथवा नहीं सर्व मनानेमें हम समर्थ नहीं हैं । और अपना माननेकी योग्यता हमारेमें है । जीवकों अल्पज्ञ होनेसें इसकों हम किसकों परखावेंगे वही सर्वज्ञ जानते हैं । इति ॥

प्र० ९१ बहुत बातसें अनुष्ठान सफलवासें । इति ॥

प्र० ९५ बुलबुलपक्षी वसन्तऋतुमें पुष्पोंमें प्रेमसें स्वशरीरानुसंधानसें शून्य हुआ पकडके पिंजरेमें कैद किया जाता है । हम सर्व ऋतुमेंही कैदमें हैं । इति ॥

इति प्रथमकलशगूढार्थप्रकाशिकाटीका समाप्ता ॥

अथ द्वितीयकलशटीका प्रारभ्यते ॥

द्वि० १ "द्विविध पावनता" इति। एक गिराननकी मलिनताकी निवृत्तिरूप पावनता, दूसरी श्रीकृष्णमिलापके देनेवाले धर्मकी उत्पत्तिरूप पावनता ॥

द्वि० १९ "कुलमयूरमें" इत्यादि । श्रीमुकुटमें मयूरोंके पंख लगनेसें मयूरकुल अपनेकों धन्यवाद देता हुआ कोमलमदसें अर्थात् जो मद पापकों नाश करके धर्मका उत्पादक है, तिस मदसें भररहा हैं । जिन कुलोंके मुकुल श्रीकृष्णमहाराजजीके मुकुटमें विराजते हैं,

तिन कुलोंको शोधक तथा कामद समझके धन्यवाद देते हुये श्रीब्रह्माजी अपना हित समझके तिनका ध्यान करते हैं । और यद्यपि संसार तथा देवताके मणिमोतीसें मुकुटके मणिमोती श्रीपरमेश्वरजीके होनेसें बहुत विलक्षण हैं, तथापि नामकी समतासें उक्त मणिमोतीभी सबके चित्तकों हरते हैं । इसीप्रकार आगेभी समझना । और सूर्यचन्द्रमाजीको मुकुटकी उपमामात्रके देनेसें तेभी जगत्के पूज्य होगये । इति ॥

द्वि० ७७ "कर्म चतुर्विध" इति । नित्य नैमित्तिक काम्य प्रायश्चित्त । नित्यकर्म सन्ध्यादि, नैमित्तिक जातकर्म ग्रहण श्राद्धादि, काम्य ज्योतिष्टोमादि, प्रायश्चित्त पापका नाशक कर्म, सो असाधारण साधारण भेदसे दोप्रकारका है । जो एक पापका नाशक सो असाधारण है और जो हरिभजन विधिपूर्वक गंगास्नानादिक सर्व पापके नाशक है, सो साधारण प्रायश्चित्त हैं । इति ॥

द्वि० ७३ "पद्दे" इति । पद्दा नाम रस्तेका है इति । यदि दो ईश्वर होवें तो एकने चाहा वृष्टि होवे और एकने चाहा नहीं यह दो विरुद्ध संकल्प सिद्ध नहीं होवेंगे । और यदि दोनों ईश्वरोंका सम अर्थात् एक प्रकारकाही सदा संकल्प होता है तो दूसरा ईश्वर मानन निष्फल है । इति ॥

द्वि० ७८ "ब्राह्मणभाग वेद नहि" इत्यादि । इस छन्दका यह तात्पर्य है—जो पुरुष कहते हैं ब्राह्मणभाग वेद नहीं है इसका उत्तर भाग नामसेंही दिया जाता है । भाग नाम हिस्सेका है । जिसकों अङ्गभी कहते है । अब हम पूछते हैं के यह ब्राह्मणरूप भाग किसका भाग है । इस आकांक्षाका पूरक समीपवर्ती होनेसें शीघ्र उपस्थित होके वेदही होता है । इसीकों उपस्थितिकृत लाघव कहते हैं । यदि षष्ठीसमास करके ब्राह्मण नाम द्विजोत्तमका है ऐसा कहें तो ऐसे कथनसें मन्त्रभागमें द्विजोत्तमका अधिकार नहीं, किन्तु अन्यका है यह सिद्ध होवेगा सो विरुद्ध है किन्तु यहां कर्मधारय समास है । इति ॥

द्वि० ८१ "जिनके मति" इत्यादि । चार्वाक कहते हैं के वुद्धिहीन तथा उद्यमहीन पुरुषोंनें वेदकों रचके अपनी आजीविका वनाली है। इस कथनसें उनकों अपने वचनकी असिद्धिरूप व्याघातदोष प्राप्त होता है। क्यूंके जो वेद स्वरके ज्ञान विना पाठसेंभी अति कठिन था, श्रीपरमेश्वरजीकी कृपा विना ब्रह्माआदिकोंको भी अर्थसें दुरूह अतिगुह्य है । उसके कर्त्ता वुद्धि उद्यमहीन पुरुष कैसे होसक्ते हैं। और कोई पुरुष यज्ञमें वैध पशुवलि देनेकों समझके वेदको मांस खानेवाले हिंसाकरनेवाले पुरुषोंका वनाया कहते है । इसका उत्तर यह है उस हिंस्रपुरुषकों यज्ञीय हिंसाको स्वीकार करके अन्य सर्व हिंसाकों "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इस वाक्यसें निषेध करनेमें कौन फल था? क्यूंके जो मांसके खानेवाले यवनाचार्य आदिकोंनें सर्व जीवकी हिंसाकों विहित लिखा हैं, उन आचार्योंके अनुयायी सर्व पुरुष उन आचार्योंकों पूजते हैं। तथा सर्व जीवकी हिंसाकों उत्तम समझते हैं इसीप्रकार वेदका कर्ता मांस खानेवालाभी सर्व जीवकी हिंसाकोंहीं विहित रखता, यज्ञिय हिंसासें भिन्न हिंसाका निषेध क्यूं करता? इससें जानागया के यह उनकी आशंका अविचारसें है। इति ॥

द्वि० ८६ "स्वधाशब्द" इत्यादि । अष्टाध्यायीमें पाणिनीजीनें स्वधाशब्दके संवन्धी पितृशब्दसें चतुर्थी कही है। अर्थात् जो पितृगणकों द्रव्य अर्पण किया जावे सो "पितृभ्यः स्वधा" इस शब्दसें किया जावे सो ऐसा व्यवहार यदि जीते पितृगणमें होता तो परम्परासें किसी देशमें किसी शिष्टकुलमें अवश्य प्रसिद्ध होता, इस प्रसिद्धिके अभावसें तथा मृतपितृगणमेंहीं उक्त व्यवहारकी सर्व देशमें प्रसिद्धिसे और शिष्टाचारसें मृतपितृगणमेंहीं उक्त व्यवहारका प्रमारूप निश्चय होता है। इति ॥

द्वि० ९३ इस छन्दमें श्रीकृष्णमहाराजजीके वियोगमें गोपिकाकी दशाका वर्णन है। रक्तवस्त्र प्रज्वलित अग्निकी तुल्य गलेमें सुवर्णादिके हार मरे हुयोंकी आंतोंके तुल्य प्रतीत होते हैं इत्यादि ऊहा करनी

योग्य है इति ॥ "डरती है" इति। जैसे वंसी वालक आदि वनमें महाराजके साथहीं रहते हैं तैसे हमभी साथहीं रहनेकों चाहती हैं । और जो स्त्रीत्वधर्मसें लज्जा होती है सोभी हमारेकों नहीं, परन्तु वनमें हमारेकों साथ रहनेसें कदाचित् महाराजके व्यवहारमें लज्जाजन्य दुःख नहीं होवे इस निमित्तसें वनमें साथ नहीं जाती हैं । इति ॥

द्वि० ९४ "गृहपाल जिम निजगृह समझ" । इस वाक्यका अग्रिम "दधिआदि चोर" इस वाक्यके साथ अन्वय है । इति ॥

द्वि० ९६ इस छन्दमें गोपी वहुत शब्द दो अर्थवाले कहती है । गोपी अपनी तर्फसें तो महाराजको परमेश्वर अद्वैतरूप तथा अपनेमें अधिक प्रेमकों सूचन करती है । और श्रीयशोदाजीकों उनहीं शब्दोंका इतर अर्थ समझनेसें क्रोध उत्पन्न होता है । इति ॥

द्वि० १०३ "सन्तकृष्ण" इति । कृष्णस्वरूप सन्त अपने आनन्दस्वरूप तथा स्वभावसें सर्वकों सम फलके हेतु है । और मित्रत्व शत्रुत्वरूप अपने धर्मसें पुरुप विपम फलकों प्राप्त होते हैं । इति ॥

द्वि० ११२ शिष्टगृहीत जिन इतिहास पुराणादिकी मूलभूत श्रुति अनुमित होती है तिन इतिहासादिकोंकों अनुमान कहते हैं ॥

इति द्वितीयकलशगूढार्थप्रकाशिकाटीका समाप्ता ॥

अथ तृतीयकलशटीका प्रारभ्यते ॥

तृ० १ "मायावीजका" इति । वीजनाम वीर्यादिका है । तात्पर्य यह है, ईश्वरके शरीररूप विवर्तमें इतर विवर्तकी रचना विना माया साक्षात् कारण है । और महत्तत्त्व अहंकार पञ्चतन्मात्रारूप अपञ्चीकृतभूत पञ्च तथा पञ्चीकृतमहाभूत अन्न वीर्य इनकों क्रमसें विवर्तित करके पश्चात् जीवके शरीररूप विवर्त्तमें कारण होती है, यही जीव ईश्वरके शरीरका भेद है । इति ॥

तृ० ४ "सिद्ध अशक्त" इति। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" यह नामरूपात्मक विश्व सृष्टिसें पूर्व सत् ब्रह्मरूपहीं होती भई ।

इसमें यह शंका होती है के—प्रलयके अव्यवहित उत्तरक्षणमेंही सृष्टिके नहीं होनेमें तथा प्रलयसें वहुत कालमें सृष्टिके होनेमें कौन कारण है ? यदि ईश्वर ईश्वरकी इच्छा काल जीवोंके कर्म इनमेंसें किसीकों कारण कहें सो इसी कलशके दूसरे छन्दमें इनकी कारणता खण्डित है । इससें यह सिद्ध हुआ के ईश्वरादि सिद्ध पदार्थोंसें नियतकालमें सृष्टिका निर्वाह नहीं होसक्ता है । जहां सिद्धपदार्थोंसे निर्वाह नहीं होता तहां जिस रूपसें निर्वाह होवे तिस रूपवाला कोई अन्य पदार्थ मानना पडता है । इसी विचारसें तहां अघटघटनापटीयस्त्वरूपवाला पदार्थ मानना पडता है, तिसीकों माया कहते हैं । इति ॥

तृ० ११ "शब्दादि नाम" इति । अपञ्चीकृतभूत तन्मात्राका शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध यह क्रमसें नाम हैं । यह नाम सफल हैं । यदि यह शब्दादिरूप नहीं तो पञ्चीकृतभूतोंमें शब्दादिक कहांसें आते ? अर्थात् यही पञ्चीकृतभूतोंमें शब्दादिसें परिणत होते हैं । इति ॥

तृ० २२ "सत् तज्ज्ञमति" इति । अखण्डाकार वृत्त्युपलक्षितान्तःकरणोपहितचेतन ज्ञानिशब्दका अर्थ है । तज्ज्ञनाम ज्ञानीका है सो ज्ञानीका स्वरूप जो तादृश चेतन तिससें प्रारब्धकर्मभी सदा निवृत्त हैं । यद्यपि अज्ञानीकेभी सत्स्वरूपमें कर्मका सम्बन्ध नहीं तथापि अज्ञानीकों भ्रमसें अपने स्वरूपमें मैं कर्ता हूं इस प्रकार कर्मका कल्पित संवन्ध प्रतीत होता है । ज्ञानीकों भ्रम है नहीं यही भेद है । इति ॥

तृ० ४६ "हेतुजन्य" इति । हेतु नाम मायाका है । जन्य नाम मायोपहित चेतनके विवर्तका है । इससें यह सिद्ध हुआ—मायोपहित चेतनका जो भूतभौतिक प्रपञ्च विवर्त है तिसमें व्यवहारसत्ता है । और मायोपहित चेतनके विवर्त शुक्ति आदि पदार्थ हैं तिन शुक्ति आदि पदार्थोपहित चेतनका विवर्त जो रजतादि तिनमें प्रतिभाससत्ता है । यद्यपि सुखादि पदार्थोंकों प्रतीतिकालमात्रमेंही सत्तावाले होनेसें प्रातिभासिक नाम मात्र तिनका है, परन्तु मायोपहित चेतनका विवर्त होनेसें सुखादि व्यावहारिकही हैं । इति ॥

तृ० ५१ "पदवृत्तिसें" इति। पदकी शक्ति और लक्षणारूप-वृत्ति। इति॥

तृ० ६७ "समक्षा भानुसें" इति। आकाशादि पांच भूतके मिलनेसें भौतिक प्रपञ्च होता है यह वेदशास्त्रमें तथा विद्वानोंके अनुभवसें प्रसिद्ध है। श्रीसूर्यमहाराजजीकी उत्पत्तिके पश्चात् सूर्यकी किरणद्वारा तेजका पृथिवीके ऊपर आगमननिमित्तसें पांच भूतके मिलनेसें भौतिककी उत्पत्ति हो रही है। और सावयव होनेसें सूर्यभी जन्य पदार्थ है। कदाचित् सूर्यकों केवल तेजरूप कहें सो संभवे नहीं, क्यूंके— पार्थिव पदार्थके मिले विना केवल तेज नेत्रका विषय नहीं हो सकता है। और जलके विना पृथिवी आदिका विलक्षण पिण्डीभाव नहीं हो सकता है। और वायूके विना स्वरूपधारणरूप सत्ताका होना संभवे नहीं। आकाशके विना अवकाश नहीं मिल सकता है। इस रीतिसें पांच तत्त्वके मिलनेसें सूर्यकी उत्पत्ति सिद्ध होवे है। और पांच तत्त्वका स्वतः मिलना संभवे नहीं। क्यूंके पृथिवीमें सबसें अधिक गुरुत्वके होनेसें सर्वभूतके नीचे स्थान है। और पृथिवी दशदिशासें स्वकीयमध्यकी प्रवण है इस निमित्तसें किसी औरकोंभी नहीं गिरती है। पृथिवीके गुरुत्वसें न्यून गुरुत्वके होनेसें जल पृथिवीके ऊपर रहे है, परन्तु पृथिवीकों सछिद्र होनेसें कुछ पृथिवीमें धसा रहता है परन्तु पृथिवीके मध्यतक नहीं पहुंचसकता। और जलसें न्यून गुरुत्व होनेसें वायुका स्थान जलके ऊपर है। और जो नैयायिक वायुमें गुरुत्वकों नहीं मानते हैं। यह उनकी भूल है। क्यूंके जैसे गुरुत्वके अभाववाले तेजके वेगसें वृक्षादिमें क्रिया तथा उनका निर्मूल होना नहीं हो सकता है तैसे यदि वायुमेंभी गुरुत्वका अभाव होता तो वायुसेंभी वृक्षोंका उखाडना आदि नहीं होता। क्यूंके अभिघाताख्य संयोगसेंही एक दूसरेयोग्यमें क्रियाकों उत्पन्न कर सकता है। और गुरुत्वके विना अभिघाताख्य संयोग संभवे नहीं। और जो नैयायिक यह कहें के वायुमें जो पार्थिव परमाणु या त्रसरेणु वायुमें मिले रहते

हैं, सो वृक्षोंको उखाडते हैं । सो भी संभवे नहीं । क्यूंके यदि हम एक बहुत वडा पाषाणभी वृक्षमें मारें तौभी वृक्ष नहीं गिर सकता हैं, तो वायुमें मिले हुये परमाणु या त्रसरेणु वृक्षकों उखाडते हैं यह कथन सर्वथा निर्युक्तिक है । और सर्वथा गुरुत्वका अभाव होनेसें तेजका स्थान वायुसें ऊपर चन्द्रमाके स्थानसें नीचे है उसकों केवल तेज होनेसें दृष्टिका विषय नहीं होता है । जब सूर्यके आकर्षणसें सूर्यकी किरण-द्वारा सूक्ष्म होके पृथिवी तेजके स्थानमें पहुंचती है और अपनी जातिके आकर्षणसें इकट्ठी होके तेजसें मिलती है, तब तेज दृष्टिका विषय होता है । यदि वह पृथिवी अतिरुक्षत्वधर्मसें आकृष्ट हुई कुछ दिन वहां ठहरके चमकती रहती है उसकों लोक शिखावाला तारा कहा करते हैं । और कारणके अभावसें जो आकृष्ट नहीं भया सो तेजसें भास्वर होके नीचे गिरता है उसकों लोक तारा गिरा है ऐसे कहा करते हैं सो अज्ञाततासें कहते हैं । क्यूंके यदि तारे टूटते तो आकाशमें एक ताराभी नहीं रहता और यह पृथिवी आदि भूत अपने स्थानकों त्याग स्वयं दूसरेके स्थानमें नहीं जासकते हैं । और जबतक यह भूत न्यून अधिक भाववाले नहीं होते है, तबतक यह परस्पर मिल नहीं सकते । क्यूंके जब यह अपने स्वरूपपरिमाण गुणसें तुल्य होते हैं, तब यह अपने अपने स्थानके प्रवण होते हैं इसी हेतुसें सम प्रकृतिका स्वरूप नहीं है । केवल वन्ध्यापुत्रके सदृश विकल्पवृत्तिवेद्य है । इस विचारसें यह सिद्ध हुआ जो भिन्न स्थानमें स्थित तेज पृथिवी आदिकों मिलाके सूर्यका उत्पादक है सोही जगत्का कर्ता मायाका स्वामी परमेश्वर यदि यह कहें के चन्द्रमाके स्थानके नीचे जो तेज है उसके सूर्यके सदृश पृथिवी तथा जलके ऊपरकों आकर्षण करनेसें पांच भूतके मिलनेसें सूर्यकी उत्पत्ति होजावेगी सो बने नहीं । क्यूंके पृथिवीके मिलनेके विना केवल तेज ऐसा आकर्षण नहीं कर सकते हैं । अन्यथा प्रतिदिन सूर्य नूतन नूतन उत्पन्न हुआ करें इसप्रकार इस छन्दके प्रथमपादसें संसारका अध्यारोप कहा । दूसरेसें अपवाद कहे है ।

जब विचारसें जगत्कों मायिक देखा तो हम तुम यह वह यह सर्व जगत् बिन्दु नाम शून्यहीं निकला केवल अद्वितीय परमेश्वरहीं शेष रहे । अद्वितीयमें कथन और चाहका अभाव है । इति ॥

तृ० ६९ "ब्राह्मण" इति । यह छन्द अहंकारके प्रकरणमें पडा है । इहां अहंकारपूर्वक कर्मोंका ग्रहण है । इहां ब्राह्मण आदिके कर्मका निरादर नहीं किन्तु अहंकारपूर्वक जो कर्म सो दुःखरूपही होते हैं । अपने ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक होते हैं, और जन्म-मरणकों देते हैं इसमें तात्पर्य है । इति ॥

तृ० ७२ इस छन्दका प्राणायामके निरादरमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु जिज्ञासुकों अक्रियपदमें स्थापनमें तात्पर्य है । ऐसेहीं ७४ छन्दके तात्पर्यकों जाने । इति ॥

तृ० ८२ "द्विविध अविद्या" इति । आवरणविक्षेपरूप द्विविध अविद्या । इति ॥

तृ० ९१ "युगलफल" इति । चित्तशुद्धि ब्रह्मप्राप्तिरूप युगल-फल । इति ॥

तृ० ९४ बुद्धिके बुद्धिरूप जो चेतन तिनसें जब बुद्धिका बाध समानाधिकरणरूप एकत्वका निश्चय हुआ तब बुद्धि कहां दिखती है । अर्थात् कहींभी नहीं दिखती है । इति ॥

तृ० ११२ "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यह मन्त्रवर्ण है । अर्थ यह है—जब शुद्ध जिज्ञासु श्रीहरिगुरुकृपासें एक-त्वकों देखता है तब इसके शोक मोहकी निरतिशय निवृत्ति होती है । तहां (एकोयं घटः) ऐसे एकत्व संख्याके ज्ञानसें शोक मोहकी निवृत्ति संभवे नहीं । तथा (एक ईश्वरः) ऐसे ईश्वरवृत्ति एकत्वके परोक्ष-ज्ञानसें और (अयमेक ईश्वरः) ऐसे अपरोक्ष ज्ञानसेंभी उक्त निवृत्ति नहीं हो सकती है । श्रीअर्जुनजीकों ऐसा अपरोक्ष निश्चय रहाभी तौभी तत्त्वसाक्षात्कारसें विना उक्त निवृत्ति नहीं भई । परिशेषसें

अद्वितीयत्वही एकत्व शब्दका अर्थ है । अद्वितीय आत्मज्ञानसें पश्चात् द्वैतबुद्धिजन्य शोक मोहका सम्भवही नहीं । इति ॥

इति तृतीयकलशगूढार्थप्रकाशिकाटीका समाप्ता ॥

अथ चतुर्थकलशटीका प्रारभ्यते ॥

च० २ "अधिकारिता" इति । प्रेमसें स्वकीय फल ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके अनन्तरभी भजनसुखके अधिकारवाले जन्मकीहीं श्रीपरमेश्वरजीके दरवारमें प्रार्थना करना उचित है । ऐसी दशाकोंही उत्कट प्रेमकी अवधि कहते हैं । इति ॥

च० ७७ "पापआशय आठ" इति । विषयीके संगसें विषयमें राग पुनः इच्छा फिर अभिलाषजन्य संताप विषयप्राप्तिके निरोधकके ऊपर क्रोध समर्थ होवे तो निरोधककी हिंसा असमर्थ होवे तो मोह श्रीपरमेश्वरजीसें विमुखता विषयसुखके संस्कार इन आठोंसें आठ पाप आशय उत्पन्न होते हैं ।

इति चतुर्थकलशगूढार्थप्रकाशिकाटीका समाप्ता ॥

॥ हरिः ओम् तत्सत् श्रीगूढार्थप्रकाशिकाटीका समाप्ता ॥

शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
२	५	जगत	जगते
,,	१८	कर्त्तानकर्त्ता	भीनकर्त्ता
,,	२१	कल्पना	हैंकल्पना
३	२२	दोहा	छंदः
५	९	भरो	भरे
,,	१०	हैं	हैंपरो
,,	१२	वाहका	आहक
७	१२	१८	१९
,,	२१	भाची	अघी
१०	१	अघ	अंध
११	७	रागे	रागो
,,	१३	धोधो	थोथो
१३	१६	जाकर	जागर
१९	१७	हुठ	हठ
२५	१२	तोरहे	तोरेहैं
,,	१३	क्षुभ	शुभ
,,	१४	गाने	जानें
२७	११	भेखेंगे	मेखेंगे
३१	२	ऋणी	ऋपी
,,	३	कतहूं	कतहूंभी
,,	४	बिगरेगो	बिगरेगी
३३	१६	परिये	पारिये
३६	९	वर्ण	वर्प
,,	१६	काकों	वाकों
३७	२१	प्रभावें	प्रभावसें
३८	८	भयो	मयो
४२	१६	कांको	यांको
४३	७	आके	आवै
४४	१५	प्रभा	प्रमा
,,	१६	जाहिं	नहि
,,	२०	नहींहैं	नही
४५	२	जीवकीं	जीवकों
,,	७	डोर	ओर
४७	१	नाश	नाशे
४८	८	करतहैं	करतेहैं
,,	२२	मोह	मोद
५०	१०	देतेहैं	देते
५४	१	नक	नके
,,	२०	दियो	दिपो
५५	१३	दियो	दिपे
६०	१५	भार	मार
६१	७	वरकी	अवरकी
६५	२५	लेक	लके
६८	१५	सिद्धि	सिद्ध
७६	२०	२० पं०	१९ पं०
	१९	१९ पं०	२० पं०
८०	२०	जीवन	जीवने
८४	१५	हम	इम
८७	२४	वदे	वेद
८८	११	घसन	धसन
,,	२७	अतिदढ	दढ
८९	७	समझें	समझेंगे
९०	९	तरें	लरें
९२	१२	अभेद	अमद
९४	११	निरण	निरख
९५	१२	श्रीही	श्रीह्री
,,	१५	रीभोग	रि, भाग
१००	७	भये	भयो

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१०१	२५	वया	क्या
१०३	२०	भयसें	भयेसें
१०४	२१	वित	नित
१०७	१४	अभावभान	अमानमान
११२	१५	करः	कैरः
,,	१९	भक्तवञ्च	भक्तवच
,,	२६	जनयता	जनयिता
,,	,,	पालयता	पालयिता
११३	१	भवोनच	भवानेव
११४	४	प्राण	प्रण
११५	३	अज	ब्रह्मा
१२४	९	ताके	ताकेको
१२६	१६	भीता	जीता
१२९	४	घसता	धसता
,,	१२	विद्यासेंसव	विद्यासें
१३२	२७	२ भोग	
१३३	१२	जांसे	नाशे
१३६	१२	लिये	लिपे
१४४	३	भयो	मयो
१४५	३	सम	सभ
१४७	१०	नहीं	नेंही
१४९	१५	जगका	जगतका
१५१	२५	नहिंकरे	नहिनहिकरे
१५३	८	इमकहे	इमतुमकहे
१५८	७	७ पं०	६ पं०
	६	६ पं०	पं० ७
१६०	११	रूपेजग	रूपजग
,,	१४	भ्रमेंहैं	भ्रमे
	१८	हीलीन	होलीन
१६१	१	थे	जेथे
१६२	११	हुई	हई
१६४	११	शुद्धि	अशुद्धि

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
,,	२०	देखलेनिगमांतसें	पूछलेश्रुतिबुधसकल
१६५	१९	सामका	सोमका
,,	२७	विज्ञानमें	विज्ञनमें
१७१	३	हम	इम
,,	१२	नहिंनाहिं	जहिंनाहिं
१७४	८	भरोगे	मरोगे
,,	२१	कृपाभङ्ग	भीसत्ता
१७६	२०	वातसें	वानसें
,,	२०	रामका	रामकाइम
१७९	३	रोतीथी	रोती
१८२	१४	चीनी	चीनीनहि
१९१	२	१०८	१०९
१९३	४	रीझें	रीझेईश
१९४	१५	सदाचित्	कदाचित्
१९६	७	सुखद	सुखदसुख
१९६	२३	२३ पं०	२२ पं०
	२२	२२ पं०	२३ पं०
१९७	४	करनकों	करनेंकों
,,	२३	भीड	भीड
,,	२६	झूले	भूले
१९८	४	कभी	कसी
१९९	७	मृदु	मृदुल
,,	१२	भीकछु	कभीकछु
,,	१४	दरशमें	दरमें
२००	१८	कहुँ	कहँ
२०४	६	निज	वेद
२०५	२१	लगे	लागे
२०८	२७	कह	कहां
,,	,,	कहीं	कहां
२११	२	वचा	वच
,,	२६	सत्	असत्

पृष्ट.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
२१३	७	धनी	धनीं
२१७	२३	कोंही	कौं
२१९	११	गोत	गोते
२२०	३	६२॥	६२॥ शंकरछंदः
२२२	१३	मनहीं	मनहो
,,	१५	भवकों	मनकों
२२५	१७	दीनता	जगदैन्य
२२६	१४	मलिनता	मलानता
२२९	८	घरघरे	वरधरे
२३१	१९	कछुअ	कछुक
,,	२२	वांधेहीं	वांधे
२३२	६	ठहर	ठहरे
,,	१६	है	हीं
२३४	१३	मोदकी	सुसुखकी
२३७	२६	सोविन	सोविनन
२४०	४	कारण	प्रकरण
,,	१२	धारण	धारणा

पृष्ट.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
,,	२०	धारण	धारणा
२४१	५	धारण	धारणा
२४३	१९	आप	इकआप
२४७	२७	मोद	ज्ञाननहि-मोद
२४८	२०	भजत	भनत
२५२	१२	गृही	योंगृही
,,	१६	कदा	लाख
,,	२६	मानले	मानले मानले
२५३	१२	नामन	नाम
,,	,,	भरते	तरते
,,	१३	जाहिं	जिन्हें
,,	२३	करण	कारण
२५६	१	भेर	भरे
२६४	२५	कोई	कौंही
२६७	१६	मानन	माननां
२६८	२२	स	सें